

शुद्धिपत्र.

| पृष्ठ | पंक्ति | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|-------|--------|---------------------|----------------------------|
| १ | १ | कृत | कृत |
| २ | ८ | सिध्व | सिद्ध |
| ३ | ६ | वर्तमानाः | वर्तमाना |
| ३ | ७ | निर्णीतार्था | निर्णीता अर्था |
| ४ | ११ | कृत | कृतं |
| ४ | ११ | पतेन | पतेन |
| ६ | ८ | स्वर्गफलं | स्वर्गःफलं |
| ६ | १७ | मद्गलं | मद्गलं |
| ७ | २२ | हेतुत्वे सिद्धे | हेतुत्वे स्वीकृते |
| ९ | २४ | धर्मान्वच्छिन्नत्वे | सर्वंधानवच्छिन्नत्वे |
| १० | २१ | कर्तृस्वरूपेश्वर | कर्तृस्वरूपेश्वर |
| ११ | २४ | पीश्वर | पीश्वरे |
| १३ | १७ | इति परेणान्वयः | इति कल्पयन् इति परेणान्वयः |
| १७ | २ | वा कार्थ्यसमवायि | वा समवायि |
| २२ | १८ | दुपेक्षणीयत्व | दुपेक्षितत्व |
| २३ | २५ | प्रत्यक्षसिद्ध एव | सिद्ध एव |
| २५ | ९ | वदूषवान् | वदूषवान् |
| २७ | १३ | तत्काल | तत्काल |
| ३१ | १८ | भिन्नत्वेन | भिन्नत्वेन |

प्रथमत एव ग्राहकीञ्ज्योपकारकारिणा-
मुदाराशयानां नामानि प्रति संख्या च.



१५०) देशाई रतिबालभाई छोदाबाल.

१००) रा. रा. प्रभाशंकरभाई टलपतराम पटगी.

८०) श्री जैनधर्म प्रसारक सभा. भावनगर.

५०) श्री आत्मानन्द सभा. "

८०) शेठ नरोत्तमदास भाणजी.

३०) शेठ चुनीबाल रतनजी.

३०) रा. भास्कररावभाई विठ्ठलदासभाई } मास्तर

२८) शेठ प्रेभचंद्र रतनजी } मोतीचंद्र शंकरचंद्र

१०) रा. बालुभाभाई पयुभाभाई } मारफत

२८) आनदजी पुरुषोत्तम.

२५) दाा हीरालाल अमृतबाल

२०) बोरा चंद्रुबाल पुनमचंद्र. पाटणवाळा.

पञ्चपक्षिग्राहकाणां नामानि विस्तरभयात् लिखितानि.



शुद्धिपत्र.

| पृष्ठ | पंक्ति | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|-------|--------|--------------------|---------------------------|
| १ | १ | कृत | कृत |
| २ | ८ | सिध्व | सिद्ध |
| ३ | ६ | वर्तमानाः | वर्तमाना |
| ३ | ७ | निर्णीतार्था | निर्णीता अर्था |
| ४ | ११ | कृत | कृतं |
| ४ | ११ | एतेन | एतेन |
| ६ | ८ | स्वर्गफलं | स्वर्गःफलं |
| ६ | १७ | मङ्गलं | मङ्गलं |
| ७ | २२ | हेतुत्वे सिद्धे | हेतुत्वे स्वीकृते |
| ९ | २४ | धर्मानवच्छिन्नत्वे | संबन्धानवच्छिन्नत्वे |
| १० | २९ | कर्तृत्वरूपेश्वर | कर्तृस्वरूपेश्वर |
| ११ | २४ | पीश्वर | पीश्वरे |
| १३ | १७ | इति परेणान्वयः | इति कल्पयत इति परेणान्वयः |
| १७ | २ | वा कार्प्यसमवायि | वा समवायि |
| २२ | १८ | दुपेक्षणीयत्व | दुपेक्षितत्व |
| २३ | २५ | प्रत्यक्षसिद्ध एव | सिद्ध एव |
| २५ | ९ | वद्रूपवान् | वद्रूपवान् |
| २७ | १३ | तत्काल | तत्काल |
| ३१ | १८ | भिसत्वेन | भिसत्वेन |

| | | | |
|----|----|--|-----------------------|
| ३४ | ३ | नानुमितिकारण | नानुमितिकारण |
| ३५ | २ | प्रत्येव कारणता | प्रत्येवाकारणता |
| ३७ | १८ | मात्रपदप्रक्षेपापेक्षया | मात्रपदप्रक्षेपवत् |
| ३७ | १९ | लक्षण एव | लक्षणेऽपि |
| ३७ | २१ | तत्तद्भिन्नत्व | तत्तद्भिन्नत्वं |
| ३७ | २१ | सामान्यलक्षण एव | सामान्यलक्षणेऽपि |
| ३८ | ४ | तने | तेन |
| ३८ | ५ | क्वचिस्त्वसमवायि | क्वचित् स्वसमवायि |
| ४२ | ३ | असमवायिकारणत्व | असमवायिकारणत्वं |
| ५० | ७ | मुपन्यस्तम् | मुपन्यस्तम् |
| ५७ | ३ | नदनुमानात् | नदुन्नयनात् |
| ५८ | ५ | व्यंजकजले | व्यंजकजले |
| ५८ | ८ | विषय इति | विषयमाह विषय इति |
| ५८ | २१ | हेतुत्रय एव विषय इतिग्रंथ-हेतुत्रय एव ग्रंथक | |
| ६० | ८ | श्रयोपाधि | श्रयोपाधि |
| ६० | १७ | नालिकेरजलस्या | नालिकेरजलवृत्तिरसस्या |
| ६० | २२ | वाम्ब्लारसस्य | वाम्ब्लारि रसस्य |
| ६१ | ७ | जलस्य | जलस्यैव |
| ६३ | १७ | सूचित | सूचितं |
| ६३ | १९ | नानुद्भूतत्वं | नानुद्भूतत्वं |
| ६८ | ११ | रूपवद्द्रव्याभिघाते | रूपवद्द्रव्याभिघाते |
| ६९ | २१ | कण्ठ | कण्ठ |
| ७१ | १२ | सूर्य | सूर्य |

| | | | |
|-----|----|----------------------|------------------------------------|
| ७२ | २१ | समवायिकारणत्व | सासमवायिकारणत्व |
| ७३ | ६ | ध्वंसेनोप | ध्वंसेनैवोप |
| ७६ | ५ | स्थिविरे | स्थविरे |
| ७६ | १० | स्मारकाभावात् | अनुभावकाभावात् |
| ७७ | १३ | भावत्वरूप | भावरूप |
| ८० | ६ | दुरूप | दुरूप |
| ८१ | २ | तदानन्त्य | संस्कारानन्त्य |
| ८४ | ६ | व्यापारांशः | व्यापारांशः |
| ८९ | ५ | चैतन्यांशोऽपि भ्रमः | चैतन्यांशे भ्रमः |
| ९४ | २३ | मनुभवन्पूत | मनुभवत्वनपूत |
| ९५ | १९ | यां काचि | यां काचि |
| १०२ | २० | तयत्यर्थः | तयत्यर्थः |
| १०३ | ६ | नीलत्वं पृथिवीन्वं च | नीलत्वं पृथिवीपरमाणौ पृथिवीत्वं |
| १०४ | २५ | पर्यवसिस्यत | पर्यवसितं |
| १०७ | ८ | वायौ रूपाभावः | वायौ उद्भूतरूपाभावः |
| १०७ | २३ | स्त्वंभामकतया | स्त्वंभात्मकतया |
| १०८ | १९ | सामान्य प्रत्या | सामान्यं प्रत्या |
| १०८ | २४ | विषयकं | विषयकं |
| १०९ | ३ | कपाले ज्ञातः | कपाले वा ज्ञातः |
| १०९ | ४ | तत्रेदं | अत्रेदं |
| १११ | १५ | ग्रह्यत्वा | ग्राह्यत्वा |
| १११ | २० | मवत्त्व | मत्त्वत्वः |

| | | | |
|-----|----|----------------------------------|---------------------------------------|
| ११२ | १८ | गृहिता | गृहीता |
| ११८ | १५ | साध्यत्वे | साध्यके |
| १२० | १४ | सूचितोः | सूचितो |
| १२६ | १० | मेघानुमित | मेघानुमिते |
| १३० | ६ | तस्य | तस्या |
| १३२ | ८ | ज्ञानस्या | ज्ञानस्य |
| १३२ | १७ | बौद्धव्यः | बौद्धव्यः |
| १३३ | १४ | भिन्नत्वमित्यर्थः | भिन्नत्वमित्यर्थः |
| १३३ | २० | निश्चय | निश्चय |
| १३३ | २५ | देहेहेत्वा | देकहेत्वा |
| १३७ | २ | सायध्कानु | सायध्कानु |
| १३७ | ५ | साविपयक | साविपयक |
| १४१ | १ | सत्प्रविरुद्धसानिपक्षत्वेनाभिमतो | विरुद्धसा |
| १४१ | १ | कालिन | कालीन |
| १४१ | १४ | स्वं हेतुस्तं | स्वं सत्प्रतिपक्षत्वेनाभिमतो हेतुस्तं |
| १४२ | १४ | तदभावे | पदाभावे |
| १४३ | २२ | तद्भाववति | तदभाववति |
| १४३ | २४ | गंगादि | गंगादि |
| १४४ | ११ | तीर विषयतात्र | तीरं विषयतात्र |
| १४५ | १० | द्वनवाच्छिन्नस्यैक | द्वनवाच्छिन्नाया एकस्या |
| १४६ | १३ | नत्वे सनी | नत्वे च सनी |
| १४७ | २४ | न स्य | न स्या |
| १५० | ४ | शक्तेति | शक्येति |

| | | | |
|-----|----|------------------|--------------------|
| १५० | १७ | विनेत्यर्थः | विनेत्यर्थः |
| १५० | २५ | अण्वगोऽपि | एवमग्रेऽपि |
| १५३ | २२ | भेदनापि | भेदेनापि |
| १५८ | ५ | ताप्त्यर्थ | तात्पर्य |
| १५९ | १ | स्थुद्धे | दृष्टुद्धे |
| १५९ | ८ | कत्वन्त्वाभावात् | कत्वाभावात् |
| १५९ | ९ | नाशकं | नाशकत्वं |
| १५९ | ११ | मवधानस्य | मुपधानस्य |
| १५९ | १३ | भ्रमिद्वारा | भ्रमिद्वारा |
| १६० | १० | देकस्यैव | देकस्यैव |
| १६० | १४ | यसंबंधादकेन | यत्संबंधादेकेन |
| १६० | २० | उपलक्षत | उत्पलक्षत . . . |
| १६४ | १२ | सांयोगस्य | संयोगस्य . . . |
| १६५ | १३ | प्रतिघाते | अभिघाते |
| १६५ | १५ | संयोगो | संयोगे |
| १६७ | ८ | नाप्यवाप्य | नाप्यवाप्य . . . |
| १६७ | १७ | द्रव्यादिरूपलंभ | द्रव्यादेरूपलंभ |
| १६७ | २३ | कौमल | कौमल |
| १७६ | २० | परिमाण | परिमाणं |
| १८० | १७ | विभागौ | विभागो |
| १८१ | २३ | संयोगोऽनुयोगी | संयोगानुयोगी . . . |
| १८८ | ५ | ज्ञानभावात् | ज्ञानभावात् . . . |
| १८८ | २४ | दोषाधीनत्वादिति | दोषाधीनस्येति |

| | | | |
|-----|----|-----------------------|-----------------------|
| १८९ | ५ | तकल्पनात् | तकल्पनात् |
| १८९ | २१ | भाषानिवाच्य | भाषानिवाच्य |
| १९१ | १ | विपक्षमाधक | विपक्षे बाधक |
| १९१ | ४ | ततो | ततो |
| १९२ | २२ | यद्गुर्मात्रिच्छिद्ये | यद्गुर्मात्रिच्छिद्ये |
| १९३ | १८ | साध्यवत्त्वेन | साध्यभाववत्त्वेन |
| १९९ | ५ | तेनानांतरीयरु | तेनानांतरीयरु |
| २०० | १ | साध्यत्वप्रकारः | साध्यत्वं प्रकारः |
| २०२ | २२ | जनकवादिनि | जनकत्वादिति |
| २०३ | ८ | वाच्योपख | वाच्योत्पन्न |
| २०४ | ९ | बोधमानो | बोध्यमानो |
| २०४ | २४ | करणं | कारणं |
| २०४ | २४ | प्रसाधनत्व | प्रसाधनत्व |
| २०६ | २ | या तादरूपा | या तादिरूपा |
| २०८ | ७ | नित्यामत्यर्थः | नित्यामित्यर्थः |



सिद्धान्तमुक्तावली ।

चूडामणीकृतविधुर्वलयीकृतवामुक्तिः ।

भवो भवतु भव्याय लीलाताण्डवपण्डितः ॥ १ ॥

अन्वयार्थदीपिका

थियं दिशतु नस्ताक्षाच्छ्रीगणेशस्सनातनः ।

यस्य स्मरणमात्रेण विघ्ना नश्यन्ति दूरतः ॥ १ ॥

श्रीविश्वनाथकृतनिर्मलतर्कमुक्तावल्याः प्रणम्य शिरसा गुरुकाशिनाथन् ।

गोविन्दरामतनयेन विरच्यतेऽसौ वंशीधरेण विबुधेन नवीनटीका ॥ २ ॥

इह हि सर्वविद्वज्जनल्लामभूतः श्रीविश्वनाथपञ्चाननभट्टाचार्यस्त्वनिर्मितकारिकात्रयीं व्याचिख्यासुरारभ्यपरिसमाप्तिप्रतिबन्धकादिघ्ननाशासाधारणकारणमविगीतशिष्टाचारानुमितकर्तव्यताकं महत्त्वचरणमुपाशिक्षयन् महादेवं प्रार्थयते चूडामणीत्यादिना स्वाश्रयावच्छिन्नसंस्मरणेन भवन्वज्रानिमान् भवो नोऽस्माकं भव्याय क्षेमाय भवतु । श्लोके परिशेषं प्रथमैकवचनान्तं न्यप्रथम भवस्यैव विशेषणं । तत्राचूडामणिश्चूडामणिः कृत इति चूडामणीकृतश्चूडामणीकृतो-विधुर्वयेन स तथोक्तः । एवमेवावलयं वलय सपयत इति वलयीकृतो वामुक्तिस्सर्वविशेषो येन स तथोक्तः । लीलाताण्डवपण्डित इत्यस्य लीलाया यत्ताण्डवं नृत्यं तत्र पण्डितोऽभिज्ञ इत्यर्थः । अत्र भवतु भव्यायेत्यन्तेन वाक्यसन्दर्भेण जनितविवक्षितान्वयबोधस्य विशेष्यवाचकभवदाब्दस्य लीलेत्यादिविशेषणवचकपदान्तरान्वयार्थं पुनरनुसन्धानाज्जनितविवक्षितान्वयबोधस्य विशेष्यवाचकपदस्य विशेषणान्तरान्वयार्थं पुनरनुसन्धानत्वलक्षणकस्समाप्तपुनरात्तवनानकः काव्यदोष इति तु न भ्रमितव्यं, यतो लीलेत्यादिविशेषणान्तो किमर्थं विशेषश्चूडामणीकरणं किमर्थं वा वामुक्तेर्वलयीकरणमित्युच्यते। ताकांक्षायां विवक्षितान्वयबोधस्यैवासांभवात् । तथा चाभूपणरहितस्य नृत्यासांभवेन विष्वदीनां चूडामण्याः

निजनिर्मितकारिकावलीमतिसांक्षिप्तचिरन्तनोक्तिभिः ।

विशदीकरवाणि कौतुकात्रनु राजीवदयावशंवदः ॥ २ ॥

सद्रव्या गुणगुम्फिता सृष्टिनां सत्कर्मणां ज्ञापिका

सत्सामान्यविशेषनित्यभिलिताभावप्रकर्षोज्ज्वला ।

विष्णोर्वक्षसि विश्वनाथकृतिना सिद्धान्तमुक्तावली

विन्यस्ता मनसो मुदं वितनुतां सद्युक्तिरेषा चिरम् ॥ ३ ॥

दिकरणमिनिभावः । एवं “ विशेषणं विशेष्येण बहुल ” मितिपाणिनीयसङ्केत-
सिध्दनीलोत्पलमित्यादौ तथैव दर्शनाल्लब्धया जातितद्भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तकहा-
न्दानां मध्ये जातिप्रवृत्तिनिमित्तकस्यैव मुख्यविशेष्यत्वमिति व्युत्पत्त्या योगा-
द्रदुर्बलीयस्त्वमिति न्यायेन च मन्वत्त्वजातिविशिष्टस्यैव वाचको भवशब्द एव
मुख्यविशेष्यो भवति न तु ललित्यादिक इत्यपि द्रष्टव्यं सुहृदिः ॥

संप्रति इतरग्रंथपठनेच्छानिरासपूर्वकप्रकृतग्रंथपठनेच्छारूपाशेष्यावधानाय
द्वितीयश्लोकं निर्वक्ति निजेति निजेन स्वेन निर्मिता रचिता या फारिकाव-
ली तां अति अत्यन्तं संक्षेपः शब्दसंक्षेपो यामु तास्तादृश्यः चिरन्तनानां कणा-
दप्रमृत्तानामुक्तय उक्तिप्रतिपाद्ययुक्तयस्ताभिरहं विशदीकरवाणि प्रकटीकरोर्मन्वर्थः ।
अत्र चिरन्तनेति कथनेन स्वकपोलकल्पनारचितत्वदोषोऽपि निवारितो भवतीति
बोद्धव्यं । ननुशब्दश्चात्रावधारणे कौतुकादनायासादेवोव्यर्थः । राजीवि स्वशिष्ये
या देया तथा वशंवदस्तदर्शीन इत्यर्थः) एतेन स्वस्य ग्रन्थकरणे प्रवृत्तौ निमित्तं
सूचितं । एतेनातिपण्डितेन मया स्वशिष्योपरि दयां कृत्वा कणादादिमूक्षमतर-
मतमवलंब्य स्वनिर्मितकारिकावलीप्रतिपादितपदार्थो एव सुगमतया प्रतिपादिता
इत्यत इयमेवावश्यं पठितव्येत्यपि सूचितं ॥

संप्रति श्रोतृप्रवृत्तिनिमित्तभूतसंबन्धविषयप्रयोजनाधिकारिप्रदर्शनपूर्वक-
मस्य ग्रंथस्य सकलपदार्थनिरूपकत्वं ईश्वरार्पणेन सर्वसाधारण्यं “ यत्करोषीं”-
त्यादिभगवदुक्तेर्मुक्तावलीसदृशाप्रकृतप्रथमभगवत्पर्यणेत स्वस्य निष्कामकर्मकर्तृत्वं
च प्रदर्शयन् तृतीयश्लोकमाह श्रीविश्वनाथः—सद्रव्येति द्रव्यैः पृथिव्यादि-

भिद्युक्ता प्रतिपादकनासम्बन्धेन द्रव्यवतीत्यर्थः । एवं गुणै रूपादिभिरपि गु-
 णिकृता युक्ता । तथा सतां युक्तिसिद्धानामुत्क्षेपणादिकर्मणां त्रापिका बोधि-
 योत्यर्थः । तथा संति विद्यमानानि प्रतिपादकतयेति शेषः, सामान्याविशेष-
 नित्यमित्येतानि यस्यां सा नित्यमित्यितं नित्यसंबन्धः समवय इति यावत्
 अभावस्य प्रकर्षः प्रागभावादिभेदेन बन्धक्षयं तेन उज्ज्वला दीप्ता तस्य
 बोधिकैतियावत् । एषा तत्त्वरूपतया मद्बुद्धौ वर्तमानाः सिद्धान्ता वादिप्रति-
 वादिभ्यां निर्णोतार्था एव युक्ता मौक्तिकसदृशास्तासामावली पङ्क्तिरिव मुक्ता-
 वली । विश्वनाथकृतिना विश्वनाथनाम्ना कविना विष्णोर्नारायणस्य वक्षसि
 वक्षःस्थले विन्यस्ता विशेषणार्पिता (सती) मुकुतिनां पण्डितानां मनसो
 मुद सतोपे चिरं बहुकालं वितनुतां विस्मरपन्थित्यर्थः । युक्तिसत्त्वे एव
 विदुषा मुद्रवतीत्यत आह—समुक्तिः सत्यः परैरवाधिता युक्तयो यस्यां सा
 तयोक्ता यथा मौक्तिकमाला द्रव्यादिपदार्थवती तथा प्रकृतप्रथोऽपीति मुक्ता-
 वलीसादृश्य प्रकृतप्रथस्य । तथाहि—मुक्तावली सद्व्या अनेकविधमण्यादिद्रव्य-
 सहिता गुणेन सूत्रेण गुम्फिता निर्मिता मुकुतिना पुण्यवता यानि संति
 समीचीनानि भगवद्भजनार्दानि कर्मणि तेषां बोधिका । सत्सामान्यं समी-
 चीनां जातिर्विशेषो महत्त्वनिर्मल्यादिस्तान्यां नित्यं अनवरत मिलिता संबद्धा ।
 अभावे तेजोऽभावेऽन्धकारे सति प्रकर्षणोज्ज्वला अर्थप्रकाशिकैतियावत् ।
 विश्वस्य नाथो महाराज एव कृतिः पुण्यवान् तेन विष्णोर्वक्षसि विन्यस्ताऽ-
 र्पिता । समुक्तिः शोभनगुंथनप्रकारा । एतेन यथा शोभनगुंथनप्रकारा मुक्ता-
 वली भवति तथायमपि प्रथं उद्देशलक्षणपरीक्षाद्वारा सम्यगेव रचित इति ध्वनितं ।
 एतत्पर्यायानां कार्यादिपदानामितरथापि व्याख्या दिनकर्या दृश्यते तथापि
 तस्यास्तदोपवेन दिनकरेणैवोपेक्षितत्वात्नेह प्राञ्जयने । यथा मुक्तावली द्रव्यो-
 दिसकलपदार्थवती तथायं प्रथोऽपीति मुक्तावलीसादृश्यं । अत्र मुक्तावलीसादृश्ये-
 प्रतिपादनेन यथा मुक्तावली निर्दोषा भवति तथायं प्रथोऽपीति सूचितम् ।

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

कारिकावली ।

—ॐॐॐॐॐॐ—

नूतनजलधररुचये गोपवधूटीदुकूलचौराय ।

तस्मै कृष्णाय नमः संसारमहीरुहस्य बीजाय ॥१॥

विघ्नविघाताय कृतं मङ्गलं शिष्यशिक्षायै निबध्नाति-नृत-

अत्र द्रव्यादिपदार्थप्रतिपादकत्वप्रदर्शनेन द्रव्यादयो विषया उक्ताः । पदार्थ-
तत्त्वावधारणं च प्रयोजनमर्थान् सूचितं । प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावश्च संबन्धः
पदार्थतत्त्वावधारणकामश्चाधिकातीति ॥

संप्रति स्वसिद्धान्तानुसारेण मङ्गलकरणस्य ग्रन्थादौ तन्निबन्धनस्य च
प्रयोजनं दर्शयति—विघ्नविघातायेति विघ्नः (कार्य) समाप्तिप्रतिबंधको-
ऽदृष्टविशेषः, स च नानाविधस्तस्य विघातो नाशस्तस्मै कृत । एतेन
ग्रन्थादौ मङ्गलकरणप्रयोजनं दर्शितं भवति । मंगं विघ्नं लुनातीति मङ्गलं ।
शिष्यशिक्षायै शिष्याणां या शिक्षा मङ्गलकरणे इच्छा तस्यै तत्संपादनाये-
त्यर्थः । मन्मङ्गलं दृष्ट्वा शिष्या अपि मङ्गलं कुर्षुरित्याकारकेणाभिप्रायेणेति
भावः । निबध्नाति ग्रन्थानुपूर्वकोदौ प्रवेशयति श्रोविश्वनाथः । अत्र गये
“ वि ”पदस्यानर्थक्यशङ्कनं तत्परिहारश्च दिनकार्यो प्रतिपादितो न चेह ग्रंथ-
भूयस्त्वभयान्प्रपञ्च्यते । अत्रैव प्रक्रिया बोध्या—प्रथमतो नास्तिकः शङ्कते
ननु मङ्गलं न कर्तव्यं, निष्कलत्वान्, यथादिविहितजलताडनादिवन् । सैसा-
न्तिकः प्राह—ननु मङ्गले निष्कलत्वमेवासिद्धं । पुनर्नास्तिको वदति—
मङ्गलं निष्कलं, फलविशेषाभावकूटवस्त्वान्, यथाद्विदोषाभावाकूटवत्तत्सामान्या-
भाववद्भवति, यथा नीलर्यानादिसप्तविधघटाभाववद्भूतल घटसामान्याभाववद्भव-
तीति सामान्यन्याया मङ्गले निष्कलत्वमिच्छयेव । ननु मङ्गले विघ्नसंरूपस्य

नेत्यादि, ननु मङ्गलं न विघ्नध्वंसं प्रति न वा समाप्तिं प्रति कारणं
विनापि मङ्गलं नास्तिकादीनां ग्रन्थे निर्विघ्नपरिसमाप्तिदर्शनादिति चेन्न ।
अविगीताशिष्टाचारविषयत्वेन मङ्गलस्य सफलत्वे सिद्धे तत्र च फ-
लजिज्ञासायां संभवति दृष्टफलकत्वे अदृष्टफलकल्पनाया अन्याय्यत्वात्

समाप्तिरूपस्य वा फलस्य विद्यमानत्वात्फलविशेषाभावकूटवत्त्वादिति हेतुः स्व-
रूपासिद्ध इति सैद्धान्तिकवचनं श्रुत्वा नास्तिकः शङ्कते-नन्विति नन्वित्या-
शङ्कायां, मङ्गलं न विघ्नध्वंसं प्रति कारणं, न वा समाप्तिं प्रति कारणं, अत्रा-
नुमानप्रयोगशेथम्—मङ्गलं न विघ्नध्वंसं प्रति कारणं, अन्वयव्यभिचाराद्व्य-
तिरेकव्यभिचाराद्वा, पापाणादिवत् । एवं मङ्गलं न समाप्तिं प्रति कारणं अन्वय-
व्यभिचाराद्व्यतिरेकव्यभिचाराद्वा पापाणादिवदेवेति । अन्वयव्यभिचारश्च कार्या-
भावाधिकरणश्रुतित्वं, व्यतिरेकव्यभिचारश्च च कार्यसमानाधिकरणान्यन्ताभाव-
प्रतियोगित्वं । अत्रान्वयव्यभिचारज्ञानस्य अन्यथासिद्ध्युपस्थापकत्वेन व्यतिरेक-
व्यभिचारज्ञानस्य च कारणताघटकभूतनियमांशप्रदप्रतिबन्धकत्वेन कारण-
त्वज्ञानविघटकत्वमित्यग्रे स्फुटीभविष्यतीति दिक् । व्यतिरेकव्यभिचारमेव प्रक-
टयति—विनापीति । समाप्तिदर्शनात् विघ्नध्वंसपूर्वकसमाप्तिदर्शनादित्यर्थः ।
अविगीतेति अविगीतो ब्रह्मवदनिष्टाजनको यः शिष्टानां फलसाधनताशे
भ्रान्तिशून्यपुरुषाणामाचारः कृतिस्ताद्वैपयत्वात्तद्विधेयत्वादित्यर्थः । तेन
समाप्त्यदिरूपे फले न व्यभिचारः । सफलत्वे सिद्धे अनुमित इत्यर्थः । अत्रानु-
मानप्रकारश्च—मङ्गलं सफलं, अविगीतशिष्टाचाराविषयत्वात्, सत्यभाषणादि-
वत्, अत्र मङ्गले प्रवृत्त्युपयोगितफलत्वं साध्यं, तत्र ब्रह्मवदनिष्ठाननुबन्धि-
त्वरूपमिति बोद्धव्यं । तत्र मङ्गले, फलजिज्ञासायां विशेषतः फलजिज्ञा-
सायां, दृष्टफलकत्वे संभवति साति अदृष्टफलकल्पनाया अन्याय्यत्वात् समा-
प्तिरेव फलं फल्यते इति योजना । अयमाशयः—फल द्विविधं भवति,
दृष्टमदृष्टं च । तत्र दृष्टफलकत्वे संभवति साति अदृष्टफलकल्पनं लोक-
न्यायविरुद्धं, यथा भोजनार्थेः तृणिरूपदृष्टफलकस्य मत्वात् तत्र सर्गादिभ्यः दृ-

उपस्थितत्वाच्च समाप्तिरेव फलं कल्प्यते । इत्थं च यत्र मङ्गलं न दृश्यते तत्रापि जन्मान्तरीयं तत्कल्प्यते, यत्र च सत्यपि मङ्गले समाप्तिर्न दृश्यते तत्र बलवत्तरो विघ्नो विघ्नप्राचुर्यं वा बोध्यं, मनु-

ष्टफलं कल्प्यते । गङ्गास्नानादीनां तु विजातीयदृष्टफलसंभवेनादृष्टफलकल्पनं न्याय्यं । इह च मंगले समाप्तिरूपदृष्टफलस्य सम्भवददृष्टफलकल्पनं न लोकन्यायसिद्ध्यमिति । ननु " स स्वर्गः सर्वप्रत्यविशीष्टत्वादिति " जैमिनीयसूत्रेण सफलस्य यस्य विश्वजिदादियागस्य किञ्चिन्फलं न प्रमाणसिद्धं भवेत्तस्य स्वर्गफलं न्यायात्मिकं भवतीति सिद्धान्तितं तद्देहापि कथं न स्वर्ग एव फलं कल्प्यत इत्यत आह-उपस्थितत्वादिति ग्रंथादौ प्रवृत्तपुरुषकामनाविषयत्वेन समाप्तेः परिशेषानुमाने प्रवर्तमानस्य उपस्थितत्वादित्यर्थः, समाप्तिरेव फलं कल्प्यते अनुमान्यते परिशेषानुमानविषयीक्रियत इत्यर्थः । अनुमानस्वरूपं च-मङ्गले समाप्तिफलकं, समान्यन्याफलकत्वे सति सफलत्वात्, यद्यदन्याफलकत्वे सति मफलं तत्तत्फलकं, यथा स्वर्गन्याफलकत्वे सति सफलो ज्योतिषोमः स्वर्गफलक इति । एतदुक्षणं च प्रसक्तप्रतिषेधे अन्यत्राप्रसङ्गाच्छिष्यमाणे मप्रत्ययः परिशेषानुमानानुमानमिति । पूर्वोक्तव्यतिरेकव्यभिचारं निवारयति इत्थं चेति मङ्गलस्य समाप्तिहेतुत्वे सिद्धे च, यत्र नास्तिकादिप्रथेषु सांयामपि समाप्तौ गङ्गल न दृश्यते, तत्रापि नास्तिकादिप्रथेष्वपि जन्मान्तरीयं ननु मङ्गलं कल्प्यते अनुमान्यते कार्यरूपसमाप्तेरिति शेषः तत्स्वरूपं च नास्तिकप्रथः मङ्गलवान्, नमासिमत्वात्, भारतादिवत्संप्रत्ययव्यभिचारं निरस्यति-यत्र चेति यत्र च कादम्बर्यादौ च । तत्र कादम्बर्यादौ । बलवत्तरत्वेरूपवैजात्यकल्पने गौरवादाह । विघ्नप्राचुर्यं चेति । ननु तथापि कादम्बर्यादौ कुतो न विघ्नघस इत्यत आह-प्रचुरस्येति अस्य मङ्गलस्य बलवत्तरत्वेनविघ्ननिवारणे बलवत्तरादिविघ्ननिवारणे कारणत्वात्, तेन प्रचुरस्यापि संप्रहः । वस्तुतस्तु बलवत्तरत्वरूपवैजात्यकल्पने गौरवात्तरपक्षस्य पूर्वं अन्वकृतैवोपक्षितत्वेनात्र बलवत्तरशब्दस्य प्राचुर्यं एव तात्पर्यमिति सुविचारणीयं सुदृष्टिः ।

रस्यास्यैव बलवत्तरविघ्ननिरोकरणकारणत्वं, विघ्नध्वंसस्तु मङ्गलस्य
द्वारमित्याहुः प्राञ्चः ॥ नव्यास्तु मङ्गलस्य विघ्नध्वंस एव फलं
समाप्तिस्तु बुद्धिप्रतिभादिकारणकलापत् । न चैवं स्वतःसिद्धविघ्नविरह-
वता कृतस्य मङ्गलस्य निष्फलत्वापत्तिरिति वाच्यम् । इष्टापत्तेः,

तथा च कादम्बर्यादावपि याकिञ्चिद्विघ्नध्वंसस्तु जात एव, समाप्त्यभावरतु प्रति-
बन्धकससर्गाभावविधया यावद्विघ्नाभावस्यापि समाप्तिहेतुत्वेन तत्र मङ्गलस-
त्त्वेऽपि यात्रद्विघ्नाभावस्वरूपकारणान्तरासन्वदेवेति नान्वयव्यभिचारोऽस्तीति भावः ।
अत्र च केचित् विघ्नसमसस्याकमंगलत्वेन नाशकतया न तत्र विघ्ननाश
इत्यादि व्याख्यान्ति, तस्य च यथा सटोपत्वं तथाप्यत्र स्वयमेवात्रसेयं
महद्भिः, नैह प्रपञ्चयते, ग्रन्थभूयस्त्वभवादिति । ननु शब्दादिरूप-
मङ्गलस्य तृतीयादिक्षणे नाशसमक्षेध चिरकालसाध्यत्वात् व्यवहित-
योस्तयोः कथं कार्यकारणभाव इत्यत्र आह—विघ्नध्वंसस्त्विति स्वप्रतियोगि-
चरमवर्णानुकूलकृतिमत्त्वस्मन्बन्धेनामनि जायमाना समाप्तिं प्रति स्वजन्यवि-
घ्नध्वंसवत्त्वसबन्धेन मङ्गलं कारणमित्यर्थः । तथा चैतस्मन्बन्धेन काटान्तरेपि
मङ्गलसत्त्वान्न मङ्गलस्य तृतीयादिक्षणे नाशसत्त्वेऽपि क्षतिरिति भावः । इत्याहुः
प्राञ्चः आहुरित्यस्वरससूचनाय, तथाहि-भोगादिजन्यविघ्नध्वंसपूर्वकसमाप्तौ क्लृप्त-
नियतपूर्ववृत्तिकेन ध्वंसेनैव मङ्गलस्थल्यसमाप्तेरपि सिद्धौ मङ्गलस्यान्यथासिद्धत्व-
मित्यन्यत्र विस्तरः । संप्रति चिन्तामणिहृता मतमाह—नव्यास्त्विति वि-
घ्नध्वंस एव फलं न तु समाप्तिरित्येवकारार्थः, विघ्नध्वंसमुद्दिश्यैव मङ्गलकरण-
मिति भावः । ननु समाप्तिस्तर्ह्यकास्मिन्की स्यादत आह—समाप्तिस्त्विति बुद्धि-
ज्ञानं, प्रतिभा तद्विशेषः कल्पनेति यावत्, आदिपदेन विघ्नान्यन्ताभावादीनां
परिग्रहः । न चैवमिति एवं मंगलस्य विघ्नध्वंसहेतुत्वे सिद्धे स्वतस्सिद्धवि-
घ्नविरहवता विघ्नान्यन्ताभाववत्तेः, पुरुषेण कृतस्य मङ्गलस्य निष्फलत्वा-
पत्तिरिति न च वाच्यं, इष्टापत्तेः, अर्थात् येनमापत्तिर्भवता दीयते नेयमा-
पत्तिः किन्तुऽस्माकमिष्टमव । ननु तस्य निष्फलत्वे प्रवृत्तिरेव कथमत आह—

विघ्नशङ्कया तदाचरणात् । तथैव शिष्टाचारात् । न च तस्य निष्फल-
त्वे तद्बोधकवेदाप्रामाण्यापाप्तिरिति वाच्यं, सति विघ्ने तन्नाशस्यैव
वेदबोधितत्वात् । अत एव पापभ्रमेण कृतस्य प्रायश्चित्तस्य निष्फलत्वेऽपि
न तद्बोधकवेदाप्रामाण्यम् । मङ्गलं तु (च) विघ्नध्वंसविशेषे कारणं विघ्न-

विघ्नशङ्कयेति संशयनिश्चयसाधारणविघ्नज्ञानमेव प्रयत्नकामितिभावः । तदा-
चरणात् मङ्गलाचरणादित्यर्थः । ननु विघ्नसंशये प्रवृत्तिरेवासम्भविनी, नहि
सन्दिग्धं कर्म कुर्वन्ति शिष्टा अत आह-तथैवेति, शिष्टाचारात् मङ्गल-
इतिशेषः । यद्यप्यन्यत्रिये शिष्टानां संशयात्प्रवृत्तिर्न दृष्टचरी तथापि
मङ्गले संशयनिश्चयसाधारणविघ्नज्ञानादेव कृपिवलानां कृप्यादाविव
शिष्टप्रवृत्तिरितिभावः। ननु स्वतस्सिद्धविघ्नविरहवत्पुरुषानुष्ठितमङ्गलस्थलेऽन्वयव्य-
भिचारेण विघ्नध्वंसं प्रति मङ्गलस्य कारणता प्रापिता, बाधितार्थबोधकत्वाच्च मङ्गल-
विघ्नध्वंसयोः कार्यकारणभावबोधकवेदस्याप्रामाण्यं स्यादत आह-न च तस्येति
तस्य स्वतःसिद्धविघ्नविरहवत्पुरुषानुष्ठितमङ्गलस्य निष्फलत्वे सति तद्बोधकवेदाप्रा-
माण्यापाप्तिः मङ्गलविघ्नध्वंसयोः कार्यकारणभावबोधकवेदस्याप्रामाण्यापाप्तिरित्यर्थः
। सतीति विघ्ने सस्यैव तन्नाशस्य विघ्ननाशस्य वेदबोधितत्वात् । यथेतरमा
मध्यभावेन केवलदण्डादृष्टानुत्पत्तावपि स्वरूपयोग्यत्वम्कारणतामादायारण्यस्थ-
दण्डसाधारणस्य दण्डो घटकारणमिति दण्डे घटकारणताबोधकत्वव्यवहारस्य
नाप्रामाण्यं, तथेहापि च विघ्नम्कारणान्तराभावेन विघ्नध्वंसानुदयेऽपि स्वरूप-
योग्यत्वरूपकारणताया मङ्गले सत्त्वेनावाधान कारणताबोधकवेदस्याप्रामाण्यमिति
भावः । स्वरूपयोग्यत्वरूपकारणतावैविध्यस्य च तत्त्वमग्रे स्फुटी-
भविव्यति । तत्र दृष्टान्तमाह अत एवेति नाशं प्रति प्रतियोगिनः कारणत्वादेव ।
न तद्बोधकवेदाप्रामाण्यमिति प्रायश्चित्तस्य पापनाशकत्वबोधकवेदस्य ना-
प्रामाण्यमित्यर्थः । ननु मङ्गलं न विघ्नध्वंसे कारणं विनायकत्वपाठादिजन्य-
विघ्नध्वंसे व्यभिचारादत आह-मङ्गलं चेति । यद्यपि मङ्गलुनातीति व्युत्पत्त्या
विघ्ननाशकत्वासाक्षर्यैव मङ्गलपदवाच्यत्वं प्रतीयते - तथापि शान्तिपाशाख्यरूपविघ्न-

ध्वंसविशेषे च विनायकस्तवपाठादि । कचिच्च विघ्नात्यन्ताभाव एव समाप्तिसाधनं प्रतिबन्धकसंसर्गाभावस्यैव कार्यजनकत्वात् ।

नाशके एव शिष्टाना मङ्गलशब्दप्रवृत्तिर्दृश्यते, अतस्तत्रैव मङ्गलपदस्य हृदित्वेन स्तवपाठस्य च कण्ठसाल्प्रायविघ्नसंयोगमङ्गलस्य न तथात्वमिति बोध्यम् । विनायकस्तवपाठादिरित्यादिना भोगादिपरिग्रहः । तथा चेद पर्यवसितं—विजातीयविघ्नत्वंसं प्रति मङ्गलं कारणं, विजातीयविघ्नत्वंसं प्रति च गणेशस्तवपाठादिरिति । संग्रह्याहुरित्यनेन प्राचीनमते सूचितामन्यथासिद्धिं प्रकटयति—**कचिच्चेति** स्वतःसिद्धविघ्नविरहस्थले विघ्नान्यन्ताभाव एव समाप्तिसाधनं समाप्त्यव्यवहितपूर्ववर्तितया विघ्नान्यन्ताभाव एव निश्चितः, न तु विघ्नध्वंसादिरित्येवकारार्थः । तथा च तेनैव मङ्गलस्थलीयसमामेरपि सम्भवेन सर्वत्र विघ्नान्यन्ताभाव एव समाप्तिसाधनं मङ्गलविघ्नध्वंसयोगेन समाप्त्यव्यवहितपूर्ववर्तितया विघ्नान्यन्ताभाव एव निश्चितः, न तु विघ्नध्वंसादिरित्येवकारार्थः । तथा च तेनैव मङ्गलस्थलीयसमामेरपि सम्भवेन सर्वत्र विघ्नान्यन्ताभाव एव समाप्तिसाधनं मङ्गलविघ्नध्वंसयोगेन समाप्त्यव्यवहितपूर्ववर्तितया विघ्नान्यन्ताभाव एव निश्चितः, न तु विघ्नध्वंसादिरित्येवकारार्थः । ननु प्रतिबन्धकसंसर्गाभावेत्येवैव लाघवात्कारणत्वमस्त्वत आह—**प्रतिबन्धकेति** प्रतिबन्धकतावच्छेदकसंसर्गावच्छिन्नप्रतियोगिताकप्रतिबन्धकाभावस्यैव कार्यजनकत्वादिन्यर्थः । अयमाशयः—यदि सामान्यतः प्रतिबन्धकसंसर्गाभावस्य कारणत्वं स्यात्तदा प्रतिबन्धकसत्त्वेऽपि संबन्धन्तरावच्छिन्नप्रतियोगिताकप्रतिबन्धकाभावस्यापि सत्त्वेन सर्वत्र कार्योत्पन्नप्रसंगः स्यात्, यथा प्रकृते समवायेनात्मनि विघ्नसत्त्वदशायांमपि कालिकादिसंबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकविघ्नभावस्यापि सत्त्वेन समाप्त्यपत्तिः, अतो येन संबन्धेन वर्तमाना विघ्नाः कार्यं विधदयन्ति स संबन्धः प्रतिबन्धकतावच्छेदकसंबन्धः, तत्संबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकप्रतिबन्धकाभावस्यैव कार्यजनकत्वं वाच्यं । प्रकृते च तादृशः संबन्धः समवायः । तथा च समवायसंबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकविघ्नभावः समाप्तिकारणमिति स्थितं । तादृशोऽभावश्च विघ्नान्यन्ताभाव एव, अन्योन्याभावप्रतियोगितायास्तादात्म्यसंबन्धावच्छिन्नत्वेन ध्वंसादिप्रतियोगितायाश्च किञ्चिद्गर्मान्वावच्छिन्नत्वेनैव सिद्धान्तितत्वात् । यद्यपि प्राचां मते ध्वंसप्रागभावयोरप्युत्तरकालपूर्वकालावेव प्रतियोगितावच्छेदकसंबन्धावित्यादिकं

इत्थं च नास्तिकादीनां ग्रन्थेषु जन्मान्तरीयमङ्गलजन्यदुरितध्वंसः, स्वतः-
सिद्धविघ्नात्यन्ताभावो वास्तीति न व्यभिचार इत्याहुः ॥ संसारेति ।
संसार एव महीरहो ब्रह्मस्तस्य बीजाय निमित्तकारणापेक्ष्यः । एतेन
ईश्वरे प्रमाणमपि दर्शितं भवति । तथाहि यथा घटादिकार्यं कर्तृजन्यं
तथा सित्यङ्कुरादिकमपि । न च तत्कर्तृत्वमस्मदादीनां सभवतीत्यत-
स्तत्कर्तृत्वेनेश्वरसिद्धिः । न च शरीराजन्यत्वेन कर्त्रजन्यत्वसाधनेन स-

दीधित्याशय प्रकृत्यद्विर्जगदीशादिभि प्रतिपादित, तथापि ममायसगन्धाप
च्छिन्नप्रतियोगिता तु सर्वेषां मते अत्यन्ताभावरथैरेति तत्त्वम् । इत्थं चेति
विघ्नात्यन्ताभावरथ समाप्तिहेतुत्वे सिद्धे चैन्यर्थ । जन्मान्तरीयमङ्गलजन्यदु-
रितध्वंसः दुरितघ्नसमामग्रीप्रयुक्तात्यन्ताभाव इत्यर्थ । दुरितघ्नसकल्पने
तज्जनकीभूतमङ्गलकल्पने च गौरवादाह—स्वतःसिद्धेति । न व्यभिचार
नास्तिकादिग्रन्थेष्विति शेष । मूले नूतनेति नूतनधासो जलपरस्तस्य रुचिरिय
रुचिर्यस्य स तस्मै । गोपेति गोपाना वपुष्टयो नवीनविराहिता स्त्रियस्तामा
दुकूलानि तेषां चौराय । एतेन भगवत भक्तगस्य सूचिन । अधना गा
पृथिवीं पातीति गोपा राजानो मुधिष्ठिरादयस्तेषां वपुष्टय द्रौपद्यादयस्तामा
दुकूलानि तेषां चौराय दात्रे इत्यर्थ । चुरधातोर्दानार्थकस्यापि दृष्टत्वात् ।
तस्मै सकलजनप्रमिदाय कृष्णाय परब्रह्मणे नमः । ननु कृष्णसत्त्वे किं
मानमत आह—संसारेति संसारस्य महीरह इति पशूतत्पुरुषभ्रम वास्ये-
तुमाह मुक्ताग्र्या—संसार एवेति । बीजपदस्य लोके समनायिकारणपरवा
दाह—निमित्तकारणायेति । एतेनेति संसारमहीरहस्य बीजोयेति कथनेन ।
प्रमाणमनुमानरूप प्रमाणमित्यर्थ । अनुमानस्वरूप तु—क्षित्यङ्कुरादिक
कार्यं कर्तृजन्य, कार्यत्वात्, घटादिति । अत्र पक्षताप्येदेक कार्य-
मेवेति बोद्धव्यमन्यती, नेह प्रपञ्च्यते, प्रायेणार्थमात्रप्रदर्शनपरत्वादेतत्प्रयत्नस्य ।
तत्कर्तृत्वमिति क्षित्यङ्कुरादिकर्तृत्वमित्यर्थ । तत्कर्तृत्वेनेति क्षित्यङ्कुरा
दिकर्तृत्वेन । ईश्वरसिद्धिः जगत्कर्तृत्वरूपेश्वरसिद्धिरित्यर्थ । अस्मिन्त्रये

सप्रतिपक्ष इति वाच्यम्, अपयोजकत्वात् । मम तु कर्तृत्वेन कार्य-
त्वेन कार्यकारणभाव एव अनुकूलतर्कः । “ यावाभूमी जनपन्देव
सुकः ” “ विश्वस्य कर्ना भुवनस्य गोप्ता ” इत्यादय आगमा अ-
प्यनुसंधेयाः ॥ १ ॥

पदार्थान्विभजते—

अधिकं तु कुतुमाडल्यादावस्मत्कृतजगाकर्तृत्वमंडने वाच्यस्यम् । न चेति
कर्त्रजन्यत्वसाधकोन शरीराजन्यत्वेन हेतुना सप्रतिपक्ष इति न च वाच्य-
मिति योजना । अपयोजकत्वः—साध्यभावसाधकं हेत्वन्तर यस्य भवति स
हेतुः सप्रतिपक्षित इत्युच्यते । प्रकृते च सिद्धान्तिनां साध्यं कर्तृजन्यत्वं
तस्याभावः कर्त्रजन्यत्व तसाधको हेतुः शरीराजन्यत्वमिति सिद्धान्तिनां
कार्यन्वरूपो हेतुः सप्रतिपक्षितः इति । वादिप्रयुक्तानुमानस्वरूपं तु—
क्षित्यङ्कुरादिकं कर्त्रजन्यं शरीराजन्यत्वादकाशादिवदिति । अपयोजकत्वा-
दिति अनुकूलतर्कभावादित्यर्थः । इदमत्र हृदय—यदि कदाचिद्धेतो व्यभिचार-
शङ्का भवेत्तदा सा विपक्षे बाधकतर्कादपनेया भवति, यथा नन्वस्तु धूमो
मास्तु वह्निरित्याशङ्का यदि स्यात्तदा यदि वह्निरिहियपि धूमो भवेत्तदा
वह्निधूमयोः कार्यकारणभावोऽपि न स्यादिति तर्केण निवर्तत इत्यपे तर्कः
क्वचिच्छङ्कानिवर्तक इत्यत्र स्फुटोभविष्यति, एवं यद्यत्रापि तत्रानुमाने अस्तु
शरीराजन्यत्वं मास्तु कर्त्रजन्यत्वमित्याशङ्का भवेत्तदात्रापि विपक्षे बाधकतर्क-
स्यापेक्षा, तस्य चाभावात्तत्रानुमानं व्यभिचारपिशाचप्रवेशकलङ्कहतश्रीकामिति
नास्मदनुमानदूषणायालं सम्भवतीति । ननु सिद्धान्तिनामनुमानेऽपि स एव
दोषोऽन आह—मम त्विति ममानुमाने तु यदि कार्यत्वं कर्तृजन्यत्वं विनापि
भवेत्तदा कर्तृत्वेन कार्यत्वेन कार्यकारणभावोऽपि न स्यादित्यनुकूलतर्कसत्त्वेन
निष्कलङ्कानुमानसिद्ध एव त्रिभुवनभवनकर्ता भगवानन्तर्यामिश्च इत्यर्थः । एवं
प्रोक्तानुमानेनेश्वरसिद्धौ तदुचरितत्वेन वेदस्यापि प्रामाण्यनिश्चयाद्देशोऽपीश्वर
प्रमाणमन आह—शोवेत्यादि ॥ १ ॥

द्रव्यं गुणस्तथा कर्म सामान्यं साविशेषकम् ।

समवायस्तथाऽभावः पदार्थाः सप्त कीर्तिताः ॥२॥

अत्र सप्तमस्याभावत्वकथनादेव पण्णां भावत्वं प्राप्तं तेन भाव-
त्वेन पृथगुपन्यासो न कृतः । एते च पदार्था वैशेषिके प्रसिद्धा
नैयायिकानामप्यविद्वद्भाः । प्रतिपादितं चैवमेव भाष्ये । अत एवोप-

मले द्रव्यं गुण इति कर्मणः संयोगातिरिक्तत्वं नास्तीति भूषणका-
रमतनिरासाय तथेत्युक्तं, यथा द्रव्यादयः पदार्था युक्तिमिद्वास्तथा कर्मर्पाति
तदर्थः । एवमभावस्याधिकरणातिरिक्तत्वं नास्तीति भीमांसकमतनिरासाय
पुनस्तथेत्युक्तं । युक्तिरुद्यमे वक्ष्यते । मया पदार्था निरूप्यन्ते, कथंभूताः ?
ये कणादादिभिः सप्त कीर्तिता इति चतुर्थपादस्यार्थः । अत्र पदस्यार्थाः
पदार्था इति व्युत्पत्त्या वाच्यत्वं पदार्थसामान्यलक्षणमिति सूचितं बोद्धव्यं
मुक्तावल्यां पदार्थान् विभजत इति परस्परास्मानाविकरणव्याप्यधर्मपुर-
स्कारेण यावतां सामान्यवतां प्रतिपादनं विभागः । तथा चैतद्वाक्यस्य
विभागपरतया कणादादिभिर्गुणैर्द्रव्यत्वादिस्वरूपतयैव विभागकर्णार्थितेभ्योऽ-
न्ये पदार्था नैव मन्ति, किन्तु नम एवेति सुविचारणीयम् । ननु ग्रन्था-
न्तरेषु—“ पदार्थो द्विविधो भावोऽभावश्च, तत्र भावः पञ्चविधो द्रव्यादिः,
अभावस्तु चतुर्विधः ” इति रीत्या पदार्था निरूपितास्तर्थाव भवतापि कथं
न निरूपिताः ? अत आह—सप्तमस्येति । भावश्च प्रथम द्रव्यादयः पद्
भागः अभावश्चाममानाविकरणधर्मवरादित्यनुमानाद्भावश्च प्राप्तमित्यर्थः ।
अभावश्चव्यधिकरणधर्मवत्त्वं च विभागवाक्यादेव लब्धमिति ज्ञेयम् । तेन
प्राप्तत्वेन पृथगुपन्यासो भावत्वेनोपन्यासः । ननु न्यायमते—“ प्रमाण-
प्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तनिर्द्धान्तावयवतर्कनिर्णयवाद्दजस्यधितण्डाहेतुभाससंछ-
लज्ञानिनिग्रहस्थानानां नररजानान्निःश्रेयमाधिगमः ” इति गौतमसूत्रेण षोड-
शमदार्थनिरूपणाद्भवत्कृतविभागोऽनुचितः अत आह—एते चेति । भाष्यम-
सस्तिमाह—प्रतिपादितमिति । एवमेवेति द्रव्यादयः सप्तैव पदार्थाः

मानचिन्तामणौ सप्तपदार्थभिन्नतया शक्तिसादृश्यादीनामतिरिक्तपदार्थ-
त्वमाशङ्कितम् । ननु कथमेते एव पदार्थाः शक्तिसादृश्यादीनामप्य-
तिरिक्तपदार्थत्वात् । तथाहि । मण्यादिसमबहितेन वह्निना दाहो न
जन्यते तच्छून्येन तु जन्यते । तत्र च मण्यादिना वह्नौ दाहानुकूला

योऽज्ञानामत्रैवान्तर्भावोऽस्ति । भाष्ये प्रशस्तपादभाष्ये । योऽज्ञानामत्रैवान्त-
र्भावप्रकारस्तु ग्रन्थान्तरेऽवसेयः । भाष्यस्यार्थत्वेन तत्र कथनमात्रादेव मन्तव्यं
किंवा तत्र युक्तिरप्यस्त्यतः सप्तैव पदार्था इत्यत्र चिन्तामणिकृतमतप्रदर्शनपूर्विकां
युक्तिमाह—अत एवेति योऽज्ञानामत्रैवान्तर्भावसम्भवेन नैयायिकानामपि सप्तैव
पदार्था इत्यविरुद्धत्वादत्र उपमानचिन्तामणानुपमानगण्डस्य चिन्तामणाविवर्धः ।
अतिरिक्तपदार्थत्वमाशङ्कितं न तु प्रतिपादितमित्ये भावः, तथाचोपमानप्रमा-
णस्वीकारेण चिन्तामणोर्नैयायिकप्रथतया तत्र च सप्तपदार्थभिन्नतया शक्तिसा-
दृश्यादीनामाशङ्कितत्वेन न नैयायिकानामपि सप्तपदार्थत्वे विशद इति सिध्दं ।
मण्यादिसप्तपदशायां वह्निना दाहानुदयान्मण्यादेर्दाहप्रतिबन्धकत्वं वक्तव्यं
प्रतिबन्धकवञ्च कार्यानुकूल्यमन्विद्यत्कथं तथा चैतदृशप्रतिबन्धकत्वस्य शक्ति-
विनाऽघटमानवान् शक्तिसिद्धिरिति प्रभाकरमतप्रदर्शनपर मणिकृतामेव ग्रंथ-
मवतारयति नन्वित्यादिना । पदार्थान्तरतामेवावतारयति तथाहीति मण्यादि-
समबहितेन वह्निना दाहो न जन्यते इति परेणान्वयः अनुभवित इति
च तदर्थः । तथा चानुमानं, प्रतिबन्धकसत्त्वदशायां वह्निना काष्ठादौ दाहा-
भावः कारणभावप्रयुक्तः कार्यभाववत् दण्डाभावप्रयुक्तघटाभाववदिति
तथा च दृष्टकारणस्य वह्न्यादेस्तत्र सत्त्वेनादृष्टकारणस्य शक्तेरेवाभावस्तत्र कल्प-
नीय इति शक्तिसिद्धिः । ननु मण्यादेरेव कथं प्रतिबन्धकत्वमत आह
तच्छून्येनेति मण्यादिसमबन्धान्शून्येनेत्यर्थः । ननु यदि वह्नी दाहानुकूला
शक्तिस्तदा मण्यादिसत्त्वदशायामपि कथं न दाह अत आह तत्रेति पूर्वोक्तयु-
क्त्या शक्तिसिद्धौ चैत्यर्थः । अत्र सर्वत्र मण्यादीत्यादिना मन्त्रैपथोः परि-
ग्रहणम् । ननु मण्यादिना यदि वह्नौ दाहानुकूला शक्तिर्नाशिता नहि स-यु-

शक्तिर्नाश्यते उक्तेजकेन मण्याद्यपसारणेन च जन्यत इति कल्प्यते । एवं सादृश्यमप्यतिरिक्तः पदार्थः । तद्धि न पटसु भावेष्वन्तर्भवति सामान्येऽपि सत्त्वात् । यथा गोत्वं नित्यं तथाश्वत्वमपीति सादृश्यप्रतीतिः । नाप्यभावे सत्त्वेन प्रतीयमानत्वादिति चेन्न, मण्याद्यभावविशिष्टबह्व्यादेर्दाहा-

त्तेजके मण्याद्यपसारणे वा दाहे न स्याच्छक्तिरूपकारणाभावादत आह उक्तेजकेनेति मण्याद्यपसारणेन च मण्याद्यपसारणेन त्वेत्थं । इति पताहशास्वरूपा अर्थात् प्रतिबन्धकमत्पामत्त्वादिदशाया मिनाशोत्पादशालिनी शक्तिरनुभूयते । सा च न द्रव्यगुणरुग्मस्वरूपा गुणवृत्तित्वात् सामान्यादियत् एव शक्तिर्न सामान्याद्यन्यतमरूपा उत्पत्तिमत्ते सति मिनाशि नादित्येव क्लृप्तपदार्थानन्तर्भूतत्वेनातिरिक्तशक्तिसिद्धिरिति ज्ञेयम् । एवमतिरिक्ता शक्तिं प्रसाध्य सादृश्यस्याप्यतिरिक्तता व्यनस्थापयति एवमित्यादिना एव शक्तिवदतिरिक्तः क्लृप्तपदार्थातिरिक्त इत्यर्थः । तदेव व्यनस्थापयति तद्धीति हि यतस्तत्सादृश्यं न पटसु भावेष्वन्तर्भवति सामान्येऽपि सत्त्वासामान्येतरवृत्तित्वे सति सामान्यवृत्तित्वादित्यर्थः । अभावादिदि हेतुं स्यादन्तो ज्ञेयः । सादृश्यस्य सामान्यवृत्तित्वं कथं ज्ञातमतस्तत्प्रसङ्गकं प्रत्यक्षप्रमाणमाह—यथा गोत्वमित्यादिना । अत्र यदि केवलं सामान्यवृत्तिर्नादिति हेतुं स्यात्तदा स्वल्पसम्बन्धविशेषरूपे सामान्यत्वे व्यभिचारः स्यात्तस्य सामान्यवृत्तित्वेऽपि भावमिन्नत्वाभावादतस्तद्वारणायापदिशुक्तं, सामान्येतरवृत्तित्वे सतीति च तदर्थं, स च पूर्वमेव कथितः । प्रमेयवादे व्यभिचारवारणाय व्यतिरेकित्वे सतीत्यपि हेतौ विशेषणं देयमिति दिक् । अभावेऽन्तर्भावनिषेधेति—नापीति, सत्त्वेन, भावत्वेन प्रतीयमानत्वाप्रमीयमाणत्वादित्यर्थः । तस्मात् पट्भावात्तन्तर्भूतत्वे सत्यभावात्तन्तर्भूतत्वात्सादृश्यमप्यतिरिक्तं पदार्थ इति भावः । सप्रति पूर्वोक्ता शक्तिं दूषयति—मण्याद्यभावेति, मण्याद्यभावविशिष्टबह्व्यादेर्दाहादिकं प्रति हेतुं कल्प्यत इति योजना । अनन्तशक्तिरूपत्वात् पूर्वोक्तनाशनाशकभावरूपत्वात् चापेक्ष्य लाघवात् मण्याद्यभावविशिष्टबह्व्यादेरेव दाहत्वाद्यन्तर्भूतं प्रति

दिकं मति स्वातन्त्र्येण मण्यभावोदेरेव वा हेतुत्वं कल्प्यते । अने-
नैव सामञ्जस्ये अनन्तशक्तितत्प्रागभावध्वंसकल्पनानौचित्यात् । न
चोत्तेजके सति मणिप्रतिबन्धकत्वसद्भावेऽपि कथं दाह इति वोच्यम् ।

कारणत्वकल्पनं युक्तमिति भावः । तथा च प्रतिबन्धकमणिसत्त्वदशायां
मण्यभावरूपविशेषणाभावादेवं न दाह इति भावः । अत्र मण्याद्यभावविशिष्ट
वह्निध्वं वह्निविशिष्टे मण्याद्यभावध्वं वा कारणतावच्छेदकमेति विनिगमनाभा-
वेन गुरुभूतकार्यकारणभानद्वयकल्पनापेक्षया लघुभूतकार्यकारणभावद्वयमाह—
स्वातन्त्र्येणेति, यथा वह्निध्वेन वह्निः कारणं तथा मण्याद्यभावध्वेन मण्या-
द्यभावोऽपि दाहत्वावच्छिन्नं प्रति कारणमित्यर्थः । तथा च मण्यभावरूपकार-
णाभावादेव न दाहः । एवं च प्रतिबन्धकत्वमपि न कार्यानुकूलधर्मवि-
घटकत्व, किन्तु कारणीभूताभावप्रतियोगित्व । पृथक् च कारणीभूताभावो मण्या-
द्यभावस्तत्प्रतियोगित्वं च मण्यादेरस्तीति मण्यादेः प्रतिबन्धकत्वमस्तीति दिक् ।
ननु वह्निमण्यभावयोर्द्वयोः कारणत्वकल्पनापेक्षया एकां शक्तिं प्रसाध्य
तादृशशक्तिमत्त्वेनैकमेव कार्यकारणभावकल्पनं युक्तमत आह—अनेनैवेति,
मण्याद्यभावोदेरेव दाहादिकं प्रति कारणत्वकल्पनेनैव सामञ्जस्ये मण्यादिम-
त्त्वदशायां दाहापत्तिवारणसम्भवे (सतीत्यर्थः) प्रागभावे मानाभावादाह—ध्वंसेति ।
न चोत्तेजकेति यदि मण्यादिरूपप्रतिबन्धकाभावो दाहत्वाद्यवच्छिन्नं प्रति कारण
स्यात्तदोत्तेजके सूर्यकान्तादौ सति प्रतिबन्धकसद्भावेऽपि दाहो भवति स न
स्यादित्यर्थः । उत्तेजकाभावेति तथा च उत्तेजकाभावविशिष्टो यो मणिस्तदभावो
दाहं प्रति कारणमिति तत्त्वं पर्यर्थासित । तादृशाभावश्च मणिसमवधानकाले-
ऽप्युत्तेजकसत्त्वदशायां तिष्ठति, विशेषणाभावप्रयुक्तविशिष्टाभावान् ।
एवमुभयमण्याद्यभावदशायांमपि विशेषणाभावप्रयुक्तविशिष्टाभावान् । एवं
केवलमुत्तेजकसत्त्वदशायांमपि उभयाभावप्रयुक्तविशिष्टाभावान् । केवलं यद्योत्ते-
जकं नास्ति प्रतिबन्धकश्च भवेत्तत्रैवोत्तेजकाभावविशिष्टमण्येः सत्त्वेन न दाहः,
उत्तेजकाभावविशिष्टमण्यभावस्याभावादिति सर्वं समञ्जसमतो न काचिदती-

उत्तेजकाभावविशिष्टमण्यभावस्य हेतुत्वात् । सादृश्यमपि न पदार्थान्तरं
किन्तु तद्भिन्नत्वे सति तद्रूपभूयोधर्मवच्चम् । यथा चन्द्रभिन्नत्वे सति
चन्द्रगताहादकत्वादिमत्त्वं भुवे चन्द्रसादृश्यमिति ॥ २ ॥

द्रव्याणि विभजते—

क्षित्यस्तेजोमरुद्योमकालदिग्देहीनो मनः ।

द्रव्याणि

भित्तिः पृथिवी, आपो जलानि, तेजो वह्निः, मरुद् वायु,
व्योम आकाशः, कालः समयः, त्रिगाशा, देही आत्मा, मनः,
एतानि न च द्रव्याणीत्यर्थः । ननु द्रव्यत्वजातौ किं मानम् । न हि

न्द्रिया शक्तिर्नामेति सिद्धम् । पर शक्तिमधन द्रूपयिन्वा सादृश्यमपि द्रूपयति—
सादृश्यमपीति न पदार्थान्तरं न सन्नपदार्थान्तिरिक्तमित्यर्थः । तद्भिन्नत्वे
सतीति सादृश्यनिरूपकभिन्नत्वे सति । तद्रूपेति सादृश्यनिरूपकगतैन्द्रिय-
धर्मवत्त्वमित्यर्थः । लक्ष्ये लक्षणं योजयति—पथेति सादृश्यनिरूपकाच्च तद्भिन्नत्वे
सति चन्द्रगत ऐच्छिको धर्म आह्लादकत्वादेकं तद्रूपं च भुव इति ।
तस्मात्सादृश्यं नातिरिक्तं पदार्थं, किन्तु यथायथ द्रव्यादिरूपमेव । इति-
शब्द श्लोकन्यासात्समाप्तिसूचक इति शम् ॥ २ ॥

द्रव्याणि विभजत इति । क्षयार्थमेवऽपि क्षितिशब्दोऽस्मान्मन्य आह—
क्षितिः पृथिवीति । शब्दशास्त्रे अप्रशब्दोच्चारणे अप्रशब्दव्यक्तौ न गृह्यतेऽन
आह—जलानीति । प्रतापस्यापि तेज शब्दात्प्रतापशब्द—तेजो वह्निरिति ।
व्योमशब्दस्य वेदे ब्रह्मणि प्रयोगदाह—आकाश इति । कालशब्दो यम
स्यापि वाचकोऽत आह—समय इति । दिक्शब्दस्य दानार्थन्तत्संभवादाह—
आशेति । देहिनिशिष्टाययमानामपि वाचको देहीतिशब्द सम्भवत्यत आह—
आत्मेति । मूले द्रव्याणीति कथनेन द्रव्यत्वजातिमत्त्वं द्रव्यमामान्यलक्षणं
सूचितं । तत्र पृच्छति द्रव्यत्वजातौ किं मानमिति किशब्दः प्रश्ने,

तत्र प्रत्यक्षं प्रमाणं घृतजलुमश्रातिषु द्रव्यत्वाग्रहादिति चेन्न कार्यसम-
वापिकारणतावच्छेदकतया संयोगस्य विभागस्य वा कार्यसमवायि-
कारणतावच्छेदकतया तत्सिद्धेरिति । ननु दशमं द्रव्यं तमः कुतो
नोक्तं तद्धि प्रत्यक्षेण दृश्यते तस्य च रूपवत्त्वात् कर्मवत्त्वाच्च द्रव्य-

ननु द्रव्यं द्रव्यमित्यनुगता प्रतीतिरेव द्रव्यत्वसाधिकेत्यत आह—न हीति
तत्र द्रव्यत्वजातो । घृतेति तथा च द्रव्यत्ववत्त्वपि घृतादौ लौकिकानां
द्रव्यत्वज्ञानाभावात् सकलद्रव्यसाधारणा द्रव्यत्वजातिः सिध्यतीति भावः ।
कार्येति तथा च समवायसंबन्धावच्छिन्नकार्यत्वावच्छिन्नकार्यनिष्ठकार्यतानिरू-
पिता या तादात्म्यसंबन्धावच्छिन्ना कारणता सा किञ्चिद्गर्भावच्छिन्ना (असति
प्रतिबन्धके किञ्चिन्नात्यवच्छिन्ना,) कारणतात्वाद् घटनिष्ठकार्यतानिरूपित-
कपालनिष्ठकारणतावादित्यनुमानेन द्रव्यत्वसिद्धेः जातिरूपद्रव्यत्वसिद्धेरित्यर्थः ।
कार्यत्वस्य ध्वंससाधारण्येनाह—संयोगस्येति । अत्रापि समवायसंबन्धावच्छिन्न-
संयोगत्वावच्छिन्नेत्यादिरनुमानप्रकारो बोध्यः । नवीनमते विमुद्ध्यसंयोगस्य
नियस्यापि स्वीकारान्न संयोगत्वं कार्यतावच्छेदकमत आह—विभागस्येति
। तथा च समवायसंबन्धावच्छिन्नविभागत्वावच्छिन्नविभागनिष्ठकार्यतानिरू-
पिता या तादात्म्यसंबन्धावच्छिन्ना कारणता सा किञ्चिद्गर्भावच्छिन्ना, कारण-
तात्वात्, घटनिष्ठकार्यतानिरूपितकपालनिष्ठकारणतावनु, सिद्धो धर्मो
जातिश्चेत्तदा लाघवमिति तर्कसंहकृतानुमानेन द्रव्यत्वसिद्धेः अपि दशमाणव्युत्प-
भेदादिरूपजातिप्रतिबन्धकामावात्पूर्वोक्तानुमानेन द्रव्यत्वरूपजातिसिद्धेरित्यर्थः ।
ननु तमसः दशमद्रव्यस्य सत्त्वान्नत्र द्रव्याणीत्ययुक्तमित्यभिप्रायेण भीमांसकः
शङ्कते—नन्विति । तमसि मानामावादेव नोक्तमत आह—तद्धीति तमो
हीत्यर्थः । प्रत्यक्षेण चक्षुरिन्द्रियेण । तथा च तमसि प्रत्यक्षमेव प्रमाणं ।
ननु तमसः सिद्धावपि तस्य द्रव्यत्वे किं मानमत आह—तस्य चेति
तमो द्रव्यं, रूपवत्त्वाद्, घटवत् । एवं तमो द्रव्यं, कर्मवत्त्वात्पददेहेत्य-
नुमानद्वयेन द्रव्यत्वं सिध्यतीत्यर्थः । ननु तस्य द्रव्यत्वेऽपि न दशमद्रव्यात्वं

त्वं, तच्च (द्वि) गन्धशून्यत्वात् पृथिवी, नीलरूपवत्त्वाच्च न जलादिकं, तत्प्रत्यक्षे चालोकनिरपेक्षं चक्षुः कारणमिति चेन्न, आवश्यकतेनोऽभावेनोपपत्तौ द्रव्यान्तरकल्पनाया अन्यायवत्त्वात् । रूपवत्ताप्रतीतिस्तु भ्रमरूपा । कर्मवत्ताप्रतीतिरप्यालोकापसारणीपाधिकी भ्रान्तिरेव ।

बलमद्रव्यध्वेवान्तर्भावादत आह-तद्धीति तमो न पृथिवी गन्धशून्यत्वात्प्रतियोगिव्याधेकरणसमवायसंबन्धवच्छिन्नगन्धत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाववत्त्ववदित्यर्थः, इत्यनुमानेन तमसि पृथिवीभेदसिद्धौ, तमो न जलादिरूपं नीलरूपवत्त्वादिन्यनुमानेन च तमसि जलाद्यष्टभेदसिद्धौ चातिरिक्तद्रव्यंतरसिद्धिरिति भावः । ननु द्रव्यप्रत्यक्षे आलोकसंयोगावच्छिन्नचक्षुःसंयोगस्य कारणत्वेन तमसि चालोकसंयोगस्याभावेन चक्षुरिन्द्रियेण तमःप्रत्यक्षं न स्यादत आह-तत्प्रत्यक्षे चेति तमःप्रत्यक्षे चेत्यर्थः । तथा च तमोभिन्नद्रव्यवत्क्षुपत्त्वावच्छिन्नं प्रत्येवालेकसंयोगस्यापेक्षितत्वं, न तु द्रव्यमात्रप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नं प्रति, यथादर्शनं हि कारणतायाः कल्पनीयत्वादिति भावः । आवश्यकेति ननु तेजस एवान्धकाराभावरूपत्वं किं न स्यादत आवश्यकपदे सर्वानुभूतोऽन्वस्पर्शमास्वरशुक्लरूपादिनावश्यं कल्पनीयस्य तेजसोऽभावस्वरूपोऽन्धकार इति स्वीकारेणैवोपपत्तौ तम इति प्रतीत्युपपत्तौ । ननु तमसोऽभावस्वरूपतास्वीकारे नीलं तमश्चलतीति प्रतीतिः कथमुपपद्यते अन्धकारे रूपकर्मणोरभावादत आह-रूपेति तुशब्द एवकारार्थः भ्रमरूपैवेत्यर्थः । एवं कर्मवत्ताप्रतीतिरपि यत अलोकापसारणीपाधिकी अतो भ्रान्तिरेवेत्यर्थः । द्रव्येऽप्यन्यौपाधिकी कर्मवत्ताप्रतीतिर्भ्रान्तिरूपैव भवति नौकास्यपुरपाणां वृक्षश्चलतीति प्रतीतिवदित्वेवकारार्थः । ननु प्रतीतिर्भ्रान्तिर्यत् तत्रैव स्वीक्रियते यत्रोत्तरकोष्ठे बाधज्ञानं स्याद्यथा रज्जी सर्पज्ञानस्य भ्रान्तिर्यत् तदैव निश्चितं भवति यदा नार्य सर्पः किन्तु रज्जुरिति बाधज्ञानं भवेद्यथा सर्पप्रतीतिनां भ्रान्तिर्यत् स्यात् । नीलं तमश्चलतीति प्रतीत्यनन्तरं तु अनिलं तमो न चलतीति बाधनिश्चयभावेन नीलं तमश्चलतीति प्रतीतिः कथं भ्रान्तिवनिश्चयोऽन

तमसोऽतिरिक्तत्वेऽनन्तावयवादिकल्पनागौरवं च स्यात् । स्वर्णस्य
यथा तेजस्पन्तर्भावस्तथा वक्ष्यते ॥

गुणान्विभजते-

अथ गुणा रूपं रसो गन्धस्ततः परम् ॥ ३ ॥

स्पर्शः संख्या परिमितिः पृथक्त्वं च ततः परम् ।

संयोगश्च विभागश्च परत्वं चापरत्वकम् ॥ ४ ॥

बुद्धिः सुखं दुःखमिच्छा द्वेषो यत्नो गुरुत्वंकम् ।

द्रवत्वं स्नेहसंस्कारावदृष्टं शब्द एव च ॥ ५ ॥

एते गुणाश्चतुर्विंशतिसंख्याकाः कणादेन कण्ठतः चशब्देन च

आह-तमसोऽतिरिक्तद्रव्यत्व इति अनन्तावयवादित्यत्रादिनोह्यतिश्वसपारि-
ग्रहः, अयमाशयः-धूमे यदि बहिर्व्यभिचारी स्यात्तदा बहिर्जन्यो न स्यादिति
तर्केण यथा धूमे बहिर्व्यभिचारज्ञानं निवर्तते तत्रात्रापि क्रियादिहेतुना तमसो
द्रव्यत्वसाधनावसरे तमो यदि द्रव्यं स्यात्तदा क्लृप्तानन्तावयवादिकल्पना-
गौरवं स्यादिति तर्केण द्रव्यत्वज्ञानप्रतिबन्धसम्भवान्न क्रियादिहेतुनापि तमसो
द्रव्यत्वं सिध्यतीति । ननु तमसोऽद्रव्यत्वेऽपि सुवर्णस्य तु दशमद्रव्यत्वं
स्यादत आह-सुवर्णस्येति अमे तेजोनिरूपणावसर इत्यर्थः

गुणान् विभजत इति । चतुर्विंशतिसंख्याका इति संख्या च-
त्रापेक्षाबुद्धिविशेषप्रतिपत्त्यरूपा बोध्या गुणे गुणानङ्गीकारेण गुणरूपायाः
संख्याया गुणेऽसम्भवात् । ननु भवता स्नेच्छयैवैते गुणा निरूपिताः किंवा
प्राचीनाचार्यैरपि प्रतिपादिता अत आह-एते चेति । कण्ठत इति “ रूपरस-
गन्धस्पर्शः संख्याः परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परवापरत्वे बुद्ध्यः
सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नाश्च गुणा ” इति विभागसूत्रे सप्तदश कण्ठ-
नोक्ताः, चशब्देन सूत्रस्थचशब्देन गुरुत्वद्रवत्स्नेहसंस्कारधर्माधर्मशब्दाः

दर्शिताः । तत्र गुणत्वादिकजातिसिद्धिरग्रे वक्ष्यते ॥ ३-४-५ ॥

कर्माणि विभजते—

उत्क्षेपणं ततोऽपक्षेपणमाकुञ्चनं तथा ।

प्रसारणं च गमनं कर्माण्येतानि पञ्च च ॥ ६ ॥

कर्मत्वजातिस्तु प्रत्यक्षासिद्धा । एवमुत्क्षेपणत्वादिकमपि ॥ ६ ॥

नन्वत्र भ्रमणादिकमपि पञ्चकर्माधिकतया कुतो नोक्तमत आह-

भ्रमणं रेचनं स्यन्दनोर्ध्वज्वलनमेव च ।

तिर्यग्गमनमप्यत्र गमनादेव लभ्यते ॥ ७ ॥

सामान्य निरूपयति—

सामान्यं द्विविधं प्रोक्तं परं चापरमेव च ।

द्रव्यादित्रिकवृत्तिस्तु सत्ता परतद्योच्यते ॥ ८ ॥

तल्लक्षण तु नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वम् । अनेकसमवेतत्व
सयोगादीनामप्यस्त्यत उक्तं नित्यत्वे सतीति । नित्यत्वे सति सम-

समुच्चिता, ते च सर्वे एकतया चतुर्विंशतिगुणा इह व्यङ्गता । ननु चतुर्विंशती
किं नाम गुणत्वमत आह—तत्रेति गुणे विपर्ययः । अग्रे गुणनिरूपणापरं ३ ४ ५ ॥

कर्माणि विभजत इति । प्रत्यक्षासिद्धेति चतुर्विंशत्यनुगतप्रतीति
सिधेत्पर्ययः । मूले गमनादेवेति ननुक्षेपणादानामपि भ्रमणादिप्रदेव ग-
मनेऽन्तर्भावसमाप्तेऽपि गमनादेव कथं न समुच्चिता इति चेन्न,
स्वतन्त्रेच्छस्य मुनिर्नियोगपर्यनुयोगासम्भवादिति ॥ ६-७ ॥

सामान्य निरूपयतीति ननु सामान्यादौ जातेरस्यकारेण तत्रमात्रान्तर
धर्मप्रकारकज्ञानगोचरेच्छा प्रति तद्धर्मज्ञानस्य कारणत्वात् सामान्यवज्ञान विना
विभागास्तभवादाह—तल्लक्षणं त्विति सामान्यलक्षणं विपर्ययः । नित्यत्वेति
ध्वसाप्रतियोगित्वं सति प्रागभावाप्रतियोगित्वं निरूपय । अनेकेति अत्रानेक

वेतत्त्वं गगनपरिभाणादीनामप्यस्त्यतं उक्तमनेकेति । नित्यत्वे साति अने-
कंघटित्वमत्यन्ताभावेऽप्यस्त्यतो घटित्वसामान्यं विहाय समवेतत्वमि-
त्युक्तम् । एकमात्रव्यक्तिघटित्तु न जातिः । तथा चोक्तम्—

व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं संकरोऽथानकस्थितिः ।

रूपहानिरसंबन्धो जातिबाधकसंग्रहः ॥ १ ॥

समवेतत्वं च स्वप्रतियोगिसमवेतत्वस्वाधिकरणसमवेतस्वोभयसंबन्धेन भेदवि-
शिष्टत्वमिति बोध्यं, अन्वया गुणादौ गुणरूपाया अनेकत्वसंख्याया असत्त्वे-
नाव्याप्तिः स्यात् । अत्र स्वपदेन तद्घटादिभेदस्तत्प्रतियोगिनि तद्घटे समवे-
तत्वं घटत्वस्य, पुनर्द्वितीयस्वपदेनापि स एव तद्घटभेदस्तस्याधिकर-
णमन्ये घटास्तासमवेतत्वं च घटत्वस्येति लक्षणसमन्वयः । नन्वाकाशत्व-
रूपजातावेतादृशलक्षणस्याव्याप्तिरित्याशङ्कपालक्ष्यन्वेनोत्तरमाह—**एकव्यक्तिमात्रेति**
नानाघटादिव्यक्तिषु घट इत्यादिरेकवर्त्मप्रकारकबुद्बुदशुपपत्यर्थमेव घटादि-
रूपा जातिः कल्पते, एरुव्यक्तौ स्वेकवर्त्मप्रकारकबुद्बुदस्तद्व्यक्तित्वमा-
दायापि संबन्धेन न तत्रातिरिक्तजातिसिद्धिरिति भाव । तद्व्यक्तित्वं च तादा-
त्म्येन सैव व्यक्तिरिति ज्ञेयं । नन्वाकाशत्वं जातिरिति प्रतीतिस्वाकाशादवस्य
जातित्वसाधिका भविष्यतीत्यत एकव्यक्तिवृत्तिराकाशत्वादेर्जातित्वं नास्त्यत्र
वृद्धसंमतिमाह—तथा चोक्तमिति द्रव्याकिरावत्यामुदयनाचार्येणिति शेषः **एष**
जातिबाधकसंग्रहः जातिरूपप्रकारकज्ञानप्रतिबन्धकज्ञानविषयानां संग्रह इत्यर्थः ।
व्यक्तेरभेद एकव्यक्तिकत्वं स्थाश्रयव्यक्तिनिष्ठव्याप्तजघृत्तिधर्मानत्रच्छिन्नस्वाश्रय-
व्यक्तिनिष्ठभेदप्रतियोगीतानवच्छेदकताकावामिति निष्कर्षो बोध्यः । एतच्चाका-
शादीनां जातित्वे बाधकं । तुल्यावमन्यूनानातिरिक्तव्यक्तिघृत्तित्वं घटत्वकल-
शत्वादीनां जातिभेदे बाधकं । वस्तुतस्तु तुल्यत्वस्यैतादृशत्वे जातिबाधकोपस्य
कुत्रचिजातित्वबाधकत्वं कुत्रचिच्च जातिभेदबाधकत्वमर्थः स्यात्, तच्च न
संभवति, " सद्बुद्धारितः शब्दः सद्बुद्धार्थं बोधयतीति " न्यायात्, अत-
स्तुल्यात्वमित्यस्य स्वभिनजातिसमनियतत्वमित्यर्थोऽत्रसेपः, तच्च जातिः १ १

द्रव्यादीति । परत्वमाधिकदेशवृत्तित्वम् । अपरत्वमल्पदेशवृत्तित्वम् ।
सकलजात्यपेक्षयाऽधिकदेशवृत्तित्वात् सत्तायाः परत्वम् । तदपेक्षया
चान्यासां जातीनामपरत्वम् ॥ ८ ॥

बाधकमिति ध्येयम् । सङ्गरश्च परस्परान्यताभात्रसमानाधिकरणयोर्धर्मयोरेकत्र
समावेशः । स च भूतत्वमूर्तत्वादीनां जातित्वे बाधकः । अत्र मूर्तत्वं तु
क्रियासमन्वयिकारणताच्छेदकतया जातिविशेषे मित्थ एव, किंतु भूतत्वं
न जातिरिति ध्येयम् । अप्रामाणिकपदार्थपरवराभिधिरनरस्या, सां च जाते
जातित्वे बाधिका । यद्यपि निखिलजातिषु वैजायाङ्गीकरेऽपि पुनस्तद्वैजाये
न वैजायातर कल्पयितुं शक्यते, एकव्यक्तित्वान्, तथापि निखिलजाति-
ष्वेक वैजात्य, तद्वैजात्यतदाश्रयजातिषु च पुनर्वैजात्यभेदमपेक्षित्यनरस्था बोध्या ।
रूपहानिरित्यस्य रूपस्य स्वरूपस्य हानिरथवा रूपस्य लक्षणस्य हानि
विशेषवृत्तिविशेषत्वादीनां जातित्वे बाधिका विशेषे जात्यङ्गीकारे तु तस्वरू-
पस्य स्वतोऽन्यावृत्तस्य हानि स्यात् । एव विशेषस्य लक्षण स्वतो व्यापत्ते
कथं, स्वतो व्यापत्तेकत्वं च स्वरूपेणैव भेदसाधकत्वं, विशेषे वैजायाङ्गीकारे
च जातिप्रकारकतयापि विशेषस्य व्यापत्तेकत्वं बाध्यम्, जान्याश्रयस्य जाति-
रूपेणापि भेदसाधकत्वनियमात् । एव च विशेषस्य यलक्षण स्वतो व्यापत्ते
कत्वं तस्य हानिर्जाता । अत्र च दिनकर्यामितरथैव व्याख्या दृश्यते तस्यास्तु
क्लिष्टकल्पनारूपं तदुपेक्षणायत्वमिति ध्येयम् । यद्वा नि सामान्यत्वे सति
सामान्यभिन्नत्वे च सति समवेतत्वमिति हि प्राचीनदिष्टकृत विशेषलक्षण
विशेषवृत्तानां वैजायाङ्गीकारे चैतलक्षणस्यापि हानिर्भरतीति न विशेषे जाति-
रस्तीति । असन्ध प्रतियोगितानुयोगितायतरसन्धेन समन्वयाभात्र, स
च समन्वयाभात्रवृत्तानां समन्वयत्वाभात्रवादीनां जातिरे बाधकः । अत्रानु-
योगितामन्ध उभयरादिसिद्धो प्राह्यस्तेनाभात्रादेर्जातिराङ्गीकारे समन्वये-
नैव तद्वृत्तिर्वाच्य, तथा चातुयोगितासन्धेनभात्रादीं समन्वयाभात्रस्या
भात्रादभावत्वादे कथं न जातिरिति दूषण निरस्तम् ॥ ८ ॥

परजिज्ञा च या जातिः सैवापरतयोच्यते ।

द्रव्यत्वादिकजातिस्तु परापरतयोच्यते ॥ ९ ॥

व्यापकत्वात्परापि स्याद्द्वयाप्यत्वात्परापि च ।

पृथिवीत्वाद्यपेक्षया व्यापकत्वादाधिकदेशवृत्तित्वात् द्रव्यत्वादेः परत्वं, सत्तापेक्षया व्याप्यत्वाद्ल्पदेशवृत्तित्वाच्च द्रव्यत्वस्यापरत्वं, तथा च धर्मद्वयसमावेशाद्बुभयमविरुद्धम् ॥

विशेषं निरूपयति—

अन्त्यो नित्यद्रव्यवृत्तिर्विशेषः परिकीर्तितः ॥ १० ॥

अन्ते अवसाने वर्तत इत्यन्त्यः, यदपेक्षया विशेषो नास्तीत्यर्थः घटादीनां द्वयणुकपर्यन्तानां तत्तदवयवभेदात्परस्परं भेदः परमाणूनां

मूले द्रव्यादिरिति, अत्र तुशब्दः एवकारार्थः, स च भिन्नक्रमः तथा च द्रव्यादिवृत्तिः सत्ता परतया एवोच्यते इत्यर्थः ॥ ९ ॥

विशेषं निरूपयतीति । अंत्य इति अन्यत्वं च स्वतो व्यावृत्तत्वं । तदेवाह—यदपेक्षयेति यदपेक्षया विशयापेक्षया विशेषो भेदसाधको नास्ति यस्य परस्परभेदसाधकः स्वमादन्यो नास्तीत्यर्थः । यद्यपि विशेषस्याप्येतत्परमाणुवृत्तित्वादेव परस्परभेदसाधकाः सम्भवन्ति तथापि विशेषवृत्त्येतत्परमाणुवृत्तित्वादीनामाधेयतादिभ्यस्परमादाधेयतायाश्च स्वरूपसम्बन्धरूपतया न विशेषातिरिक्तत्वमिति दिक् । वस्तुतस्तु परमाणुभेदः किञ्चित्स्तिङ्गज्ञाप्यः, भेदत्वात्, कपालभेदवदित्यनुमानेन स्मृतौ व्यावृत्तस्वरूपस्यैव विशेषस्य सिद्धेर्न तत्रैतत्परमाणुवृत्तित्वादीनामपि भेदसाधकत्वमिति सुविचारणीयम् । नित्यद्रव्यवृत्तिरिति तु स्वरूपकथनं, न तु लक्षणप्रविष्टं, प्रयोजनाभावात् । एतेन विशेषे प्रमाणमपि दर्शितं भवति । तदेव स्पष्टयति—घटादीनामिति तत्तदवयवभेदात्परस्परं भेद इति तत्तदवयवभेदप्रयुक्तः परस्परभेदः प्रत्यक्षसिद्ध

नम् । एतेन संयोगादिवाधात्समवायसिद्धिः । न च स्वरूपसंबन्धेन सिद्धसाधनम्, अर्थान्तरं वा, अनन्तस्वरूपाणां संबन्धत्वरूपने गौरवाल्लाघवादेकसमवायसिद्धिः । न च समवायस्यैकत्वे वायौ रूपवत्ताद्युद्धिमसङ्गः, तत्र रूपसमवायसन्धेऽपि रूपाभावात् ।

सयोगाभावात् विशिष्टबुद्धिरदेतीत्यस्तद्बुद्धौ तयो संयोगोऽपि निपय इति सर्वमत, तद्बुद्धपत्रं घट इत्यादिबुद्धिरपि विशेषणविशेष्यसम्बन्धनिपयैव वक्तव्या, तत्र विशेषणरूप्य विशेष्यश्च घटोऽस्येवति सम्बन्धोऽपि कश्चिद्विषयत्वेन वक्तव्य, य सम्बन्धो निपयत्वेन स्वीक्रियते स एव समवाय इति भावः । ननु दण्डी पुरुष इति विशिष्टबुद्धिर्नपद्रूयान् घट इत्यत्रापि संयोग एव निपयत्वेन कल्प्यतामत आह—सयोगादिवाधादिति संयोगसामांय प्रति द्रव्यस्य समवायिकारणत्वेन द्रव्ययोरेव संयोग इति नियमादिति भावः । न च स्वरूपसम्बन्धेनेति, अपमाशय—पूर्वोक्तानुमानेन रूपान् घट इति बुद्धौ सम्बन्धोऽपि कश्चिद्विषयत्वेन भासत इत्येतेदेव साधितं न तु समवाय एतेत्येतदपि, तथा च यदि ररूपसम्बन्धसाधनाय पूर्वोक्तानुमानं क्रियते तदा भीमासकस्य सिद्धसाधन, अश्रुताभिद्भयो ररूपसम्बन्धस्य तेन पूर्वमेव स्वीकारात् । यदि च समवायसाधनार्थमेव पूर्वोक्तानुमानं, तदा तु नैवायिकस्यार्थांतरमनभिमत्तपदार्थसिद्धिरित्यर्थ, अतिरिक्तसमवायकल्पनापेक्षया लाघवात्स्वरूपसम्बन्ध एव रूपवान्यट इति बुद्धौ भासतामित्येव ररूपसम्बन्धस्यैव सिद्धत्वादिति । अनन्तस्वरूपाणामिति अनन्तस्वरूपेषु सम्बन्धत्वरूप सम्बन्धकल्पनापेक्षया लाघवादेकास्मिन् समवाये एव सम्बन्धत्वरूपनमुचित, धर्मकल्पनापेक्षया धर्मिकल्पनाया एव लघीयत्वादिति भावः, तथा च लाघवतर्कमद्दृष्टेन पूर्वोक्तानुमानेनेक एव समवाय सिद्धयतीति पर्थ्यप्रसितोऽर्थः । न चेति रूपरत्ताबुद्धिप्रसंग रूपरत्ताबुद्धे प्रमात्यप्रसंग इत्यर्थः सम्बन्धसत्त्वस्य सम्बन्धिसत्त्वव्याप्यत्वादिति भावः । तत्र वायौ । रूपसमवायसन्धेपीऽति वायुनिरूपितापेक्षताया रूपसमवाये सन्धेऽपि रूपाभावाद्रूपनिरूपितत्वविशिष्टसमवाय-

न चैवमभावस्य वैशिष्ट्यं संबन्धान्तरं सिद्ध्येदिति वक्ष्यम्,
तस्य नित्यत्वे भूतले घटानयनानन्तरमपि घटाभावबुद्धिमसद्भात् ।
घटाभावस्य तत्र सत्त्वात् । तस्य नित्यत्वात्, अन्यथा देशान्तरेऽपि
तत्प्रतीतिर्न स्यात् । वैशिष्ट्यस्य च तत्र सत्त्वात् । मम तु घटे पा-
करकतादशायां श्यामरूपस्य नष्टत्वान्न तद्वत्ताबुद्धिः । वैशिष्ट्यस्या-

धिकरणताया वायावभावादित्यर्थः । तथा च रूपमिति यथार्थप्रतीतिर्नि-
यामकः सम्बन्धो रूपनिरूपितत्वविशिष्टसमवायाधिकरणता, तस्याथ वायौ
भभावात् रूपवान्वायुरिति बुद्धेर्न प्रमादमितिभावः । न चैवमिति
यथा लाववाद्गुणादेरतिरिक्तः समवायसम्बन्धः स्वीकृतस्तदभावस्यापि वैशि-
ष्ट्यं वैशिष्ट्यनामकं सम्बन्धान्तरं क्लृप्तपदार्थातिरिक्तं भूतलादौ सिद्ध्ये-
दित्यर्थः । यदि वैशिष्ट्यमतिरिक्तमङ्गीक्रियते तदा तन्नित्यमनित्य वेति
विकल्प्याद्ये दूषणमाह-तस्येति वैशिष्ट्यस्येत्यर्थः । घटाभावबुद्धिमसंगात्प्र-
मारूपघटाभावबुद्धेः प्रसङ्गादित्यर्थः । ननु वैशिष्ट्यस्य तत्र सत्त्वेऽपि घट-
स्यदशायां तत्र घटाभावाभावादेव न घटाभाववत्ताबुद्धिरत आह-घटाभाव-
स्येति । तत्र घटवति भूतले । तस्येति घटाभावस्येत्यर्थः । अन्यथा घटा-
भावस्यानित्यत्वे । देशान्तरेऽपि घटशून्यदेशेऽपि । घटाभावस्यैकवायदि
घटानयनदशायां घटवति भूतले यटाभावस्य नाशः स्वीक्रियते तदा गृहे
मृतस्य देवदत्तस्य वने सत्ववत् घटानधिकरणेऽपि भूतले घटाभावसत्त्वं न
स्यात्, प्रतीयते च तत्र घटाभावः, अतो घटाभावस्य नित्ययमेवेतिभावः । वैशि-
ष्ट्यस्येति वैशिष्ट्यस्याभ्युपगमपक्ष इति शेषः । तथा च विशेषणस्य घटाभावस्य
विशेष्यस्य-भूतलादेस्तत्सम्बन्धस्य च वैशिष्ट्यस्य भवन्मतेन सत्त्वाद्घटवन्वपि
भूतले प्रमाण्या घटाभावबुद्धिः स्यादतो न वैशिष्ट्यस्य नित्यत्वं कल्पयेत्तु
शक्यत इति निर्गलितोऽर्थः । ननु नैयायिकमतेऽपि पाकेन रक्ते घटे श्याम-
रूपसमवायस्य सत्त्वात् श्यामरूपवत्ताबुद्धेः प्रसङ्ग इत्यत आह-मम त्विति ।
वैशिष्ट्यस्यानित्यत्वपक्षे दूषणमाह-वैशिष्ट्यस्यानित्यत्व इति अनित्यानन्तयै-

नित्यत्वे त्वन्तवैशिष्ट्यकल्पने तत्रैव गौरवम् । इत्थं च तत्तत्काली-
नं तत्तद्भूतलादिकं तत्तद्भावानां संबन्धः ॥ ११ ॥

अभावं विभजते—

अभावस्तु द्विधा संसर्गान्योन्याभावभेदतः ।

प्रागभावस्तथा ध्वंसोऽप्यत्यन्ताभाव एव च ॥१२॥

एवं त्रैविध्यमापन्नः संसर्गाभाव इष्यते ।

अभावत्वं द्रव्यादिपट्टकान्योऽन्याभाववचनम् । संसर्गाभावान्यो-

शिष्टवर्णि परिकल्प्य तेषु सम्बन्धस्वरूपनापेक्षया बलवान्तस्वरूपेष्वेव
सम्बन्धकल्पन युक्तमिति भावः । नन्वभावाधिकरणयोस्तैरिक्तसम्बन्धानर्थाकारे
अभावाधिकरणयोः क सम्बन्धः ? स्वरूपमिति चेत्तदा तत्रापि मते घटा-
भावनभूतलयोस्तसम्बन्धस्य च स्वरूपस्य सत्त्वाद्घटनयनेन घटत्रयपि भूतले
घटाभावनबुद्धि स्यादत आह—एवं चेति, तत्तत्कालीनमिति भूतले घटो
नास्तीति प्रमोपलक्षितत्तत्कालत्रिशिष्ट तत्तद्भूतलादिकमिति यस्मिन्व्यभिन्नभूतले
पूर्वोक्ता प्रमा जाता तत्तद्भूतलादिक । तत्तद्भावानामिति यस्य यस्याभासस्य
प्रमा जाता तेषा तेषामभावात्प्रामित्यर्थः । तत्कालत्रिशिष्ट तद्भूतल तद्भासस्य
सम्बन्ध इति निष्कर्षोऽर्थः । तथा च न केवलं स्वरूपसम्बन्ध किं त्रीदश
स्वरूप इति न घटसररदशायामपि घटाभावनबुद्धिप्रसङ्गरूपो दोष इति भावः ॥

अभावं विभजत इति । अभावत्वमिति अत्र देहलीदीपक्यायेन पट्टकप-
दस्योभयत्र सम्बन्धात् द्रव्यादयो ये पट्ट तेषामन्योन्याभासाश्च ये पट्ट तद्वच-
मित्यर्थोऽत्रमेवस्तेन द्रव्यं न द्रव्यादिपडिति प्रतीया द्रव्येऽपि द्रव्यादिपट्ट-
भेदस्य सत्त्वाद्भावनलक्षणस्य प्रत्येकं द्रव्यादीं नातिव्याप्ति । अत्र दिनकरभैरवैर्दिनकर्षो
भावनभेदत्वमिति लक्षणार्थो व्याख्यातस्तत्र च भावनभेदस्याभासस्य भावनस्वरूपवि-
शेषणज्ञानशून्यकाले घटो नास्तीति प्रतीत्यनापत्तिः, एवमन्योन्याभासस्याभास-
वर्गस्यापि वक्तव्यतयाऽभासस्यान्योन्याभासवर्गयोः अन्योन्याध्यायसिद्धेश्चैतद्विदूषण-

न्याभावभेदादित्यर्थः । अन्योन्याभावस्यैकविधत्वात्तद्विभागाभावात्संसर्गाभाव विभजते । प्रागभाव इति । संसर्गाभावत्वं, अन्योन्याभावभिन्नाभावत्वम् । अन्योन्याभावत्वं च तादात्म्यसंन्यावाच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावत्वम् । विनाश्यभावत्वं प्रागभावत्वम् । जन्याभावत्वं ध्वसत्वम् । नित्यसंसर्गाभावत्वम् अत्यन्ताभावत्वम् । यत्र तु भूतलादौ घटादिक्रमपसारितं पुनरानीतं च तत्र

न्युद्गाय अखण्डोपाधिरनुयोगिताविशेषो याऽभावात् इति कस्याचि मत्सुषयस्त । तत्रापि च नवीनमतेऽभासस्य खण्डोपाधित्वे प्रमाणाभावात् समवायस्याश्रयसमायायान्यतरसम्बन्धेन सत्ताऽभावरूप भावभिन्नत्वमेवाभावात्तच्च पूर्वानुपरिधितमपि प्रकार, अतो न दोषलेशोऽपीत्यादिक व्यारव्यात, एतादृशेषस्तु तत्रैवावलोकनीयः । एकाविधत्वादिति अन्योन्याभावात्तान्तरविभाजकधर्मशून्यत्वादित्यर्थः । क्रमेण द्वयोरभासयोर्लक्षणमाह—संसर्गाभावत्वमिति । घटादायतिव्याप्तिवारणायाभावात् इति । तादात्म्येति न चासात्त्वमा घ तदात्मा तदात्मनो भावस्तादात्म्य तद्रतासाधारणो धर्मो घटादादिरूप, तादात्म्यश्चासौ सम्बन्धश्च तादात्म्यसम्बन्धस्तेनापच्छिन्ना प्रतियोगिता यस्यैवभूतोऽभावा इत्यर्थः पटो घटो नेत्यत्र घटस्य तादात्म्य घटत्वं तेन सम्बन्धेन अर्थात्स्ववृत्तिघटवत्त्वसम्बन्धेन घटो घटे एव, स्य घट तद्दृष्टि घटत्वं तद्वत्त्वस्य घटे एव सत्त्वान् । तथा च स्ववृत्तिघटवत्त्वसम्बन्धेन घटप्रतियोगिकाभावात् पट इति पटो घटो नेत्यस्यार्थो जातः । स एव पटे घटान्योन्याभावा इत्युच्यते । प्रागभावलक्षणमाह—विनाश्यभावत्वमिति, ध्वनेऽतिव्याप्तिवारणाय विनाशाति, घटादायतिव्याप्तिवारणायाभावात् इति । ध्वसत्वमिति—जन्याभावत्वमिति । अत्यन्ताभावलक्षणमाह—नित्येति नित्यत्वे सति संसर्गाभावत्वमित्यर्थः । ध्वसादायतिव्याप्तिवारणाय नित्यपद । नन्वन्यन्ताभासस्य नित्यत्वे घटानयनानन्तर घटप्रत्यपि भूतले घटो नास्तीति प्रतीति रथादत्त आह यत्र त्विति, घटादिक्रमपसारितमिति कथनेन घटान्यन्ताभासस्य भूतले प्रदर्शित ।

घटकालस्य सम्बन्धाघटकतया अत्यन्ताभावस्य नित्यत्वेऽपि घटकाले न घटात्यन्ताभावबुद्धिः । तत्र उत्पादविनाशशाली चतुर्थोऽयमभाव इति केचित् । अत्र ध्वंसप्रागभावयोरधिकरणे नात्यन्ताभाव इति प्राचीनमतं, श्यामघटे रक्तो नास्तीति रक्तघटे श्यामो नास्तीति धीश्च प्रागभावं ध्वंसं चावगाहते न तु तदत्यन्ताभावम् तयोर्विरोधात् ।

घटकालस्य सम्बन्धाघटकतयेति, अयमाशयः—घटाभाववत्ताबुद्धिनियामको न केवलं स्वरूपसम्बन्धः, किन्तु तद्देशावच्छेदेन घटानधिकरणकालविशिष्टं तत्सद्भूतत्वादिकमिति समवायनिरूपणादसंर " इत्थं च तत्तत्कालीन " मित्यादिना प्रतिपादितं । तथा च घटाधिकरणकालस्य नैतादृशसम्बन्धघटकत्वं सम्भवतीत्यतः सम्बन्धाभावादेव घटान्यन्ताभावस्य नित्यत्वेऽपि घटाधिकरणकाले न घटात्यन्ताभावबुद्धिरिति । तत्रेति यत्र कदाचिदभावज्ञान भवति कदाचिच्च प्रतियोगिज्ञानं भवति तत्रेत्यर्थः । चतुर्थोऽयमभाव इति सामयिकभाव इत्यर्थः । केचिदित्यनेन च कालविशेषविशिष्टस्वरूपस्याभावसम्बन्धत्वकल्पनादेव घटकाले घटो नास्तीति प्रतीत्यभावोपपन्नौ अतिरिक्तसामयिकभावे मानाभाव इत्यस्वरसः सूचितः । अत्र नवीनप्रार्चीनमतभेदं दर्शयति—अत्र ध्वंसप्रागभावयोरधिकरणे इति, ननु यदि ध्वंसप्रागभावयोरधिकरणे नात्यन्ताभावः कथं तर्हि रक्तप्रागभावाधिकरणे श्यामघटे रक्तं रूपं नास्ति, एव श्यामरूपध्वंसाधिकरणे च रक्तघटे श्यामं नास्तीति बुद्धिः ? अत आह—श्यामघट इति । तयोर्विरोधादिति अत्यन्ताभावेन सह ध्वंसप्रागभावयोर्विरोधादित्यर्थः । अत्र नास्तीति प्रतीतेरत्यन्ताभावावगाहित्वमेवेति शङ्काकर्तुः (नवीनस्य) अभिप्रायः, प्रार्चीनानां तु तत्र मानाभावान्नास्तीति प्रतीतेर्ध्वंसप्रागभावव्यापि विषयी भवत एवेति बोध्यं । ननु यदि रक्तं रूपं नास्तीति प्रतीतिः रक्तध्वंसप्रागभाववगाहित्वमपि भवति तदा पूर्वं रक्ते पुनः पाकेन श्यामे पुनश्च रक्ते पुनश्च श्यामे पुनश्च रक्ते घटे मध्यरक्ततादृशायां पूर्वापररक्तरूपध्वंसप्रागभावयोः सम्बन्धेऽपि घटे रक्तं रूपं नास्तीति बुद्ध्यापत्तिरिति नवीनानां तात्पर्यादाह—

नव्यास्तु तत्र विरोधे मानाभावात् ध्वसादिमालावच्छेदेनाप्यत्यन्ता-
भावो वर्तते इति प्राहुः । नन्वस्तु अभावानामधिकरणात्मकत्व लाघ-
वादिति चेन्न, अनन्ताधिकरणात्मकत्वकल्पनापेक्षयातिरिक्तकल्पनाया
एव लघीयस्तात् । एव च आधाराधेयभावोऽप्युपपद्यते । एव च
तत्तच्छब्दगन्धरसाग्रभावानां प्रत्यक्षत्वमप्युपपद्यते । अन्यथा
तत्तदाधिकरणानां तत्तदिन्द्रियैरग्राहत्वात्प्रत्यक्षत्व स्यात् । एतेन ज्ञान-
विशेषमालविशेषात्प्रत्यक्षत्वमत्यन्ताभावस्येति प्रत्युक्तमप्रत्यक्षत्वापत्तेः ॥

इदानीं पदार्थानां साधर्म्यं वैधर्म्यं च वक्तुं प्रक्रमते—

सप्तानामपि साधर्म्यं ज्ञेयत्वादिकमुच्यते ॥ १३ ॥

समानो धर्मो येषां ते सधर्माणः तेषां भावः साधर्म्यं समानो
धर्म इति फलितार्थः । एव विरुद्धो धर्मो येषां ते विधर्माणः तेषां
भावो वैधर्म्यं विरुद्धो धर्म इति फलितार्थः । ज्ञेयत्व ज्ञानविषयता

नव्यास्तिवति । तत्र ध्वसप्रागमानयो, अयत्ताभावेन सहेतिशेष । प्रभा
कर शङ्कते—नन्विति । अनन्ताधिकरणात्मकत्वकल्पनापेक्षयेति, तथा च
यथा समरायस्थले अनन्तम्वरुपाणां रुम्बदस्त्वकल्पनापेक्षया लाघवात्तदतिरिक्त-
समप्रयसिद्धिस्तद्वदिहापि अनन्ताधिकरणेषु अभावप्रकल्पनापेक्षया भावतिरि-
क्ताभावकल्पनमेवोचितमिति भावः । अत्रेदे आधाराधेयभावो न सम्भ्रतीति यो
दोष सोऽप्यास्मिन्नेते नाम्नीयाह—एव चेति अधिकरणापेक्षयातिरिक्तत्रै चैत्यर्थः ।
ननु नैयायिकैरपि अभावाधिकरणकामादस्य लाघवात्तदधिकरणा मकत्रमेव स्वीकृतं,
तथा च यथा तत्राधाराधेयभावान्यत्रस्या तथा सर्वत्राप्यस्तिन्यतो दृषणात्तरमाह—
एव चेति। अन्यथा अभावास्याधिकरणा मकत्रे। एतेनेति पूर्वोक्तं दृषणेनेत्यर्थः ॥

इदानीमिति पदार्थनिरूपणानन्तरं, तद्वनिरूपणे तत्तदपदार्थप्रदितस्य तत्तत्प्र-
दार्थस्य साधर्म्यतया निरूपणात्सम्भवादिति भावः । समानो धर्मः सधर्मस्तस्य
भावः साधर्म्यमेव विरुद्धो धर्मो विधर्मस्तस्य भावो वैधर्म्यमिति भगवत्
णाय ऋषीहिमाह—समानो धर्मो येषामिति । ज्ञेयत्वं किं नामेयत् आह ज्ञान—

सा च सर्वत्रैवास्ति ईश्वरादिज्ञानविषयतायाः केवलान्वयित्वात् । एव-
मभिधेयत्वप्रमेयत्वादिकं बोध्यम् ॥ १२ ॥ १३ ॥

द्रव्यादयः पञ्च भावा अनेके समवायिनः ।

सत्तावन्तस्त्रयस्त्वाद्या गुणादिर्निर्गुणक्रियः ॥ १४ ॥

द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषाणां साधर्म्यमनेकत्वं समवायित्वं च ।
यद्यप्यनेकत्वमभावेऽप्यस्ति तथाप्यनेकत्वे सति भावत्वं पञ्चानां साध-
र्म्यम् । तथा चानेकभाववृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिमत्त्वमिति फलि-

विषयता । सा ज्ञानविषयता । केवलान्वयित्वाद्देति वृत्तिमदस्यन्ताभावप्रति
योगितानवच्छेदकधर्मवत्त्वादित्यर्थः । मूले ज्ञेयत्वादिकमित्युक्तं तत्रादिपदार्थसाह
मुक्तावस्थां एवमभिधेयत्वेति अभिधेयत्वमभिधाविषयत्वं, अभिधा चात्र सङ्केत
एवेति ज्ञेयं । प्रमेयात्वादिकमित्यादिना काष्ठसम्बन्धस्वरूपास्तिवपरिग्रहः ॥ १२ ॥

अत्र द्रव्यादि पदेषु साधर्म्यं भावत्वं तच्च स्पष्टमेवेति तदुपेक्ष्य मूले
द्रव्यादीनां पञ्चानां साधर्म्यं प्रयञ्चित्त द्रव्यादय इत्यादिना । अनेकत्वे सति
भावत्वमिति एतं च मूले द्रव्यादयः पञ्चस्युदेत्यपद, भावा अनेके इति
च विधेयपदमिति बोध्यं । अनेकभाववृत्तीत्यादि अत्र चानेकत्वं न तावत्सं-
ख्यारूपं, गुणादौ तदभावात्, नापि यत्किञ्चिदेकमिन्नत्वं, समवायेऽतिव्याप्त्या-
पत्तेः । नापि चैकत्वावच्छिन्नमिन्नत्वं, तत्रापि यदि सरव्यात्प्रमेयैकत्वं तदा सम-
वायस्यापि सरव्यारूपैकत्वावच्छिन्नाभिन्नत्वेन पूर्वोक्तातिव्याप्तितादय इत्यादतोऽत्राने-
कत्वं स्वप्रतियोगिभूतित्त्वं स्वसामानाधिकरण्योभयसम्बन्धेन भेदविशिष्टरूपं बो-
ध्यम् । तथा च स्वप्रतियोगिभूतित्त्वं स्वसामानाधिकरण्योभयसम्बन्धेन भेदविशि-
ष्टत्वे सति भाववृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिमत्त्वमिति लक्षणवाक्यस्यार्थोऽवसेयः ।
अत्र स्वपदेन द्रव्यादिविभाजकधर्मावच्छिन्नभेदो यथा पृथिवीभेदः तस्य
प्रतियोगिनी पृथिवी तद्वृत्तित्वं द्रव्यात्वस्य, पुनर्द्वितीयपञ्चान्येनापि पृथिवीभेद
एव तत्सामानाधिकरण्यमपि द्रव्यत्वेऽस्त्येव, इत्येवं सर्वत्र लक्षणसमन्वयो

प्रतज्ञान् । एवं परममहत्परिमाणमतीन्द्रियसामान्यं विशेषाश्च बोध्याः ।
इदमपि योगिप्रत्यक्षे विषयस्य न कारणत्वम् । ज्ञायमानसामान्यं न
प्रत्यासत्तिः । ज्ञायमानं त्रिङ्गं नानुमितिकारणमित्याभिप्रायेणोक्तम् ।
आत्ममानसप्रत्यक्षे आत्ममहत्त्वस्य कारणत्वात्परममहत्परिमाण

नामाणुतर परिमाणमेव जनयेत् । एव च सति व्यणुकादेः प्रयत्नेन
न स्यात्तेषु महत्त्वाभावादिनि शिक् । मृदस्य न्यूनता परिहरति—एवमिति
यथा परिमाणेन न कस्यापि कारण तद्वत्परममहत्परिमाणमतीन्द्रियसा-
मान्य विशेषाश्च, चकाराद्द्वयणुकल्पमनुपपद्येव नष्टा. परमाणुत्वाद्य न
कस्यापि कारणमिति बोध्य इत्यर्थ । ननु योगिप्रत्यक्षेऽणुपरिमाणस्याप्यस्म
दादीना घटप्रत्यक्षे घट इव विषयविधया कारणत्वात्परिमाणुत्वमित्यभिधानामि-
त्यशुक्तमुक्तमत आह—इदमपीति परिमाणुत्वमित्यभिधाना कारणत्वसाधनैककथनमर्थ-
त्यर्थ । योगिप्रत्यक्षे विषयस्य न कारणत्वमित्यभिप्रायेणोक्तमिति परेणान्वय ।
योगिना यथातीतादिस्तुविषयकप्रत्यक्षे विषयाभावात्तत्र विषयस्य कारणत्व तद्वद्व-
र्तमानविषयकमपि योगिप्रत्यक्षे योगजप्रमेणैव सम्भवतीति न तत्र विषय-
स्य कारणत्वकल्पन, अस्मदादिप्रत्यक्षस्य तु विषयाभावे कुत्राप्यनुत्पन्नत्वा-
त्तत्रावश्यम् विषयस्य कारणत्वकल्पनमिति भाव । ननु सामान्यलक्षणया
मनस्येव रूपेण निखिलमनसा बोधे मनसस्य सम्बन्धविधया कारणत्वात्,
परमाणुभेदाद्यनुमितौ विशेषस्य च हेतुविधया कारणत्वादेतीन्द्रियसामान्यादेर-
कारणत्वकल्पनमशुक्तमत आह—ज्ञायमानमिति वर्तमानकालीनज्ञानविषयभूत
सामान्यं न प्रत्यासत्ति, किंतु सामान्यज्ञानं प्रत्यासत्तिरित्यर्थ । एव ज्ञाय-
मानं त्रिङ्गं नानुमितिकारणं किंतु त्रिङ्गज्ञानं कारणमिति नानाभिप्रायेणो-
क्तमित्यर्थ । एतत्तत्र तत्रैव स्फुटीभविष्यति । आत्ममानसेति आत्मनो
यन्मानसं प्रयत्नमहत् सुखीयाद्याकारकं तत्र आत्मपरममहत्त्वस्येति रूपं
विषयकलौकिकप्रत्यक्षे समवायेन महत्त्वस्य कारणत्वादेति भाव । आका-
शादेरिति नानाकाशवृत्तिपरममहत्परिमाणस्यापि शब्दप्रत्यक्षं प्रति

आकाशादेर्बोध्यम् । तस्यापि न कारणत्वमित्याचार्याणामाशय इत्यन्ये,
तत्र, ज्ञानातिरिक्तं प्रत्येव कारणताया आचार्यैरुक्तत्वात् ॥ १५ ॥

ननु कारणत्वं किम्, अत आह—

अन्यथासिद्धिशून्यस्य नियता पूर्ववर्तिता ॥

स्वाश्रयसमवायसम्बन्धेन कारणत्वात्परममह-परिमाणमाकाशादेर्बोध्यमित्यपि
न सङ्गतमिति चेन्न, अणुवृत्तिरूपदिप्रत्यक्षापतिवारणाय द्रव्यसमवेतवृत्तिलौ-
किकप्रत्यक्षं प्रति महत्त्वस्य स्वातन्त्र्येण कारणत्वेऽपि पृथिवीपरमाणौ पृथि-
वीन्वस्य प्रत्यक्षापतिः स्यादतः सन्निकर्षघटकीभूनेन्द्रियसम्बन्ध एव महत्त्वा-
वच्छिन्नव्यतिशेषणं देयं । तत्राप्यन्धकारादौ घटचक्षुःसंयोगे सति स्प-
र्शनापात्तिवारणाय द्रव्यचाक्षुषं प्रति महत्त्वाद्यवच्छिन्नचक्षुःसंयोगस्य, द्रव्य-
समवेतचाक्षुषं प्रति महत्त्वाद्यवच्छिन्नचक्षुःसंयुक्तसमवायस्य, रसविषयकरा-
सनप्रत्यक्षं प्रति महत्त्वाद्यवच्छिन्नरसनासंयुक्तसमवायस्य, एव प्राणजादिप्रय-
क्षेऽपि विशिष्यैव कार्थ्यकारणभावो वाच्यो, न तु सामान्यस्त्वेणापीन्येमे स्फु-
टीभवति, तथा च शब्दप्रत्यक्षं प्रति केवलं श्रोत्रावच्छिन्नसमवायस्यैव
कारणत्वे न किञ्चिदनुपपन्नता न तत्र महत्त्वस्य कारणत्वमस्त्याशया-
देवात्मपरममहत्त्वस्यापि न कारणत्वमिति केञ्चित्सिद्धातितामिति दिक् । वस्तुतस्तु
महत्त्वं पञ्चैवे हेतुरिति मूलेन टावदाप्यङ्गविधप्रत्यक्षत्ववच्छिन्नं प्रति महत्त्वस्य
कारणताया अग्रे वक्तव्यतया आकाशादेरित्यस्यात्द्रुणसन्निधानबहुर्बाहिकणा-
त्कालादिशोः परिमाणं बोध्यमित्यर्थः । तस्यापीति अनुपदेशकयुक्तया आत्म-
परममहत्परिमाणस्यापि न कारणत्वमित्यर्थः । ज्ञानातिरिक्तं प्रतीति,
तथा च ज्ञानातिरिक्तभावकार्थं प्रत्येव परिमाणद्वन्द्वानां न कारणत्वमित्याचा-
र्याणामाशयादात्ममानसप्रत्यक्षे च आत्मपरममहत्त्वस्य कारणत्वात् परमम-
हत्परिमाणमाकाशादेरेव बोध्यमित्यन्यत्र विन्तः ॥ १५ ॥

कारणत्वनिरूपणे प्रसङ्गतमिति दर्शयति-नन्विति । अन्यथासिद्धीति
तथा चान्यथासिद्धिशून्यस्य वस्तुनः या नियता नाम कार्थ्यमनाधिकरणा-

समवायिकारणम् । तत्र कार्येण घटेन सह कारणस्य रूपालसयोगस्यै-
 कस्मिन्कपाले प्रत्यासत्तिरास्ति । द्वितीयं यथा । घटरूप प्रति कपा-
 लरूपमसमवायिकारणम् । तत्र स्वगतरूपादिकं प्रति समवायिकारण
 षटः तने सह रूपालरूपस्यैकस्मिन्कपाले प्रत्यासत्तिरास्ति । तथा च
 क्वचित्समवायसन्धेन क्वचिस्त्वसमवायिसमवेतत्वसन्धेनेति फलितो-
 ऽर्थः । इत्य च कार्यकारणैरर्थान्यतरप्रत्यासत्त्या समवायिकारणे
 प्रत्यासन्नं कारणं ज्ञानादिभिन्नमसमवायिकारणमिति सामान्यलक्षण पर्य-
 वसन्नम् । आभ्यां समवायिकारणासमवायिकारणाभ्यां परं भिन्न
 कारणं तृतीय निमित्तकारणमित्यर्थः ॥ १८ ॥

इदानीमन्यथासिद्धत्वमेव कियतां पदार्थानामत आह—

येन सह पूर्वजावः कारणमादाय वा यस्य ।

अन्यं प्रति पूर्वजावे ज्ञाते यत्पूर्वजावविज्ञानम् १९

जनकं प्रति पूर्ववृत्तितामपरिज्ञाय न यस्य गृह्यते ।

आतिरिक्तमथापि यद्भवेशियतावश्यकपूर्वजाविनः २०

यत्कार्यं प्रति कारणस्य पूर्ववृत्तिता येन रूपेण गृह्यते तत्कार्यं
 प्रति तद्रूपमन्यथासिद्धमित्यर्थः । यथा घटं प्रति टण्डत्वमिति ॥ द्विती-

लक्षणमाह—इत्थं चेति समवायस्वाश्रयसमवायायतरमन्त्रेण समवायिकारणे

प्रयामन्नत्वे प्रति आत्ममात्रसमवेतामिन्नत्रे च सति कारणरूपसमवायिका

रणमिति सामान्यलक्षण पर्यमित बोद्धव्यं । आभ्यामित्यादि समवायि-

कारणताऽसमवायिकारणतया भिन्नकारणतापरिमित्यर्थं तेन कालपि

ण्डमयोगे प्रति कालस्य समवायिकारणत्वेऽपि न तस्य कार्यमात्र प्रति नि-

मित्तकारणप्रत्याघात इति दिक् ॥ १८ ॥

यत्कार्यं प्रति चेति यत्कार्यं प्रति चेति प्रतीत्यर्थः । येन रूपेणेति यद्गर्भाव
 ष्टिनेन । तदेव घट्यति—यथेति । यस्य स्वातन्त्र्येणेति । किंतु कारणमिति

यमन्यथासिद्धमाह कारणमिति । यस्य स्वातन्त्र्येणान्वयव्यतिरेकौ-
न स्तः किं तु कारणमादायैवान्वयव्यतिरेकौ दृश्येते तदन्यथासिद्धम् ।
यथा दण्डरूपम् ॥ तृतीयमाह अन्यं प्रतीतिः । अन्यं प्रति पूर्ववृत्तित्वं
गृहीत्वैव यस्य यत्कार्यं प्रति पूर्ववृत्तित्वं दृश्यते तस्य तत्कार्यं प्र-
त्यन्यथासिद्धत्वम् । यथा घटादिकं प्रत्याकाशस्य । तस्य हि घटादिकं
प्रति कारणत्वमाकाशत्वेनैव स्यात् । आकाशत्व हि शब्दसमवायि-
कारणत्वम् । एवं च तस्य शब्दं प्रति जनकत्वं गृहीत्वैव घटादिकं
प्रति जनकत्वं ग्रहणमतस्तदन्यथासिद्धम् ॥ ननु शब्दाश्रयत्वेन तस्य
कारणत्वे फलान्यथासिद्धिरिति चेत्, पञ्चमीति गृहाणा नन्वाकाशस्य
शब्दं प्रति जनकत्वे किमवच्छेदकमिति चेत्कवच्चादिकं विशेष-
पदार्थो वेति ॥ चतुर्थमन्यथासिद्धमाह । जनकं प्रतीतिः । यत्कार्य-
जनकं प्रति पूर्ववृत्तित्वं गृहीत्वैव यस्य यत्कार्यं प्रति पूर्ववृत्तित्वं
दृश्यते तस्य तत्कार्यं प्रत्यन्यथासिद्धत्वम् । यथा कुलालपितृपटं प्रति ।
तस्य हि कुलालपितृत्वेन पटं प्रति जनकत्वे एवान्यथासिद्धिः ।

स्वकारणमित्यर्थः । कारणत्वं चात्र पृथगन्वयव्यतिरेकशालित्वं, तेन कारणताकुशा-
वन्ययगीसद्भिप्रवेशेऽपि नानाश्रयः । यद्यन्वयव्यतिरेकप्रयुक्तान्वयव्यतिरेक-
शालित्वमित्युक्तौ प्रथमद्वितीयान्यथासिद्धयोः सङ्गो सम्भवति, तथापि भेदे-
नान्यथासिद्धिद्वयप्रदर्शनं शिष्यब्रुवित्थैशकार्यमिति बोध्यम् । द्वितीयान्यथासिद्धि-
भुदाहरति—यथा दण्डरूपमिति । तृतीयमाहोति । अन्यं प्रतीतिः फला-
जनकं प्रकृतकार्यदिग्धं प्रतीत्यर्थस्तेन न चतुर्थान्यथानिधे कुलालजनक-
तिव्याप्तिः । तदेव घटमिति—यथेत्यादिना । तस्याकाशस्य । एवं चेति
आकाशत्वेन कारणवर्णकारे चेत्यर्थः । शङ्कते नन्वित्यादिना शब्दकारण-
त्वज्ञानाभावादिति भावः । उत्तरयति—पञ्चमीति । कवच्चादिकमिति विनि-
गमनादियरेणेण बहूनां वर्णानां कारणतावच्छेदकत्वकल्पने गौरवादाह—विशेषपदार्थो
वेति । चतुर्थमन्यथासिद्धमाहोति, यत्कार्यजनकं प्रतीतिः फलजनकमन्यं

कुलालत्वेन जनकत्वे त्विष्टापत्तिः, कुलालमात्रस्य घटं प्रति जनकत्वात् ॥ पञ्चममन्यथासिद्धमाह । अतिरिक्तमिति । अवश्यवत्त्वमनियतपूर्ववर्तिन एव कार्यसंभवे तद्विन्नमन्यथासिद्धमित्यर्थः । अत एव मत्स्ये महत्त्वं कारणम् अनेकद्रव्यत्वमन्यथासिद्धम् । तत्र द्वि-
महत्त्वमवश्यं क्लृप्तं तेनानेकद्रव्यत्वमन्यथासिद्धम् । न च वैपरीत्ये किं विनिगमकमिति वाच्यम्, महत्त्वत्वजातेः कारणतावच्छेदकत्वे लाघवात् ॥ १९ ॥ २० ॥

एतेपञ्चान्यथासिद्धा दण्डत्वादिकमादिमम् ।

घटादौ दण्डरूपादि द्वितीयमपि दर्शितम् ॥ २१ ॥

प्रतीत्यर्थः । अवश्यवत्त्वमिति अवश्यवत्त्वमनियतपूर्ववृत्तिभिन्नमन्यथासिद्धमित्यर्थः । अवश्यवत्त्वमथात्र लघुत्वे सतीतरनिषिद्धताकार्यकारणसत्त्वे यदभावात्तदकार्याभावः स तत्रान्यवत्त्वमः । लघुत्वं च शरीरकृतमुपस्थितिकृतं सम्बन्धकृत चेति । तत्र प्रथममनेकद्रव्यत्वशापेक्षया महत्त्वे महत्त्वत्वजातेः कारणतावच्छेदकत्वे लाघवान् । द्वितीयं गन्धं प्रति रूपप्राग्भावापेक्षया गन्धप्राग्भावे, तत्राभावज्ञानं प्रति प्रतियोगिज्ञानस्य कारणत्वाद्गन्धज्ञाने गन्धप्राग्भावात्सर्वं प्रथमोपस्थितत्वात् । घटं प्रति स्वाश्रयजन्यभ्रमिवत्त्वसम्बन्धेन दण्डत्वस्य कारणत्वकल्पनापेक्षया स्वजन्यभ्रमिवत्त्वसम्बन्धेन दण्डस्य कारणत्वकल्पने च तृतीयम् । ननु ग्रन्थान्तरेष्वन्यत्रल्लमेति दृश्यते तत्कथमत्रावश्यवत्त्वमिति श्रुतमत आह—अत एवेति अन्यथा महत्त्वानेकद्रव्यत्वयोः समनियतत्वेन महत्त्वेनानेकद्रव्यत्वस्यान्यथासिद्धत्वं न स्यादिति भावः । अथवाऽवश्यवत्त्वमित्यस्य लघ्ववश्यवत्त्वमद्वयपरत्वमेव स्पष्टयति—अत एवेत्यादिना । वैपरीत्येति अनेकद्रव्यत्वमेव कारणं महत्त्वं त्वन्यथासिद्धमिति वैपरित्य इत्यर्थः । महत्त्वत्वजातेरिति अनेकद्रव्यत्वं चात्राणुभिन्नद्रव्यत्वं तथा चैतादृशानेकद्रव्यत्वत्वापेक्षया महत्त्वत्वजातेरेव कारणतावच्छेदकत्वकल्पनमुचितमिति भावः ॥ १९—२० ॥

तृतीयं तु चवेद्योम कुलाक्षजनकोऽपरः ।

पञ्चमो रासजादिः स्यादेतेष्वभावश्यकस्त्वसौ ॥२२॥

रासथाश्रितिति । यद्यपि यत्किञ्चिद्यद्व्यक्तिं प्रति रासमस्य नियतपूर्ववर्तित्वमास्ति, तथापि घटजातीयं प्रति सिद्धकारणभावैर्दण्डादिभिरेव तद्व्यक्तेरपि संभवे रासमोऽन्यथासिद्ध इति भावः । एतेष्विति । एतेषु पञ्चस्वन्यथासिद्धेषु मध्ये पञ्चमोऽन्यथासिद्ध अवश्यकः, तेनैव परेषां चरितार्थत्वम् । तथाहि । दण्डादिभिरवश्यकत्वमप्रातिनियतपूर्ववर्तिभिरेव कार्यसंभवे दण्डत्यागिकमन्यथासिद्धम् । न च वैपरीत्ये किं विनिगमकमिति वाच्यम्, दण्डत्वस्य कारणत्वे दण्डघटितपरम्परायाः संबन्धत्वकल्पने गौरवात् । एवमन्वेषामप्यनेनैव चरितार्थत्वं संभवतीति ॥ २१ ॥ २२ ॥

एतेष्विति । परेषामिति दण्डवदण्डरूपादीनां च समूह इत्यर्थः । तदेव घटयति—तथाहीत्यादिना, अपमाशय—यथा घटं प्रति दण्डः कारणं तथैव दण्डादिकमपीनितु वक्तुमेव बोधि । दण्डादिरूपेतरनिमित्तकारणसत्त्वे दण्डत्वभावत्वाद्यथाभावस्य यत्तनुमनुचितत्वेन दण्डत्वे घटनिमित्तितावश्यवस्तुत्वत्वैवाभावात् । किंतु घट प्रति स्वजन्यभ्रमिवत्त्वसम्बन्धेन दण्डः कारणं स्यान्नदण्डजन्यभ्रमिवत्त्वसम्बन्धेन दण्डत्वादिकं वा कारणमित्यत्र विनिगमकाभावेनैव योऽपि कारणत्वं प्रामोति, तत्र दण्ड एव कारणं दण्डत्वादिकं नान्यथासिद्धमिति हि सिद्धान्तः । तत्र प्रथमतः शिष्यबुद्धिवैशद्यार्थं दण्डत्वादीनामन्यथासिद्धत्वं येन सह पूर्वभाव इत्यादिना भिन्नभिन्नतया प्रदर्शितं, सप्रति दण्डत्वादीनां सर्वेषां पञ्चमान्यथासिद्धेनैव चरितार्थत्वं घटयति तथाहीत्यागम्य कारिकायाऽप्यासमाधिपद्यन्तं, तथाहि घट प्रति दण्डत्वस्य कारणत्वं स्यान्नदण्डजन्यभ्रमिवत्त्वसम्बन्धेन यत्कस्यं, दण्डस्य तु केवलं स्वजन्यभ्रमिवत्त्वसम्बन्धेनेति सम्बन्धवृत्तत्वाद्यथादण्ड एव घटं प्रत्यवश्यकत्वमास्तेन तद्विन्न दण्डत्वादिकमन्यथामिद्धं, एवमेव दण्डरूपस्याप्यन्यथासिद्धत्वं बोध्यम् । दण्डादिरूपेतरनिमित्तघटकारणत्वात्

कुलालत्वेन जनकत्वे त्विष्टापत्तिः, कुलालमात्रस्य घटं प्रति जनक-
त्वात् ॥ पञ्चममन्यथासिद्धमाह । अतिरिक्तमिति । अवश्यकृतमनि-
यतपूर्ववर्तिन एव कार्यसंभवे तद्भिन्नमन्यथासिद्धमित्यर्थः । अत एव
मत्स्ये महत्त्वं कारणम् अनेकद्रव्यत्वमन्यथासिद्धम् । तत्र द्वि-
महत्त्वमवश्यं कृतं तेनानेकद्रव्यत्वमन्यथासिद्धम् । न च वैपरीत्ये
किं विनिगमकमिति वाच्यम्, महत्त्वत्वजातेः कारणतावच्छेदकत्वे
लाघवात् ॥ १९ ॥ २० ॥

एतेपञ्चान्यथासिद्धा दण्डत्वादिकमादिमम् ।

घटादौ दण्डरूपादि द्वितीयमपि दर्शितम् ॥ २१ ॥

प्रतीत्यर्थः । अवश्यकृतमिति अवश्यकृतनियतपूर्ववृत्तिभिन्नमन्यथासिद्ध-
मित्यर्थः । अवश्यकृतमात्रं लघुत्वे सतीतरनिखिलतकार्थकारणसत्त्वे यद-
भावात्तत्कार्याभावः स तत्रावश्यकृतमः । लघुत्वं च शरीरकृतमुपस्थिति कृतं
सम्बन्धकृतं चेति । तत्र प्रथममनेकद्रव्यत्वापेक्षया महत्त्वे महत्त्वत्वजातेः
कारणतावच्छेदकत्वे लाघवात् । द्वितीयं गन्ध प्रति रूपप्रागभावोपेक्षया गन्ध-
प्रागभावे, तत्रामावज्ञानं प्रति प्रतियोगिज्ञानस्य कारणत्वाद्वान्धज्ञाने गन्धप्राग-
भावस्यैव प्रथमोपस्थितत्वात् । घटं प्रति स्वाश्रयजन्यधर्मिवस्त्रसम्बन्धेन दण्ड-
त्वस्य कारणत्वकल्पनोपेक्षया स्वजन्यधर्मिवत्वसम्बन्धेन दण्डस्य कारणत्वकल्पने
च तृतीयम् । ननु मन्थान्तरेण्यन्यत्रकल्पनेति दृश्यते तत्प्रथमत्रावश्यकृतमिति
श्रुतमत आह—अत एवेति अन्यथा महत्त्वानेकद्रव्यत्वयोः समनियतत्वेन
महत्त्वेनानेकद्रव्यत्वरस्यान्यथासिद्धत्वं न स्पष्टमिति भावः । अथवाऽवश्यकृतमिति तस्य
लघुत्वमवश्यकृतमत्वपरत्वमेव स्पष्टयति—अत एवेत्यादिना । वैपरीत्येति अनेक-
द्रव्यत्वमेव कारणं महत्त्वं त्वन्यथासिद्धमिति वैपरित्य इत्यर्थः । महत्त्वत्वजाते-
रिति अनेकद्रव्यत्वं चात्राणुभिन्नद्रव्यत्वं तथा चैतादृशानेकद्रव्यत्वत्वापेक्षया महत्त्व-
त्वजातेरेव कारणतावच्छेदकत्वकल्पनमुचितमिति भावः ॥ १९—२० ॥

तृतीयं तु जवेह्योम कुलालजनकोऽपरः ।

पञ्चमो रासजादिः स्यादेतेष्ववश्यकस्त्वसौ ॥२२॥

रासभादिरिति । यद्यपि यत्किञ्चिद्दृष्टव्यं प्रति रासभस्य नियतपूर्ववर्तित्वमास्ति, तथापि घटजातीयं प्रति सिद्धकारणभावेर्दण्डादिभिरेव तद्घटकेरपि संभवे रासभोऽन्यथासिद्ध इति भावः । एतेष्विति । एतेषु पञ्चस्वन्यथासिद्धेषु मध्ये पञ्चमोऽन्यथासिद्ध अवश्यकः, तेनैव परेषां चरितार्थत्वम् । तथाहि । दण्डादिभिरेवप्यकृतस्य प्रतिनियतपूर्ववर्तिभिरेव कार्यसंभवे दण्डत्वादिकमन्यथासिद्धम् । न च वैपरीत्ये किं विनिगमकमिति वाच्यम्, दण्डत्वस्य कारणत्वे दण्डघटितपरम्परायाः संबन्धत्वकल्पने गौरवात् । एवमन्येषामप्यनेनैव चरितार्थत्वं संभवतीति ॥ २१ ॥ २२ ॥

एतेष्विति । परेषामिति दण्डव्यदण्डरूपादीनां च मग्रह इत्यर्थः । तदेव घटयति—तथाहीत्यादिना, अयमाशयः—यथा घटं प्रति दण्डः कारणं तथैव दण्डादिकमपीतितु वक्तुमेव नोचितं दण्डादिरूपेतरनिमित्तकारणसत्त्वे दण्डाभावात्घटाभावस्य वक्तुमनुचितत्वेन दण्डत्वे घटनिमित्तावश्यवत्तृणत्वत्वाभावात् । किंतु घटं प्रति स्वजन्यभ्रमिवत्त्वसम्बन्धेन दण्डः कारणं साश्रयदण्डजन्यभ्रमिवत्त्वसम्बन्धेन दण्डत्वादिक वा कारणमित्यत्र विनिगमकभावेनेत्येवमप्येवमिति कारणत्वं प्राप्नोति, तत्र दण्ड एव कारणं दण्डत्वादिक स्वन्यथासिद्धमिति हि सिद्धान्तः । तत्र प्रथमतः शिष्यबुद्धिवैश्यायं दण्डत्वादीनामन्यथासिद्धत्वं येन सह पूर्वभाव इत्यादिना भिन्नभिन्नतया प्रदर्शित, संप्रति दण्डत्वादीनां सर्वेषां पञ्चमान्यथासिद्धेनैव चरितार्थत्वं घटयति तथाहीत्याशय कारिकाव्याख्यासमाप्तिपर्यन्तं, तथाहि घटं प्रति दण्डत्वात् कारणत्वं स्वाश्रयदण्डजन्यभ्रमिवत्त्वसम्बन्धेन वक्तव्यं, दण्डस्य तु केवलं स्वजन्यभ्रमिवत्त्वसम्बन्धेनेति सम्बन्धकृतलघवाद्दण्ड एव घटं प्रत्यवश्यकत्वात्तस्तेन तद्विन्न दण्डत्वादिकमन्यथासिद्धं, एवमेव दण्डरूपस्याप्यन्यथासिद्धत्वं बोद्धव्यम् । दण्डादिरूपेतरनिमित्तघटकारणसत्त्वे

समवायिकारणत्वं द्रव्यस्यैवेति विज्ञेयम् ।

गुणकर्ममात्रवृत्ति ज्ञेयमथाप्यसमवायिहेतुत्वम् ॥२३॥

समवर्धीति—स्पष्टं । गुणकर्मोति । असमवायिकारणत्वं गुणकर्मभि-
न्नानां वैधर्म्यं न तु गुणकर्मणोः साधर्म्यमित्यत्र तात्पर्यम् । अथवा
असमवायिकारणवृत्तिसत्ताभिन्नजातिमत्त्वं तदर्थः । तेन ज्ञानादीनाम-
समवायिकारणत्वविरहेऽपि न क्षतिः ॥ २३ ॥

आकाशाभावाद्घटाभावस्यादृष्टचरत्वेन न घटं प्रत्याकाशस्यावश्यकत्वमित्या-
काशः घटं प्रत्यन्यथासिद्धः । यद्यप्येव शब्दं प्रत्यप्याकाशस्यान्यथासिद्धत्वं
स्यादभिधातादिरूपेतरनिखिलशब्दकारणसत्त्वे आकाशाभावान्छब्दाभावस्यापि
वक्तुमशक्यत्वात्, तथाप्याकाशस्य शब्दसमवायिकारणत्वेनैवाग्रे साधयिष्य-
माणत्वान्न शब्दं प्रत्यप्याकाशस्यान्यथासिद्धत्वमिति ध्येयम् । एव कुलाल-
पितुः घटं प्रति कारणत्वं स्वजन्यकुलालजन्यकृतिमत्त्वसम्बन्धेन वक्तव्यं,
कुलालस्य तु स्वजन्यकृतिमत्त्वसम्बन्धेनैवेति सम्बन्धहृतलाघवात्कुलालस्य
घटं प्रति कारणत्वं, तद्विपत्तस्त्वन्यथासिद्धत्वमिति सर्वेषामर्थवान्तर्भावद्वेदेना-
न्यथासिद्धिपक्षकप्रदर्शनं शिष्यबुद्धिधैरायार्थमेवेतिभावः । तथा च कारण-
लक्षणे दण्डत्वादावतिव्यामिवावर्णायाःसमवायिकारणत्वे सतीति, अनियतरास-
भादिवारणाय च नियतेति इति दिक् ॥ २१-२२ ॥

स्पष्टमिति समवायिकारणत्वमित्यादिमूलस्य समवायिकारणत्वं द्रव्यस्यैव
भवतीत्यर्थः स च स्पष्ट एवेति न तत्र प्रथम इत्यर्थः । नन्वात्मविशेषगुणानां
कुत्राप्यसमवायिकारणकत्वाभावान्मृष्टे गुणकर्मणोर्यदसमवायिकारणत्वं साधर्म्य-
मुक्तं तदयुक्तमतो वैधर्म्यपरतया मूळं व्याचष्टे—असमवायिकारणत्वं गुणकर्म-
भिन्नानां वैधर्म्यमिति । नतु साधर्म्यप्रकरणे वैधर्म्यरूपनमयुक्तमत आह—
अथवेति । द्रव्यत्तमादाय द्रव्येऽनिव्यामिवावर्णायाःसमवायिकारणवृत्तीति ।
सत्तामादाय तत्रैवातिव्याप्तिवारणाय सत्ताभिन्नैति । द्रव्यगुणान्यतरत्तमादाय
तत्रैवातिव्याप्तिवारणाय च जार्ताति ॥ २३ ॥

अन्यत्र नित्यद्रव्येभ्य आश्रितत्वमिहोच्यते ।

नित्यद्रव्याणि परमाण्वाकाशादीनि विहायाश्रितत्वं साधर्म्यमित्यर्थः । आश्रितत्वं तु समवायादिसम्बन्धेन वृत्तिमत्त्वम् । विशेषणतया नित्यानामपि कालादौ वृत्तेः ।

इदानीं द्रव्यस्यैव विशिष्य साधर्म्यं वक्तुमारभते क्षित्यादीनामिति । क्षित्यादीनां नवानां तु द्रव्यत्वं गुणयोगिता ॥२४॥ क्षितिर्जलं तथा तेजः पवनो मन एव च ।

परापरत्वमूर्तत्वाक्रियावेगाश्रया अमी ॥ २५ ॥

स्पष्टं पृथिव्यग्नेजोवायुमनसां परत्वापरत्ववत्त्वं मूर्तत्वं क्रियावत्त्वं वेगवत्त्वं च साधर्म्यम् । नच यत्र घटादौ परत्वमपरत्व वा नेत्पत्रं तत्राव्याप्तिरिति वाच्यं, परत्वादिसमानाधिकरणद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात् । मूर्तत्वमपकृष्टपरिमाणवत्त्वम्, तच्च तेषामेव,

ननु गगनादीनामपि गगनादिकं सर्वदैवास्तांति व्यवहारात्कालादौ वृत्तिमत्त्वादन्यत्र नित्यद्रव्येभ्य इति मूलमशुक्तमत आह—आश्रितत्वमिति । समवायादिसम्बन्धेनेति सर्वाधारतानियामकसम्बन्धातिरिक्तसम्बन्धेनेत्यर्थः । विशेषणतयेति कालिकदैशिकसम्बन्धेन । क्षित्यादीना नवानां हिमति मूलस्यतु-शब्दस्यार्थं प्रकटयति—इदानीमित्यादिना । स्पष्टमिति प्रान्वत ॥ २४ ॥

दिकृत्तपरत्वापरत्वयोर्हेतुरयमस्मादेतदपेक्षया बहुतरमूर्तसंयोगातुयोगीत्याद्यपेक्षाद्बुद्धिः, कालकृत्तयोश्चार्थं बहुतरसूर्यपरिस्पन्दाश्रयः इत्याद्यपेक्षाद्बुद्धिर्द्वैत्र नोदन्ना तत्र परत्वापरत्वयोरेतुत्सादादव्याप्तिमादाङ्क्य निषेधति न चेत्यादिना । आत्मन्यनिव्याप्तिवारणाय परत्वादिसमानाधिकरणेति । सत्तामादाय तत्रैवातिव्याप्तिवारणाय द्रव्यत्वव्याप्येति । इत्येव न्वव्याप्यत्वे तु द्रव्यत्वमित्येनापि जातिर्विशेषणीया, तेन न द्रव्यत्वव्याप्यद्रव्यायमादायाकाशादावतिव्याप्तिः । यस्तुतस्तु द्रव्यगन्धरूपवृत्तित्वमेवात्र द्रव्यत्वव्याप्यत्वमिति न द्रव्य-

समवायिकारणत्वं द्रव्यस्थैवेति विज्ञेयम् ।

गुणकर्ममात्रवृत्ति ज्ञेयमथाप्यसमवायिहेतुत्वम् ॥२३॥

समवायीति—स्पष्टं । गुणकर्मिति । असमवायिकारणत्व गुणकर्मभि-
न्नानां वैधर्म्यं न तु गुणकर्मणोः साधर्म्यमित्यत्र तात्पर्यम् । अथवा
असमवायिकारणवृत्तिसत्ताभिन्नजातिमत्त्वं तदर्थः । तेन ज्ञानादीनाम-
समवायिकारणत्वविरहेऽपि न क्षतिः ॥ २३ ॥

आकाशाभावाद्घटाभावस्यादृष्टचरत्वेन न घटं प्रत्याकाशास्यावश्यवत्त्वमित्या-
काशः घटं प्रत्यन्यथासिद्धः । यद्यप्येवं शब्द प्रत्यप्याकाशास्यान्यथासिद्धत्वं
स्यादभिघातादिरूपेतरनिखिलशब्दकारणसत्त्वे आकाशाभावाच्छब्दाभावस्यापि
वक्तुमशक्यत्वात्, तथाप्याकाशस्य शब्दसमवायिकारणत्वेनैवापि साधयिष्य-
माणत्वात् शब्दं प्रत्यप्याकाशास्यान्यथासिद्धत्वमिति ध्येयम् । एष कुटाल-
पितुः घटं प्रति कारणत्वं स्वजन्यकुटालजन्यवृत्तिमत्त्वसम्बन्धेन वक्तव्यं,
कुटालस्य तु स्वजन्यवृत्तिमत्त्वसम्बन्धेनैवेति सम्बन्धवृत्तलाघवात्कुटालस्य
घटं प्रति कारणत्व, तद्विपत्तुस्त्वन्यथासिद्धत्वमिति सर्वेषामत्रैवान्तर्भावोद्भेदेना-
न्यथासिद्धिपत्रकप्रदर्शनं शिष्यवृत्तिवैशद्यार्थमेवेतिभावः । तथा च कारण-
लक्षणे दण्डत्वादावतिव्यामिवावर्णायान्यथासिद्धिशून्यत्वे सतीति, अनिपतरास-
भाविवावर्णाय च नियतेति इति दिक् ॥ २१-२२ ॥

स्पष्टमिति समवायिकारणत्वमित्यादिमूढस्य समवायिकारणत्वं द्रव्यस्थैव
भवतीत्यर्थः स च स्पष्ट एवेति न तत्र प्रयास इत्यर्थः । नन्वात्मविशेषगुणानां
कुत्राप्यसमवायिकारणकत्वाभावाच्चूले गुणकर्मणोर्यदसमवायिकारणत्वं साधर्म्य-
मुक्तं तदयुक्तमतो वैधर्म्यपरतया मूढे व्याचष्टे—असमवायिकारणत्वं गुणकर्म-
भिन्नानां वैधर्म्यमिति । नतु साधर्म्यप्रकरणे वैधर्म्यकथनमयुक्तमत आह-
अथवेति । द्रव्यत्वमादाय द्रव्येऽतिव्यामिवावर्णायसमवायिकारणवृत्तीति ।
सत्तामादाय तत्रैवातिव्यामिवावर्णाय सत्ताभिज्ञेति । द्रव्यगुणान्यतरत्वमादाय
तत्रैवातिव्यामिवावर्णाय च जातीति ॥ २३ ॥

अन्यत्र नित्यद्रव्येभ्य आश्रितत्वमिहोच्यते ।

नित्यद्रव्याणि परमाण्वाकाशादीनि विहायाश्रितत्वं साधर्म्यमित्यर्थः । आश्रितत्वं तु समवायादिसंबन्धेन वृत्तिमत्त्वम् । विशेषणतया नित्यानामपि कालादौ वृत्तेः ।

इदानीं द्रव्यस्यैव विशिष्य साधर्म्यं वक्तुमारभते क्षित्यादीनामिति । क्षित्यादीनां नवानां तु द्रव्यत्वं गुणयोगिता ॥२४॥ क्षितिर्जलं तथा तेजः पवनो मन एव च ।

परापरत्वमूर्तत्वाक्रियावेगाश्रया अमी ॥ २५ ॥

स्पष्टं पृथिव्यप्तेजोवायुमनसां परत्वापरत्ववच्च मूर्तत्वं क्रियावच्च वेगवत्त्वं च साधर्म्यम् । नच यत्र घटादौ परत्वमपरत्वं वा नेत्यनेन तत्राव्याप्तिरिति वाच्यं, परत्वादिसमानाधिकरणद्रव्यत्वव्याप्यजातिवच्चस्य विवक्षितत्वात् । मूर्तत्वमपकृष्टपरिमाणवत्त्वम्, तच्च तेषामेव,

ननु गगनादीनामपि गगनादिक सर्वदैवास्तीति व्यवहारात्कालादौ वृत्तिमत्त्वादन्यत्र नित्यद्रव्येभ्य इति मूलमशुक्तमत आह—आश्रितत्वमिति । समवायादिसंबन्धेनेति सर्वाधारतानियामकसम्बन्धातिरिक्तसम्बन्धेनेत्यर्थः । विशेषणतयेति कालिकदेशिकसम्बन्धेन । क्षित्यादीनां नवानां हिाति मूलस्थतुशब्दस्यार्थं प्रकटयति—इदानीमित्यादिना । स्पष्टमिति प्राग्वत् ॥ २४ ॥

दिक्कृतपरत्वापरत्वयोर्हेतुरयमस्मादेतदपेक्षया बहुतरमूर्तसंयोगानुयोगीत्याद्यपेक्षाबुद्धिः, कालकृतयोर्धायं बहुतरसूर्यपरिस्पन्दाश्रयः इत्याद्यपेक्षाबुद्धिर्न नोत्पन्ना तत्र परत्वापरत्वयोर्ननुत्पन्नादादव्याप्तिमाशङ्क्य निषेधति न चेत्यादिना । आह नन्वतिव्याप्तिवारणाय परत्वादिसमानाधिकरणेति । सत्तामादाय तत्रैवातिव्याप्तिवारणाय द्रव्यत्वव्याप्येति । इत्यस्य स्वव्याप्यत्वे तु द्रव्यत्वमित्यनेनापि जातिर्विशेषणीया, तेन न द्रव्यत्वव्याप्यद्रव्यवमादायाकाशादांवातिव्याप्तिः । वस्तुतस्तु द्रव्याव्यनूनवृत्तित्वेमेवात्र द्रव्यव्याप्यत्वमिति न द्रव्य-

गगनादिपरिमाणस्य कुतोऽप्यपकृष्टत्वाभावात् । पूर्ववत् कर्मवचम् कर्म-
समानाधिकरणद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वं वेगवत्त्वं वेगवद्भूतिद्रव्यत्वव्या-
प्यजातिमत्त्वं च बोध्यम् ॥ २४ ॥ २५ ॥

कालखात्मदिशां सर्वगतत्वं परमं महत् ।

क्षित्यादिपञ्च ज्ञूतानि चत्वारि स्पर्शवन्ति हि ॥ २६ ॥

कालाकाशात्मदिशां सर्वगतत्वं सर्वमूर्तसंयोगित्वं च परममह-
त्त्वं जातिविशेषः, अपकर्षानाश्रयपरिमाणत्वं वा । क्षित्यादीति । पृ-
थिव्यग्नेजोवाय्वाकाशानां भूतत्वम् । तच्च बहिरिन्द्रियग्राह्यविशेषगुणवचम् ।
अत्र ग्राह्यत्वं लौकिकप्रत्यक्षस्वरूपयोग्यत्वं बोध्यम् । तेन ज्ञातो घट
इत्यादिप्रत्यक्षे ज्ञानस्याप्युपनीतभानविषयत्वात्तद्वृत्ति आत्मानि नातिव्या-
प्तिः । नत्रा प्रत्यक्षाविषयरूपादिमिति परमाण्वादावव्याप्तिः, तस्यापि

त्वमादायातिव्याप्तिलेशोऽपीति द्रष्टव्यम् । अपकृष्टपरिमाणवत्त्वं त्रिभ्वदृत्ति
परिमाणवत्त्वं । क्रियासमवायिकारणतावच्छेदकतया मूर्तत्व जातिविशेष इत्यपि
वदन्ति । तच्चेति मूर्तत्वं त्रित्यर्थः ॥ २५ ॥

कालादी क्रियारूपगमनस्यासम्भवादाह—सर्वगतत्वं सर्वमूर्तसंयोगित्व-
मिति । परममहत्त्वस्य जातित्वे प्रमाणाभावः इति मतेऽप्याह—अपकर्षाना-
श्रयेति । तच्चेति भूतत्वं चेत्यर्थः । बहिरिन्द्रियेति बहिरिन्द्रियग्राह्यजातीय-
विशेषगुणवत्त्वमित्यर्थः, तेन न परमाण्वादावव्याप्तिः । अत्रेति । तेनेति
लौकिकप्रत्यक्षविषयत्वविक्षणेनेत्यर्थः । ज्ञानस्यापीति अयं घट इत्यादि
ज्ञानस्यापि । उपनीतभानविषयत्वात् ज्ञानज्ञानविषयत्वादित्यर्थः । तद्वृत्ति अयं
घट इत्यादि ज्ञानवृत्तित्यर्थः । तथा च मया घटो ज्ञात इति ज्ञानस्यायं घट इति
ज्ञानांशे न लौकिकी विषयता, चक्षुरादेस्तत्र लौकिकसन्निकर्षाभावात्, किं तु
चक्षुःसंयुक्तमन.सयुक्तामसमवेतज्ञानविषयत्वस्वरूपज्ञानलक्षणानामकसन्निकर्षसत्त्वा-
दलौकिकविषयत्वमेवेति न तदादायात्मन्यतिव्याप्तिरितिभावः । स्वरूपयोग्यत्वप्रवे-
शस्य फलमाह—न वेति, तस्यापि परमाणुरूपोदाहरणित्यर्थः । ननु परमाणुरूपोदा

स्वरूपयोग्यत्वात् । महत्त्वलक्षणकारणान्तरासन्निधानाच्च न प्रत्यक्षम् ।
अथवा आत्मावृत्तिविशेषगुणवत्त्वं तत्त्वम् । चत्वारिणि । पृथिव्यप्ते-
जोवायुनां स्पर्शवत्त्वम् ॥ २६ ॥

द्रव्यारम्भश्चतुर्षु स्यादथाकाशशरीरिणाम् ।

अव्याप्यवृत्तिः क्षणिको विशेषगुण इष्यते ॥२७॥

पृथिव्यप्तेजोवायुषु चतुर्षु द्रव्यारम्भकत्वम् । नच द्रव्यानारम्भके
घटादावव्याप्तिः, द्रव्यसमवायिकारणवृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वस्य
विवक्षितत्वात् । आकाशशरीरिणामिति । आकाशात्मनामव्याप्यवृत्ति-
क्षणिकविशेषगुणवत्त्वं साधर्म्यमित्यर्थः । आकाशस्य विशेषगुणः शब्दः,
स चाव्याप्यवृत्तिर्यदा किञ्चिद्वच्छेदेन शब्द उत्पद्यते तदान्यावच्छे-
देन तदभावस्यापि सत्त्वात् । क्षणिकत्वं च तृतीयलक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियो-
गित्वम् । योग्यविभुविशेषगुणानां स्वोत्तरवर्तिगुणनाशयत्वात्प्रथमशब्दस्य
योग्यत्वे तस्य कुतो नाप्यक्षमत आह—महत्त्वलक्षणेति । चक्षुरादीगतकृपा-
दीनामनुद्भूतत्वेन चक्षुरादावव्याप्तिमाशक्य लक्षणत्वात् अथवेति ॥ २६ ॥

द्रव्येति द्रव्यस्य यत्समवायिकारण कपालादिस्तद्वृत्तिर्वा द्रव्यत्वव्याप्य-
जातिः पृथिवीत्यादिर्जातिस्तद्वत्त्व घटादावपीति सर्वत्र लक्षणमन्वयः । आ-
काशात्मनामिति लक्षणे लक्षणसमन्वयार्थं शब्दज्ञानादीनामव्याप्यवृत्तित्वं
क्षणिकत्वं चोपपादयति आकाशस्येत्यादिना । ननु नैयायिकमते क्षणि-
कस्य विशेषगुणस्यासम्भवात् क्षणिकविशेषगुणवत्त्वमसम्भवेतमत् आह—
क्षणिकत्वं चेति श्लोपत्तितृतीयलक्षणजन्यध्वंसप्रतियोगित्वमित्यर्थः । स्वोत्त-
रवृत्तीनि स्वाव्यवहितोत्तरवर्तीत्यर्थः । अव्यवहितोत्तरत्वं च स्वाधिकरणक्षण-
वृत्तिप्रगमावप्रतियोगिविशेषगुणानुत्तरत्वे सति स्योत्तरवत् । तथा चैतद्व्यवृ-
त्तियोग्यविभुविशेषगुणनाश प्रति एतत्क्षणाव्यवहितोत्तरवृत्तियोग्यविभुविशेषगुण-
स्य सामानाधिकरूप्येन कारणत्वमिति पर्यवसितं । चरमज्ञानादिक तूत्तरक्षणवृत्ति-
त्वविशिष्टं स्वमेव स्वस्य नाशकम् । अत्र कार्यतावच्छेदके योग्यत्वोपादानान्ना-

द्वितीयशब्देन नाशः । एवं ज्ञानादीनामपि ज्ञानादिकं यदात्मनि विभौ
 गरीगद्यवच्छेदेनोत्पद्यते तदा घटाद्यवच्छेदेन तदभावोऽस्त्येव । एवं
 ज्ञानादिकमपि क्षणद्वयावस्थायि । इत्थं चाव्याप्यवृत्तिविशेषगुणवत्त्वं
 क्षणिकविशेषगुणवत्त्वं चार्थः । पृथिव्यादौ रूपादिविशेषगुणोऽस्ती-
 त्यतोऽव्याप्यवृत्तित्युक्तम् । पृथिव्यादावव्याप्यवृत्तिः संयोगादिरस्तीत्यतो
 विशेषगुणेत्युक्तम् । नच रूपादीनामपि कदाचित्तृतीयक्षणे नाशसंभवात्क्ष-
 णिकविशेषगुणवत्त्वं नित्यादावतिव्याप्तमिति वार्यं, चतुःक्षणवृत्तिजन्यावृ-

दृश्य प्रायश्चित्तिदिना नाशोऽपि व्यभिचार । रूपादिनाशे व्यभिचारप्रारणाय
 त्रिभ्रिति । संयोगादिनाशे व्यभिचारप्रारणाय विशेषेति । कारणतात्रच्छेदके
 च योग्यत्रिशेष त्रयोत्पादानात्तादृष्टेन संयोगादिना च तृतीयक्षणेऽपेक्षाबुद्धि
 नाश । मृतुतस्तु चरमज्ञाननाश प्रति योत्तरकाटवृत्तिरपिशिष्ट स्वमेव
 म्वस्य नाशमिति तृतीयक्षणे एव तन्नाशो भवति, तद्वदपेक्षाबुद्धेरपि तृतीय
 क्षणे नाशापत्तिस्तद्वारणायपेक्षाबुद्धिनाश प्रति द्वित्रप्रत्यक्षम्यापि कारणममवस्य
 वक्तव्य एव च सति कारणतात्रच्छेदके योग्यत्रिशेष त्रयोत्पादानेऽपि न किमपि
 दूषणमिति ज्येष्म । न च कारणतात्रच्छेदके योग्यत्रिशेष त्रयोत्पादाने
 पूर्वमामनि विद्यमानेन श्वचित् ज्ञानात्तृतीयक्षणवृत्तिरसप्रतियोगिनादृष्टेन संयोगा-
 दिना न द्वितीयक्षण एव कथं न ज्ञानादेर्नाश इति जाय, ज्ञानाद्द्वितीयक्षणा-
 वच्छेदेन तत्रोत्तरक्षणवृत्तिरेऽपि पूर्वं तत्रोत्तरक्षणवृत्तिराभावादिति यद्विच्छि-
 देतत् । शब्दम्याद्याव्यवृत्तिरक्षणैरेव उपपद्य ज्ञानस्याशुपपादयति एव-
 मित्यादिना । तदेव घटयति—ज्ञानादिकमित्यादिना । निष्कृष्टं लक्षण-
 द्वयमाह इत्थं चेत्यादिना । अव्याप्यवृत्तित्वं चात्र तदधिकरणक्षणावच्छे-
 देन तन्ममानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूपं बोध्यमवयवा रूपादीना
 मपि कालिकाव्याप्यवृत्तित्वात्तद्वनि पृथिव्यादावतित्याति स्यादत्र । विशेष-
 पदस्य कृत्वमाह—पृथिव्यादाविति । चतुः क्षणवृत्तीति चतुःक्षणवृत्तीनि
 यानि जन्यानि घटादीनि तेष्ववृत्तिर्या जानि ज्ञानादिस्तद्वान् विशेषगुणो

त्तिजातिमद्विशेषगुणवत्त्वस्य तदर्थत्वात् । अपेक्षाबुद्धिः क्षणत्रयं तिष्ठति, क्षणचतुष्टयं तु न किमपि जन्यज्ञानादिकं तिष्ठति । रूपत्वादिकं तु क्षणचतुष्टयस्थायिन्यपि रूपादौ वर्तते इति तद्व्युदासः । ईश्वरज्ञानस्य चतुः-
क्षणवृत्तित्वाज्ज्ञानत्वस्य तद्वृत्तित्वाज्जन्येत्युक्तम् । यथाकाशजीवात्मनोः साधर्म्यं तदा जन्येति न देयं, द्वेषत्वादिकमादायात्मनि लक्षणसमन्वयात्, परममहत्त्वस्य तादृशगुणत्वाच्चतुर्थक्षणे द्वित्वादीनामपि नाशाभ्युपगमाद्-
द्वित्वादीनामपि तथात्वाच्चद्वारणाय विशेषेति । त्रिक्षणवृत्तित्वं च

ज्ञानादिरतद्वत्त्वस्यामदौ सत्त्वाद्लक्षणसमन्वयः । अत्र ज्ञानत्वादेर्जन्यवृत्तित्वा-
दसम्भववारणाय वृत्त्यन्तं । जन्यावृत्तित्वं चात्र समवायेन, तेन कालिकेन
ज्ञानत्वादे घटादौ वृत्तित्त्वेऽपि न जातिः । तदर्थत्वादिति क्षणिकविशेष-
गुणवत्त्वस्यार्थत्वादित्यर्थः । ननु प्रथमोपस्थितत्वरूपलाघवसत्त्वात्रिक्षणवृत्ति-
त्वमेव कथं नोक्तमतआह—अपेक्षाबुद्धिरिति । तथा च ज्ञानत्वमादा-
यापि लक्षणसमन्वयो भवति न त्वेतदर्थमेव त्रिक्षणवृत्तित्वं विहाय चतुःक्षण-
वृत्तित्वमुक्तं, न त्वसम्भवादिवारणार्थं, त्रिक्षणवृत्तित्वोक्तावर्षाच्छात्रादिकमादा-
यात्मनि लक्षणसमन्वयसम्भवादिनिभाव । रूपादीनामपीत्यादिना ग्रन्थेन पृथि-
व्यादेः पूर्वोक्तामतिव्याप्तिं वारयति, रूपत्वाधिकं त्वित्यादिना तद्व्युदासः रूपत्वा-
दिजातिस्युदासः । तथा च न पूर्वोक्तामतिव्याप्तिरिति भावः । अन्यपदस्य कृत्यमाह—
ईश्वरज्ञानस्येति । मूलेऽक्तशरीरपदस्य जीवात्ममात्रपरत्वादाह—यथाकाशजीवा-
त्मनोरिति । विशेषपदकृत्यमाह परममहत्त्वस्येति तादृशगुणत्वाच्चतुःक्षणवृत्ति-
जन्यावृत्तिजातिमद्गुणत्वादित्यर्थः । तथा च विशेषपदानुपादाने तामादाय कालविशोरति
व्याप्तिः स्यादिति भावः । नन्वहं महानिति प्रतीत्यभावेन परममहत्त्वात्वं न जातिः,
किं त्वपकर्षानाश्रयपरिमाणत्वं, तथा च तामादाय कथमतिव्याप्तिरत आह—
चतुर्थक्षणे द्वित्वादीनामपीति, यद्वा जन्यत्वाप्रवेशपक्षेऽपि विशेषपदस्य कृत्यमाह—
चतुर्थक्षणे द्वित्वादीनामपीति । तथात्वादिति पूर्वोक्तजातिमद्गुणत्वादित्यर्थः ।
तद्वारणायेति तादृशजातिमद्गुणं द्वित्वादिकमादाय यातिव्याप्तिस्तद्वारणाय-

ते च खे आकाशे ॥ ३० ॥ ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ ३४ ॥
साधर्म्यवैधर्म्ये निरूप्य संप्रति प्रत्येकं पृथिव्यादिकं निरूपयति—

तत्र क्षितिर्गन्धहेतुर्नानारूपवती मता ।

पङ्क्तिधस्तु रसस्तत्र गन्धस्तु द्विविधो मतः ॥ ३५ ॥

गन्धहेतुरिति गन्धसमवायिकारणमित्यर्थः । यद्यपि गन्धवत्त्वमात्रं लक्षणमुच्यते, तथापि पृथिवीत्वजानौ प्रमाणोपन्यासाय कारणत्वमुपन्यस्तम् । तथाहि । पृथिवीत्वं हि गन्धसमवायिकारणतावच्छेदकतया सिद्ध्यति, अन्यथा गन्धत्वावच्छिन्नस्याकास्मिकत्वापत्तेः । न च पापाणादौ गन्धाभावाद्गन्धवत्त्वमन्याप्तमिति वाच्यं, तत्रापि गन्धसत्त्वात् । अनुपलब्धिस्त्वनुत्कटत्वेनाप्युपपद्यते । कथमन्यथा तद्भस्मनि गन्ध उपलभ्यते । भस्मनो हि पापाणध्वंसजन्यत्वात् पापाणोपादानोपादेयत्वं

॥ इति साधर्म्यवैधर्म्यनिरूपणम् ॥

मूले गन्धहेतुत्वं पृथिव्या लक्षणमुक्तं तच्च कालादावतिव्याप्तमतो व्याचष्टे—गन्धेति । प्रमाणोपन्यासायेति पृथिवीत्वजातिसाधनायैव समवायिकारणत्वमुक्तं, न तु लक्षणे प्रवेशनीयं, गन्धवत्त्वमात्रस्यैव लक्षणस्योचितत्वात्, समवायसम्बन्धेन गन्धवद्दृष्टिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वं च तदर्थं, तेन सूत्रसुरभिकपालद्वयाब्धे निर्गन्धघटे नाव्याप्तिः । पृथिवीत्वमेव साधयति तथाहीत्यादिना । अन्यथा गन्धत्वावच्छिन्नं प्रति पृथिव्या हेतुत्वानङ्गीकारे आकास्मिकत्वापत्तेः नियतकारणानियम्यत्वापत्तेरित्यर्थः । तत्रापि पापाणादावपि गन्धसत्त्वात् पृथिवीत्वेन गन्धानुमानादित्यर्थः । ननु पापाणादौ गन्धसत्त्वेऽनुपलम्भो न स्यादत आह—अनुपलब्धिस्त्विति । ननु पापाणे पूर्वोक्तयुक्त्या गन्धस्तदा सिध्येद्यदि तत्र पृथिवीत्वसत्त्वे किञ्चित्प्रमाणं स्यात्तदेव नास्तीत्यतस्तत्साधनाय भूमिका रचयति—कथमन्यथेति, अन्यथा पापाणादौ पृथिवीत्वानङ्गीकारे तद्भस्मनि पापाणभस्मनि गन्धः कथमुपलभ्यते नैवोपलभ्येत्यर्थः । भस्मनो हीति हि यतः भस्मनः पापाणभस्मनः । पापाणोपा-

सिध्यति । यद्द्रव्यं यद्द्रव्यध्वंसजन्यं तत्तदुपादानोपादेयमिति ज्ञातेः ।
 दृष्टं चैतत्खण्डपटे महापटध्वंसजन्ये । इत्थं च पापाणपरमाणोः
 पृथिवीत्वात्तज्जन्यस्यपापाणस्यापि पृथिवीत्वं तथा च तस्यापि
 गन्धवत्त्वे कथकाभावः । नानारूपेति । शुक्लनीलादिभेदेन नाना-
 जातीयं रूपं पृथिव्यामेव वर्तते न तु जलदौ, तत्र शुक्लस्यैव
 सत्त्वात् । पृथिव्यां तु एकास्मिन्नपि धर्मिणि पाकवशेन नानारूपसं-
 भवात् । नद्य यत्र नानारूपं नोत्पन्नं तत्राव्याप्तिरिति वाच्यं,
 रूपद्रव्यवद्बृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमन्वस्य विवक्षितत्वात्, रूप-

दानोपादेयत्वमिति पापाणस्य यदुपादान समवायिकरण तस्यांपादेयत्व,
 पापाणस्य यत्समवायिकारण तद्द्रस्मनोऽपि तदेव समवायिकारणमित्यर्थः ।
 अत्रानुमत्प्रमाण दर्शयन्ति—यद्द्रव्यमित्यादिना यद्द्रव्यं पापाणभस्मरूपं द्रव्यं
 यद्द्रव्यध्वंसजन्यं पापाणरूपद्रव्यध्वंसजन्यं तत्पापाणभस्म तदुपादानेति
 पापाणभस्मवायिकारणजन्यमित्यर्थः । व्याप्तिं प्राहयति—दृष्टं चैतदिति यथा
 महापटध्वंसजन्यं खण्डपटरूपं द्रव्यं महापटरूपद्रव्यध्वंसजन्यत्वात्महापटसम-
 वायिकारणतन्तुभिरेव जन्यते, तद्वत्पापाणरूपद्रव्यध्वंसजन्यत्वात्पापाणभस्म-
 नोऽपि पापाणभस्मवायिकारणपरमाणुभिरेव जन्यत्वं स्वीकर्तव्यमित्यर्थः ।
 पापाणस्य पृथिवीत्वं स्पष्टयति—इत्थं चेति । अत्र केचिन् “ तत्रापि गन्ध-
 सत्त्वादिद्रव्यस्य यथाश्रुतार्थकत्व, “ कथमन्यथा तद्द्रस्मनी”त्यत्रान्यथ-
 पदस्य च पापाणादौ गन्धाभावे इत्यर्थकत्वं व्याप्ययन्ति, तत्र च
 पापाणादौ गन्धास्वीकारेऽपि पाकवशेन तद्द्रस्मनि गन्धोपतिमग्भवेन
 न तेषां व्याप्यत्वं बुद्धिमन्मनोयामान्यमित्यन्यत्रस्मिन् । मूलं नानारूपवत्-
 त्वं पृथिव्या लक्षणमुक्तं तत्तद्वदे प्रतिपादयति—शुक्लनीलेत्यादिना ।
 रूपद्रव्येति रूपद्रव्यवद्बृत्तिमत्तारूपजातिमादाय गुणादारानिव्याप्तिवारणाय द्रव्य-
 त्वव्याप्येति, द्रव्यत्वव्याप्यजलव्यजातिमादाय जलेऽतिव्याप्तिवारणाय रूपद्रव्य-
 वद्बृत्तिरिति । द्रव्यत्वव्याप्यपृथिवीजलान्यतरादिकमादाय जलादावतिव्याप्तिवार-

ते च खे आकाशे ॥ ३० ॥ ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ ३४ ॥
साधर्म्यवैधर्म्यं निरूप्य संप्रति ग्रन्थेकं पृथिव्यादिकं निरूपयति—

तत्र क्षितिर्गन्धहेतुर्नानारूपवती मता ।

पट्टिधस्तु रसस्तत्र गन्धस्तु द्विविधो मतः ॥ ३५ ॥

गन्धहेतुरिति गन्धसमवायिकारणमित्यर्थः । यद्यपि गन्धवत्त्वमात्रं लक्षणमुचितं, तथापि पृथिवीत्वजातौ प्रमाणोपन्यासाय कारणत्वमुपन्यस्तम् । तथाहि । पृथिवीत्वं हि गन्धसमवायिकारणतावच्छेदकतया सिद्धयति, अन्यथा गन्धत्वावच्छिन्नस्याकस्मिकत्वापत्तेः । न च पापाणादौ गन्धाभावाद्गन्धवत्त्वमव्याप्तमिति वाच्यं, तत्रापि गन्धसत्त्वात् । अनुपलब्धिस्त्वनुत्कटत्वेनाप्युपपद्यते । कथमन्यथा तद्भस्मनि गन्ध उपलभ्यते । भस्मनो हि पापाणञ्चंसजन्यत्वात् पापाणोपादानोपादेयत्वं

॥ इति साधर्म्यवैधर्म्यानिरूपणम् ॥

मूढे गन्धहेतुश्च पृथिव्या लक्षणमुक्तं तच्च कालादावतिव्याप्तमतो व्याचष्टे—गन्धेति । प्रमाणोपन्यासायेति पृथिवीत्वजातिसाधनायैव समवायिकारणत्वमुक्तं, न तु लक्षणे प्रवेशनीयं, गन्धवत्त्वमात्रस्यैव लक्षणस्योचितत्वात्, समवायसम्बन्धेन गन्धवद्भूतिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वं च तदर्थः, तेन सुरभ्यसुरभिकपालद्वयाग्रे निर्गन्धघटे नाव्याप्तिः । पृथिवीत्वमेव साधयति तथाहीत्यादिना । अन्यथा गन्धत्वावच्छिन्नं प्रति पृथिव्या हेतुत्वानङ्गीकारे आकस्मिकत्वापत्तेः नियतकारणानियम्यत्वापत्तेरित्यर्थः । तत्रापि पापाणादावपि गन्धसत्त्वात् पृथिवीत्वेन गन्धानुमानादित्यर्थः । ननु पापाणादौ गन्धसत्त्वेऽनुपलम्भो न स्यादत आह—अनुपलब्धिस्त्विति । ननु पापाणे पूर्वोक्तयुक्त्या गन्धस्तदा सिध्येद्यदि तत्र पृथिवीत्वसत्त्वे किञ्चिदप्रमाणं स्यात्तदेव नास्तीत्यतस्तत्साधनाय भूमिकां रचयति—कथमन्यथेति, अन्यथा पापाणादौ पृथिवीत्वानङ्गीकारे तद्भस्मनि पापाणभस्मनि गन्धः कथमुपलभ्यते नैवोपलभ्येत्यर्थः । भस्मनो हीति हि यतः भस्मनः पापाणभस्मनः । पापाणोपा-

सिध्यति । यद्द्रव्यं यद्द्रव्यध्वंसजन्यं तत्तदुपादानोपादेयमिति व्योमः ।
 दृष्टं चैतत्त्वण्डपटे महापटवसजन्ये । इत्थं च पाषाणपरमाणोः
 पृथिवीत्वात्तज्जन्यस्यपाषाणस्यापि पृथिवीत्वं तथा च तस्यापि
 गन्धवच्चे बाधकाभावः । नानारूपेति । शुक्लनीलादिभेदेन नाना
 जातीयं रूपं पृथिव्यामेव वर्तते न तु जलदौ, तत्र शुक्लस्यैव
 सत्त्वात् । पृथिव्यां तु एकास्मिन्नपि धर्मिणि पक्वशेन नानारूपस-
 भत्वात् । नच यत्र नानारूपं नोत्पन्नं तत्राव्याप्तिरिति वाच्यं,
 रूपद्रव्यवद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्त्यजातिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात्, रूप-

दानोपादेयत्वमिति पपाणस्य यदुपादानं समवायिकरणं तस्यापादेयत्व,
 पाषाणस्य यममवायिकारणं तद्द्रव्यमनोऽपि तदेव समवायिकारणमित्यर्थः ।
 अत्रानुमनप्रमाणं दर्शयन्ति—यद्द्रव्यमि यादिना यद्द्रव्यं पाषाणभाररूपं द्रव्यं
 यद्द्रव्यध्वंसजन्यं पाषाणरूपद्रव्यध्वंसजन्यं तपाषाणभारं तदुपादानेति
 पाषाणममवायिकारणजयमित्यर्थः । व्याप्तं प्राहयति—दृष्टं चैतदिति यथा
 महापटवसजन्यं त्वण्डपटुरूपं द्रव्यं महापटरूपद्रव्यध्वंसजन्यं तामहापटसम-
 वायिकारणतत्तुभिरेव जन्यत, तद्द्रव्यं पाषाणरूपद्रव्यध्वंसजन्यं तत्पाषाणभारं
 नोऽपि पाषाणसमवायिकारणपरमाणुभिरेव जयत्वं स्वीकर्तव्यमित्यर्थः ।
 पाषाणस्य पृथिवीत्वं स्पष्टयति—इत्थं चेति । अत्र केचित् “ तत्रापि गन्ध-
 सत्त्वा”दित्यस्य यथाशुतार्थकर्म, ‘ कथं यथा तद्द्रव्यमनीत्यत्रा-यथा-
 पदस्य च पाषाणादौ गुणाभावे इत्यर्थकं च व्यावर्णयति, तत्र च
 पाषाणादौ गन्धास्त्रीकारेऽपि पक्वशेन तद्द्रव्यमि गन्धीपतिसम्भवेन
 न तेषां व्यावर्णनं बुद्धिममनीयामायमि यत्रभिन्तर । मूले नानारूपद्र-
 व्यं पृथिव्या लक्षणमुक्तं तत्त्वज्ञे प्रतिपादयति—शुक्लनीलेत्यादिना ।
 रूपद्रव्येति रूपद्रव्यत्रयैकमत्तारूपजतिमादाय गुणादायतिव्याप्तिवारणाय द्रव्य-
 त्वव्यवहयेति, द्रव्यत्वव्यवहयजन्जातिमादाय जलेऽतिव्याप्तिवारणाय रूपद्रव्य-
 वद्वृत्तिरिति । द्रव्यत्वव्याप्त्यपुत्रिजीजन्यतरादिकमादाय जतदायतिव्याप्तिवार-

नाशवद्दृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वस्य वा वाच्यत्वात् । वैशेषिकनये
 पृथिवीपरमाणौ रूपनाशस्य रूपान्तरस्य च सत्त्वात् । न्यायनये
 यदादावपि तत्सत्त्वाल्लक्षणसमन्वयः । पट्टिषु इति । मधुरादिभेदेन यः
 पट्टविधो रसः स पृथिव्यामेव । जले च मधुर एव रसः । अत्रापि
 पूर्ववद्रसद्वयवद्दृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वं लक्षणार्थोऽवसेयः । गन्ध-
 स्त्वितीति । द्विविध इति । वस्तुस्थितिमात्रं न तु द्विविधगन्धवत्त्वं लक्षणं
 द्विविधत्वस्य व्यर्थत्वात् । द्वैविध्यं च सौरभासौरभभेदेन बोध्यम् ॥३५॥
 स्पर्शस्तस्यास्तु विज्ञेयो ह्यनुष्णाशीतपाकजः ।

तस्याः पृथिव्याः । अनुष्णाशीतस्पर्शवत्त्वं वायोरपि वर्तते इत्युक्तं
 पाकज इति । इत्थं च पृथिव्याः स्पर्शोऽनुष्णाशीत इति ज्ञापनार्थं
 तदुक्तम् । वस्तुतस्तु पाकजस्पर्शवत्त्वमात्रं लक्षणम्, अधिकस्य वैय-
 ध्यात् । यद्यपि पाकजस्पर्शः यदादौ नास्ति तथापि पाकजस्पर्शवद्-
 दृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वमर्थो बोध्यः ।

नित्यानित्या च सा द्वेधा नित्या स्यादणुलक्षणा ३६

णाय जातीति । अपेक्षानुधिविशेषविषयवस्वरूपद्विव्यघटितत्वेन गौरवादाह रूप-
 नाशेति । रसस्य पट्टविधस्य प्रकाशयति—मधुरेत्यादिना शर्करादावतिव्या-
 प्तिवारणाय—अत्रापीति । वस्तुस्थितिमात्रमिति वस्तुगया गन्धो
 द्विविधस्तिष्ठतीति सूचयितुमुक्तं न तु द्वैविव्यस्यापि लक्षणे प्रवेश इत्यर्थः ।
 गन्धस्य द्वैविध्यं प्रकाशयति द्वैविध्यं चेति ॥ ३६ ॥

इत्थं चेति पाकजस्पर्शवत्त्वलक्षणोक्तावित्यर्थः । पाकजस्पर्शवत्त्वमात्रं
 त्विति तुशब्द एवकारार्थः पाकजस्पर्शवत्त्वमात्रमेवेत्यर्थः । यद्यपीति वैशेषिकमते
 पाकजस्पर्शस्य परमाणुभेद सत्त्वाण्यदादिविद्यादिपदेनात्रयविनात्रपरिहः । पाकज-
 स्पर्शवद्दृत्तीति सत्त्वाण्यजातिमादाप्रकाशादावतिव्याप्तिवारणाय द्रव्यत्वव्याप्येति।
 स्पर्शवद्दृत्तिजलद्रवजातिमादाय जलादावतिव्याप्तिवारणाय पाकजेति । पाकजद्रव-
 त्ववद्दृत्तेजस्त्वजातिमादाय तेजस्यतिव्याप्तिवारणाय स्पर्शेति ॥ ३६ ॥

अनित्या तु तदन्या स्यात्सैवावयवयोगिनी ।

सा च त्रिधा भवेद्देहमिन्द्रियं विषयस्तथा ॥ ३७ ॥

सा पृथिवी द्विविधानित्या अनित्या चेत्यर्थः । अणुलक्षणा परमाणुरूपा पृथिवी नित्या । तदन्या परमाणुभिन्ना पृथिवी दूषणरुदिरूपा सर्वाऽप्यनित्यत्वर्थः । सैव अनित्या पृथिव्येवावयववतीत्यर्थः । ननु अवयविति किं मानं परमाणुपुञ्जैरेवोपपत्तेः । न च परमाणुनामतीन्द्रियत्वाद्घटादेः प्रत्यक्षं न स्यादिति वाच्यम्, एकस्य परमाणोरप्रत्यक्षत्वेऽपि तत्समूहस्य प्रत्यक्षत्वात् । यथैकस्य केशस्य देरऽप्रत्यक्षत्वेऽपि तत्समूहस्य प्रत्यक्षत्वम् । नचैको घटः स्थूल इति बुद्धेरनुपपत्तिरिति वाच्यम्, एको महान्धान्यराशिरितिवदुपपत्तेः । मैत्रे, परमाणोरतीन्द्रियत्वेन तत्समूहस्यापि प्रत्यक्षयोग्यत्वात् । दूरस्थकेशस्तु नातीन्द्रियः, सन्निधाने तस्यैव प्रत्यक्षत्वात् । न च तदानीमदृश्यपर-

बोधः शङ्कते—नन्विति । नन्वय घट इत्यादिप्रतीतिरेवावयवविनि प्रमाणमत आह—परमाणुपुञ्जैरेवेति विलक्षणसंयोगविशिष्टैः परमाणुभिरेवेत्यर्थस्तेन न मृद्विण्डेऽपि घट इति व्यवहारः । उपपत्तेरिति अयं घट इत्यादिप्रतीत्युपपत्तेः । तत्समूहस्य परमाणुसमूहस्य । तत्र दृष्टान्तमाह—यथेति । तत्समूहस्य केशसमूहस्य । ननु परमाणुनामनेकत्वादणुत्वाद्देको घटः स्थूल इति बुद्धिर्न स्यादित्याह—न चैको घट इत्यादिना । उत्तरयति—एको महानित्यादिना । इतिवदुपपत्तेरिति तत्र यथा धान्यनिष्ठवृत्त्वसत्यारूपसमूहमादायैवैकः, एवं एकधान्यसंयुक्तापरधान्यसंयुक्तान्यधान्यप्रतियोगिकसंयोगमादाय च महान्धान्यराशिरिति बुद्धिर्भवति, तद्वत्परमाणुपुञ्जेष्वपि एको महान्घट इत्यादि प्रतीतिर्भविष्यतीतिभावः । प्रत्यक्षत्वायोगादिति स्वभावतोऽप्येत्यानां परमाणूनां परस्परसंयोगमात्रेणापि योग्यत्वं न सम्भवतीतिभावः । दूरस्थकेशस्तु न स्वभावतोऽतीन्द्रिय इति तदुक्तदृष्टान्तस्य वैयर्थ्यात्—दूरस्थकेशस्त्विति । तस्यैवेति तस्य दूर-

नाशवद्दृष्टिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वस्य वा वाच्यत्वात् । वैशेषिकनये
 पृथिवीपरमाणौ रूपनाशस्य रूपान्तरस्य च सत्त्वात् । न्यायनये
 यटादावपि तत्सत्त्वाल्लक्षणसमन्वयः । पट्टिश्च इति । मधुरादिभेदेन यः
 पट्टविधो रसः स पृथिव्यामेव । जले च मधुर एव रसः । अत्रापि
 पूर्ववद्रसद्वयवद्दृष्टिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वं लक्षणार्थोऽवसेयः । गन्ध-
 स्त्विति । द्विविध इति । वस्तुस्थितिमात्रं न तु द्विविधगन्धवत्त्वं लक्षणं
 द्विविधत्वस्य व्यर्थत्वात् । द्वैविध्यं च सौरभासौरभभेदेन बोध्यम् ॥३५॥
 स्पर्शस्तस्यास्तु विज्ञेयो ह्यनुष्णाशीतपाकजः ।

तस्याः पृथिव्याः । अनुष्णाशीतस्पर्शवत्त्वं वायोरपि वर्तते इत्युक्तं
 पाकज इति । इत्थं च पृथिव्याः स्पर्शोऽनुष्णाशीत इति शपनार्थं
 तदुक्तम् । वस्तुतस्तु पाकजस्पर्शवत्त्वमात्रं लक्षणम्, अधिकस्य वैय-
 थ्यात् । यद्यपि पाकजस्पर्शः पटादौ नास्ति तथापि पाकजस्पर्शवद्-
 दृष्टिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वमर्थो बोध्यः ।

नित्यानित्या च सा द्वेधा नित्या स्यादणुलक्षणा ३६

णाय जातीति । अपेक्षानुधिक्विशेषविषयत्वरूपद्वित्वघटितत्वेन गौरवादाह रूप-
 नाशेति । रसस्य पट्टविधता प्रकाशयति—मधुरेस्यादिना शर्करादावतिव्या-
 प्तिवारणाय—अत्रापीति । वस्तुस्थितिमात्रमिति वस्तुगया गन्धो
 द्विविधस्तिष्ठतीति सूचयितुमुक्ते न तु द्वैविध्यस्यापि लक्षणे प्रवेश इत्यर्थः ।
 गन्धस्य द्वैविध्यं प्रकाशयति द्वैविध्यं चेति ॥ ३५ ॥

इत्थं चेति पाकजस्पर्शवत्त्वलक्षणोक्तावित्यर्थः । पाकजस्पर्शवत्त्वमात्रं
 त्विति तुदाद् एवकारार्थः पाकजस्पर्शवत्त्वमात्रमेवेत्यर्थः । यद्यपीति वैशेषिकमते
 पाकजस्पर्शस्य परमाणुभेद सत्त्वाप्यटादावित्यादिपदेनावयविमात्रपात्रिहः । पाकज-
 स्पर्शवद्दृष्टीति सत्त्वरूपजातिमादायाकाशादावतिव्यापितिवारणाय द्रव्यत्वव्याप्येति
 स्पर्शवद्दृष्टिजलत्वजातिमादाय जलादावतिव्यापितिवारणाय पाकजेति । पाकजद्रव-
 त्ववद्दृष्टतेजस्त्वजातिमादाय तेजस्यतिव्यापितिवारणाय स्पर्शेति ॥ ३६ ॥

अनित्या तु तदन्या स्यात्सैवावयवयोगिनी ।
सा च त्रिधा भवेद्देहमिन्द्रियं विषयस्तथा ॥ ३७ ॥

सा पृथिवी द्विविधानित्या अनित्या चेत्यर्थः । अणुक्षणान् परमाणुत्वात्
पृथिवी नित्या । तदन्या परमाणुभिन्ना पृथिवी द्रव्यशुद्धिरूपा सर्वा-
ऽप्यनित्येत्यर्थः । सैव अनित्या पृथिन्येवावयववर्तीत्यर्थः । ननु अव-
यविनि किं मानं परमाणुपुञ्जैरेवोपपत्तेः । न च परमाणूनामतीन्द्रिय-
त्वादुपपत्तेः प्रत्यक्षं न स्यादिति वाच्यम्, एकस्य परमाणोरप्रत्यक्ष-
त्वेऽपि तत्समूहस्य प्रत्यक्षत्वात् । यथैकस्य केशस्य दूरऽप्रत्यक्षत्वेऽपि
तत्समूहस्य प्रत्यक्षत्वम् । नचैते घटः स्थूल इति बुद्धेरनु-
पपत्तिरिति वाच्यम्, एको महान्धान्यराशिरितिवदुपपत्तेः । मैत्रं, पर-
माणोस्तीन्द्रियत्वेन तत्समूहस्यापि प्रत्यक्षयोग्यत्वात् । दूरस्थकेशस्तु
नातीन्द्रियः, सन्नियाने तस्यैव प्रत्यक्षत्वात् । न च तदानीयदृश्यपर-

बौद्धः शङ्कते—नन्विति । नन्वय घट इत्यादिप्रतीतिरेवावयवविनि प्रमा-
णमत आह—परमाणुपुञ्जैरेवेति खिलक्षणसयोगविशिष्टः परमाणुभिरेवेत्यर्थ-
स्तेन न श्रुतिगुण्डेऽपि घट इति व्यवहारः । उपपत्तेरिति अयं घट
इत्यादिप्रतीतिरुपपत्ते । तत्समूहस्य परमाणुसमूहस्य । तत्र दृष्टान्तमाह—
यथेति । तत्समूहस्य केशसमूहस्य । ननु परमाणूनामनेकत्वादणुत्स-
बैको घटः स्थूल इति बुद्धिर्न स्यादित्याह—न चैको घट इत्यादिना ।
उत्तरयति—एको महानित्यादिना । इतिवदुपपत्तेरिति तत्र यथा
धान्यनिष्ठवृत्तसंस्काररूपसमूहमादायैवैकः, एवं एकधान्यसंयुक्तापरधान्यसंयुक्ता-
न्यधान्यप्रतियोगिकसंयोगमात्राय च महान्धान्यराशिरिति बुद्धिर्भवति, तद्वदर-
माणुपुञ्जैरपि एको महान्वट इत्यादि प्रतीतिर्भेदविध्यतीतिभावः । प्रत्यक्ष-
त्वायोगादिति स्वभावतोऽयोग्यानां परमाणूनां परस्परसंयोगमात्रेणापि यो-
ग्यत्वं न सम्भवतीतिभावः । दूरस्थकेशस्तु न समागतोऽतीन्द्रिय इति
तदुक्तदृष्टान्तस्य वैयर्थ्यामित्याह—दूरस्थकेशस्त्विति । तस्यैवेति तस्य दूर-

माणुपुञ्जादृश्यपरमाणुपुञ्जस्योत्पन्नत्वात् प्रत्यक्षत्वे विरोध इति वा-
न्यम्, अदृश्यस्य दृश्यानुपादानत्वात् । अन्यथा चक्षुरूपमादिसंततेरपि
कदाचिद्दृश्यत्वमसङ्गात् । न चातितप्ततैलादौ कथमदृश्यदहनसंततेर्दृश्य-
दहनोत्पत्तिरिति वाच्यम्, तत्र तदन्तः पातिभिर्दृश्यदहनावयवैः स्थूल-
दहनोत्पत्तेरुपगमात् । न चादृश्येन द्रव्यशुक्लेन कथं दृश्यत्रसरेणोरुत्पत्ति-
रिति वाच्यं, यतो न दृश्यत्वमदृश्यत्व वा कस्यचित्स्वभावादाचक्षुमहे
किंतु महत्त्वोद्भूतरूपादिकारणसमुदायवशाद् दृश्यत्व तदभावे चादृश्य-
त्वम् । तथा च त्रसरेणोर्महत्त्वात्प्रत्यक्षत्वं न तु द्रव्यशुक्लादेस्तदभा-
वात् । नहि त्वन्मतेऽपि संभवतीदं परमाणौ महत्त्वाभावात् । इत्थं
चावयविसिद्धौ तेषामुत्पादविनाशयोः प्रत्यक्षसिद्धत्वादनित्यत्वम् । तेषां

स्यकेशस्य, एतकारश्च मनिधानि इत्यस्याग्रे योजनीयः सन्निधाने एव तस्य
प्रत्यक्षत्वादित्यर्थः । तथा च दूरतस्य प्रतिबन्धनत्वादेव केशस्य तदानी-
मप्रत्यक्षत्व, न तु स्वभावेऽतीन्द्रियत्वं तस्येति भावः । न च तदानीमिति
घटश्चनस्थायामित्यर्थः । उत्पन्नत्वादिति यत्सत्सत्क्षणिकमिति व्याख्या
क्षणभङ्गादीनां मते परमाणूनामप्युत्पत्तिरेनाशरीकारादिति भावः । अदृश्येति
तत्र मत्त इति शेषः । दृश्यानुपादानत्वाद् दृश्याजनकत्वादित्यर्थः । अन्यथा अदृश्यस्य
दृश्योत्पादकत्वे, तत्र तादृशदहनेऽप्युत्पत्तिस्थिते तदन्तः पातिभिर् अतितप्ततैलात् पा-
तिभिरित्यर्थः । स्वभावादिति कारण विनेत्यर्थः । अयमाशयः - क्षणभङ्गादिमते
अतीन्द्रियत्वं प्रत्यक्षत्वं च स्वाभाविकमतेऽतीन्द्रियस्यैन्द्रियकयदाधेत्त्यादवत्त्वे
चक्षुरूपमादिसन्तते कदाचिद्दृश्यत्वमापादित तद्धारणाय यथा निम्नवृक्षरूपपरमाणु-
पुञ्जानाम्बृक्षरूपपरमाणुपुञ्जोत्पत्तिरेवाम्बृक्षसकाशाच्च न निम्नवृक्षरूपपरमाणु-
पुञ्जोत्पत्तिरित्यनुभवा सजातीयपरमाणुपुञ्जसक शास्सजातीयपरमाणुपुञ्जस्यैवोत्पत्ति-
रिति नियमः स्वीकृतोऽस्ति तद्वददृश्यपरमाणुपुञ्जाददृश्यस्यैवोत्पत्तिरित्यप्यन्यं
स्वीकर्तव्यमेव । मन्मते तु कारणत्रयात् त्र्यणुकस्य प्रत्यक्षत्वेऽपि तदभावात्
द्रव्यशुक्लातीन्द्रियत्वं मन्मताददृश्यस्य दृश्यकारणत्वेऽपि क्षतिविरहादिति दिक् ।

चावयवावयवधाराया अनन्तत्वे मेरुसर्पपयोरपि साम्यप्रसङ्गः । अतः क्वचिद्विश्रामो वाच्यः । यत्र तु विश्रामस्तस्यानित्यत्वेऽसमवेतकार्योत्पत्तिप्रसङ्ग इति तस्य नित्यत्वम् । महत्परिमाणतारतम्यस्य गगनादौ । विश्रान्तत्वमिवाणुपरिमाणतारतम्यस्यापि क्वचिद्विश्रान्तत्वमस्तीति तस्य परमाणुत्वासिद्धिः । न च त्रसरेणावेव विश्रामोऽस्त्विति वाच्यं, त्रसरेणुः सावयवः चाक्षुषद्रव्यत्वात् घट्वादित्यनुमानेन तदवयवसिद्धौ, त्रसरेणोरवयवाः सावयवाः महदारम्भकत्वात् कपालवादित्यनुमानेन तदवयवसिद्धेः । न चेदमप्रयोजकम्, अपकृष्टमहत्त्वं मृत्यनेकद्रव्यत्वस्य प्रयोजकत्वात् । न चैवं क्रमेण तदवयवावयवधारापि सिद्धयेदिति वाच्यम्, अनवस्थाभयेन तदसिद्धेरिति ॥ सा चेति । सा कार्यरूपा पृथिवी विधेत्पर्यः । शरीरोन्द्रियविषयभेदादित्यर्थः ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

तत्र देहमुदाहरति—

योनिजादि भवेद्देहमिन्द्रियं घ्राणलक्षणम् ।

विषयो द्वयणुकादिश्च ब्रह्माण्डान्त उदाहृतः ॥३८॥

इत्थं चेति पूर्वोक्तयुक्त्या चेत्यर्थः, तेषामवयविनां, मेरुसर्पपयोरिति मेरुसर्पपयोः साम्यप्रसङ्गोऽपीति योजना । अपिशब्देन द्वयणुकस्य सावयवारव्यवहारे महत्त्वापत्तिः समुच्चीयते । साम्यं परिमाणतारतम्याभावः परिमाणकारणाभूताया अवयवसंख्याया उभयत्रानन्तत्वेन साम्यादितिमात्रः । ननु विश्रामाश्रयस्य नित्यत्वे किं मानमत आह—यत्र त्विति । असमवेतीति असमवेतभावकार्योत्पत्तिप्रसङ्गादित्यर्थः । ननु तस्य नित्यत्वंसिद्धावपि परमाणुत्वे किं मानमत आह—महत्परिमाणेति । तदवयवसिद्धौ त्र्यणुकावयवसिद्धौ । अनेकद्रव्यत्वस्येति समवेतसमवेतवृत्तिद्रव्यत्वस्येत्यर्थः । तदसिद्धेः अवयवधाराया असिद्धेः । अत्र दान्यां परमाणुभ्यां द्वयणुकं त्रिभिर्द्वयणुकैश्च त्र्यणुकमिति संप्रदायो ब्रह्मण्यः । देहमिन्द्रियं विषयस्तथेत्यस्य हेतुपरत्वं सूचयितुमर्थमाह—साकार्यरूपेति ॥ ३७ ॥

योनिजमयोनिजं चेत्यर्थः । योनिजमपि द्विविधं जरायु-
जमण्डजं च । जरायुजं मानुषादीनाम् । अण्डजं सर्पादीनाम् । अयो-
निजं स्वेदजोद्भिज्जादिकम् । स्वेदजाः कृमिदंशाद्याः । उद्भिज्जास्तरु-
गुल्माद्याः । नारकिणां शरीरमप्ययोनिजम् । न च मानुषादिशरीराणां
पार्थिवत्वे किं मानमिति वाच्यं, गन्धादिमत्त्वस्यैव प्रमाणत्वात्, ।
न च क्लेदोष्मादेरुपलम्भादाप्यत्वादिकमपि स्यादिति वाच्यं, तथा
साति जलत्वपृथिवीत्वादिना संकरप्रसङ्गात् । न च तर्हि जलयित्वादिक्-
मेवास्तु न तु पार्थिवत्वमिति वाच्यं, क्लेदादीनां विनाशेऽपि शरीर-
त्वेन प्रत्याभिज्ञानाद्गन्धाद्युपलब्धेश्च पृथिवीत्वसिद्धेः । तेन पार्थिव्यादिशरीरे
जलादीनां निमित्तत्वमात्रं बोध्यम् । शरीरत्वं तु न जातिः पृथिवी-
त्वादिना सांकर्यात्, किंतु चेष्टाश्रयत्वम् । वृक्षादीनामपि चेष्टासत्त्वान्ना-

योनिजं शुक्रशोणितयोः परस्परमेलनजन्यं, न तु योनिद्वारा निर्गतं,
स्वेदजादावतिव्याप्तेः । तद्भिन्नमयोनिजं । जरायुजमिति गर्भवेष्टनचर्मपुटकं
जरायुः तज्जन्यं । मानुषादीनामिन्द्रादिना पश्यादीना परिग्रहणं । सर्पादीना-
मित्यादिना पश्यादिपरिग्रहः । स्वेदजमुदाहरति—कृमिदंशाद्या इति एतेषां
शरीराणामधर्मविशेषविशिष्टेभ्यः परमाणुभ्य एवोत्पत्तेः स्वीकारात् । उद्भि-
ज्जादिकमित्यादिना देवशरीराणा परिग्रहस्तोपामुत्पत्तिस्तु धर्मविशिष्टेभ्यः परम-
णुभ्यः एव सम्भवतीति ब्रह्मणो मानसा गन्धादयः पुत्रा इत्यादिशास्त्रे
स्पृष्टमेव । योनिं विना न शरीरमेवंविधगमे तु योनिपदं कारणमात्रपर-
मिति बोध्यम् । गन्धादिमत्त्वस्येति आदिपदेन च शुक्लेतररूपपरिग्रहः ।
ननु मानुषादिशरीराणां पार्थिवत्वे “शरीरं पाञ्चभौतिकं”मित्यादिव्यवहारो
न स्यादत आह—तेनेति मानुषादिशरीराणां पार्थिवत्वसाधनेनेत्यर्थः, तथा
च शरीरे पाञ्चभौतिकमिति व्यवहारो न पाञ्चभूतोपादाननिमित्तकः, किं तु
पाञ्चभूतजन्यत्वनिमित्तक एवेति भावः । सांकर्यादिति शरीरत्वं विहाय पृथि-
वीत्वं वर्तते घटे, पृथिवीत्वं विहाय शरीरत्वं च देवशरीरे, इत्येवं पृथिवी

व्याप्तिः । न च वृक्षादेः शरीरत्वे किं मानमिति वाच्यम्, आध्यात्मिकवायुसंबन्धस्य प्रमाणत्वात् । तत्रैव किं मानमिति चेद्ब्रह्मतसंसरोहणादिना तदनुमानात् । यदि हस्तादौ शरीरव्यवहारो न भवति तदान्त्यावयवित्वेन विशेषणीयम् । न च यत्र शरीरे चेष्टा न जाता तत्राव्याप्तिरिति वाच्यं, सादृशे प्रमाणाभावात् । अथवा चेष्टावदन्त्यावयवित्वत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वमन्त्यावयवित्वमात्रेष्टाचेष्टावद्वृत्तिजातिमत्त्वं वा तत् । मानुपत्वचैत्रत्वादजातिमादाय लक्षणसमन्वयः । न च नृसिंहशरीरे कथं लक्षणसमन्वयः, तत्र नृसिंहत्वस्यैकव्यक्तिवृत्तितया जातित्वाभावाज्जलीयतैजसशरीरवृत्तितया देवत्वस्यापि जातित्वाभावादिति वाच्यं, कल्पभेदेन नृसिंहशरीरस्य नानात्वेन नृसिंहत्वजात्या लक्षणसमन्वयात् । इन्द्रियमिति प्राणे-

त्वादिना सांकर्यस्य स्फुटत्वाच्छरीरव्य न जातिरित्यर्थः । चेष्टेति चेष्टात्वं चात्र जातिविशेषधेष्टत इत्यनुभवभिन्नः । आव्याभिकवायु. प्राणात्यो वायु. । तत्रैव प्राणाख्यवापायेव । तदुन्नयनाप्राणारूपवायोरनुमानादित्यर्थः । अन्त्यावयवित्वेनेति अन्त्यावयवित्वं च द्रव्यानारम्भकत्वे सति अवयवित्वं, इह तु द्रव्यानारम्भकत्वे सति चेष्टाश्रयस्त्रमित्येवलक्षण, अधिकस्य येयर्थात् । तादृश इति यत्र चेष्टा न जाता सादृशशरीरे मानाभावादित्यर्थः । यत्र मरणानन्तरं गण्टशरीरेरूपचित्तत्र चेष्टाया असत्त्वेनाप्यानेष्टह-अथवेति । चेष्टावदन्त्यावयवित्वत्तिद्रव्यत्वव्याप्यपृथिव्यावजातिमादाय घटादावतीव्याप्तिवारणायह-अन्त्यावयवित्वमिति ननु शरीरव्य । चेष्टा चात्र विनाशितप्राप्तिपरिहारानुकूल्य क्रियते प्राज्ञा, तेन नोदने विनापि यत्राचेदने घटादौ मन्त्रमहिम्ना क्रियोपात्तरतत्र मन्त्रमहिम्ना घटधेष्टत इतिव्यवहारेण चेष्टाव्यजातिविशेषायाधेष्टायाः स्वीकर्तव्यत्वेऽपि नातिव्याप्तिः । अत्रेष्टव्य स्वावच्छिन्नेष्टाविषयत्वमनिष्टव्यं य स्वावच्छिन्नेष्टव्यत्वं, तेन घटादिक्रियाया अपि कस्यचिदिष्टानिष्टातिपरिहारानुकूल्यसम्भवेऽपि न घटत्वादिकमदात्तातिव्याप्तिः । जलीयतैजसशरीरेति जलत्वेन तेजस्त्वेन च सह सांकर्यदिवत्वमपि न जातिरित्यर्थः ।

न्द्रियं पार्थिवमित्यर्थः । पार्थिवत्वं कथामिति चेदित्थम् । घ्राणेन्द्रियं पार्थिवं रूपादिषु मध्ये गन्धस्यैवाभि व्यञ्जकत्वात् । कुङ्कुमगन्धाभिव्यञ्जकगोघृतवन् । न च दृष्टान्ते परकीयरूपादिव्यञ्जकत्वादसिद्धिरिति वाच्यं, परकीयरूपाद्यव्यञ्जकत्वस्य तदर्थत्वात् । न च नवशरावगन्धव्यञ्जकत्वेऽनैकान्तिकत्वमिति वाच्यं, तस्य सक्तुरसाभिव्यञ्जकत्वात् । यद्वा परकीयेति न देयं वायुपनीतसुराभिभागस्य दृष्टान्तत्वसम्भवात् । न च घ्राणेन्द्रियसन्निकर्षस्य गन्धमात्रव्यञ्जकत्वात् तत्र व्यभिचार इति वाच्यं, द्रव्यत्वे सतीति विशेषणात् । विषय इति । उपभोगसाधनं विषयः । सर्वमेव हि कार्यजानमदृष्टाधीनिम्, यत्कार्यं यद्दृष्टाधीनं तत्तदुपभोगं साक्षान्परंपर्या वा जनयत्येव । नहि बीजप्रयोजनाभ्यां विना कस्यचिदुत्पत्तिरस्ति । तेन द्रव्यशुकादि ब्रह्माण्डान्तं सर्वमेव विषयो भवति । शरीरेन्द्रिययोर्विषयत्वेऽपि प्रकारान्तरेणोपन्यासः शिष्यबुद्धिवैश्वर्यार्थः ॥ ३८ ॥

जलं निरूपयति—

वर्णः शुद्धो रसस्पर्शौ जले मधुरशीतलौ ।

स्नेहस्तत्र द्रवत्वं तु सांसिद्धिकमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥

स्नेहसमवायिकारणतावच्छेदकतया जलत्वजातिः सिद्धयति । यद्यपि स्नेहत्वं नित्यानित्यवृत्तितया न कार्यतावच्छेदकं तथापि जन्यस्नेहत्वं तथा बोध्यम् । अथ परमाणौ जलत्वं न स्यात्तत्र जन्यस्नेहाभावान्, नित्यस्य च स्वरूपयोग्यत्वे फलावश्यंभावनियमादिति चेन्न, जन्यस्नेहजनकतावच्छेदकतया जन्यजलत्वजातिः सिद्धौ, तद्वच्चिन्नजनकतावच्छेदकतया जलत्वजातिसिद्धेः । शुद्धरूपमेव जलस्येति दर्शयितुमुक्तं वर्णः शुद्ध इति । न तु शुद्धरूपस्य लक्षणम् । अथवा नैमित्तिकद्रवत्ववदवृत्तिरूपवदवृत्तिद्रव्यत्वस्य लक्षणमप्यजातिमत्त्वम्, अभा-

६

जलस्य मधुर एव रसः शीत एव स्पर्शः । नित्यरसवदवृत्तिमधुर-

जलत्वजातो प्रमाणमाह स्नेहेति कारणतावच्छेदकतया जलत्वसिद्धिं वाचकाभावात्तस्य जातिरसिद्धिरिति भव । न कार्यतावच्छेदकमिति नित्यवृत्तिधर्मस्य कार्यतावच्छेदकताभावात् । स्वरूपयोग्यत्वे कारणतावच्छेदकधर्मस्ये । फलावश्यंभाव इति अरण्यवदण्डादां घटस्य रूपयोग्यताकारेऽपि न काप्यनुपरातिस्तस्यानित्यत्वेन पत्रेपरायकत्वभवात्, नित्यस्य स्वरूपयोग्यत्वे तु फलस्यास्य भावस्यादिति भावः । तदवच्छिन्नैति जन्यजलत्वार्थात्स्नेहस्य । ननु शुद्धरूपस्य पुरिषादावतिव्यस्यमत आह—दर्शयितुमिति न तु लक्षणमिति पृथग्यादयति यानेति भव । शुद्धरूपवत्त्वस्य लक्षणमेऽप्याह—नैमित्तिकद्रवत्ववदवृत्तीति द्रव्यभावाद्भावात्पदस्य चात्र द्रव्यभवात्प्राप्याप्यस्य बोध्य, एतद्वृत्तणायोपश्रुतत्वादाह—अभास्वरोति । लक्षणपदस्य दृश्यमाह—तेनेति । ननु जले नीलरूपभागे काण्टिदीपते स्य

न्द्रियं पार्थिवमित्यर्थः । पार्थिवत्वं कथमिति चेदित्यम् । घ्राणेन्द्रियं पार्थिवं रूपादिषु मध्ये गन्धस्यैवाभि व्यञ्जकत्वात् । कुङ्कुमगन्धाभिव्यञ्जकगोष्ठतवत् । न च दृष्टान्ते स्वकीयरूपादिव्यञ्जकत्वादसिद्धिरिति वाच्यं, परकीयरूपाद्यव्यञ्जकत्वस्य तदर्थत्वात् । न च नवशरावगन्धव्यञ्जकलेऽनैकान्तिकत्वमिति वाच्यं, तस्य सक्तुरमाभिव्यञ्जकत्वात् । यद्वा परकीयेति न देयं वायुपनीतमुगभिभागस्य दृष्टान्तत्वसंभवात् । न च घ्राणेन्द्रियसन्निकर्षस्य गन्धभात्रव्यञ्जकत्वात् तत्र व्यभिचार इति वाच्यं, द्रव्यत्वे सतीति विशेषणात् । विषय इति । उपभोगसाधनं विषयः । सर्वमेव हि कार्यजातमदृष्टार्थिनम्, यत्कार्यं यद्दृष्टार्थिनं तत्तदुपभोगं साक्षान्परंपर्या वा जनयन्त्येव । नहि बीजप्रयोजनाभ्यां विना कस्यचिदुत्पत्तिरस्ति । तेन द्वयणुकादि ब्रह्माण्डान्तं सर्वमेव विषयो भवति । शरीरेन्द्रिययोर्विषयत्वेऽपि प्रकारान्तरेणोपन्यासः शिष्यबुद्धिवैश्वर्यार्थः ॥ ३८ ॥

देयत्वस्यापीत्यपिना नृसिंहत्वपरिग्रहः । रूपादिषु मध्ये इति रूपरसगन्धस्पर्शशब्देषु मध्ये गन्धस्यैव बोधकत्वादिन्यर्थः । घ्राणेन्द्रियस्य गन्धत्वादेरपि बोधकत्वादेरनौ मध्येऽपि, मनसि व्यभिचारवारणाय चैवकारः । तदर्थत्वादिति गन्धस्यैवाभिव्यञ्जकत्वादित्यस्यार्थत्वादित्यर्थः । तस्य नवशरावगन्धव्यञ्जकत्वस्य । परकीयेतिविशेषणाप्रवेशेन व्यावदाह यद्वेति । परकीयानुपादाने हेतुमाह-वायुपनीतेति । इतिविशेषणादिति तथा च रूपाद्यव्यञ्जकत्वे सति गन्धमात्रव्यञ्जकद्रव्यावादिष्यस्यार्थो बोध्य इति भावः । यस्तुतस्तु रूपाद्यव्यञ्जकत्वे सति गन्धव्यञ्जकद्रव्यत्वादित्यादिहेतुत्रय एव विषय इति प्रथमकर्तृस्तात्पर्यं बोध्यम् । विषयमाहेति ननु किं नाम विषयत्वं सामान्यादावपि वृत्तिस्त्वेन जातिरभावात् आह-उपभोगेति । यद्दृष्टार्थिनं यत्पुरुषादादृष्टार्थिनं, तत्कार्यं, तदुपभोगं तत्पुरुषस्योपभोगमित्यर्थः ॥ ३८ ॥

इति पृथिवीग्रन्थः ॥

जलं निरूपयति—

वर्णः शुक्लो रसस्पर्शौ जले मधुरशीतलौ ।

स्नेहस्तत्र द्रवत्वं तु सांसिद्धिकमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥

स्नेहसमवायिकाणतावच्छेदकतया जलत्वजातिः सिद्धयति। यद्यपि स्नेहत्वं नित्यानित्यवृत्तितया न कार्यतावच्छेदकं तथापि जन्यस्नेहत्वं तथा बोध्यम् । अथ परमाणौ जलत्वं न स्यात्तत्र जन्यस्नेहाभावात्, नित्यस्य च स्वरूपयोग्यत्वे फलावश्यंभावनियमादिति चेन्न, जन्यस्नेहजनकतावच्छेदकतया जन्यजलत्वजातेः सिद्धौ, तद्वच्छिन्नजनकतावच्छेदकतया जलत्वजातिसिद्धेः । शूद्ररूपमेव जलस्येति दर्शयितुमुक्तं वर्णः शूद्र इति । न तु शूद्रस्पर्शश्च लक्षणम् । अथवा नैमित्तिकद्रवत्ववदवृत्तिरप्यद्रवत्वस्य द्रव्याप्यजातिमत्त्वम्, अभास्वरशूत्रेतररूपाममानाधिपकरणरूपवदवृत्तिद्रव्यत्वसाक्षाद्रव्याप्यजातिमत्त्वं वा तदर्थः । तेन स्फुटिकादौ नानिव्याप्तेः । रसस्पर्शाविति । जलस्य मधुर एव रसः शीत एव स्पर्शः । निरूपयति मधुर-

जलत्वजातो प्रमाणमा स्नेहेति कण्ठतावच्छेदकतया जलत्वसिद्धेः कारकाभावात्तस्य जातिरस्मादिर्गितिभव । न कार्यतावच्छेदकमिति नित्यवृत्तिधर्मस्य कार्यतावच्छेदकताभावात्तस्मात् । स्वरूपयोग्यत्वे कारणतावच्छेदकधर्मवशे । फलावश्यं भाव इति अरण्यम्वदण्णदौ घटम्वरूपयोग्यत्वस्वकारेऽपि न काथ्यनुपपत्तिस्तस्याभिव्यक्तत्वेन फलेपत्रायकत्वभावात्, नित्यस्य स्वल्पयोग्यवशे तु फलरथावश्यं भाव स्यादिति भावः । तदवच्छिन्नैति जन्यजलत्वावच्छिन्नैरर्थे । ननु शूद्ररूपस्य पृथिव्याद्रव्यव्याप्तमत्त जलदर्शयितुमिति न तु लक्षणमिति पृथिव्याद्रव्यव्याप्तमितिभव । शूद्ररूपस्य लक्षणवेऽप्यत्र—नैमित्तिकद्रवत्ववदवृत्तीनि द्रव्यव्याप्तादव्याप्तमत्तत्वात् द्रव्यव्याप्त्याप्यत्र बोध्यं, एतल्लक्षणगोप्यत्वात्तदाह—अभास्वरोति । लक्षणपदस्य इत्यमह—तेनेने । ननु जले नानुपपत्तौ कश्चिद्वचो भूय

दवच्छिन्नजनकतावच्छेदकं तु- जलत्वं बोध्यम् । घृष्टचन्दनादौ तु शैत्योपलब्धिश्चन्दनान्तर्वर्तिशतितरसाल्लिप्त्यैव । तेजःसंयोगज्जले उष्णप्रतीतिरौषाधिकी स्फुटैव । तत्र पाकासम्भवात् ॥ स्नेहस्तत्रेति । घृतादावपि तदन्तर्वर्तिजलस्यैव स्नेहः, जलस्य स्नेहसम्वापिकारगत्वात् । तेन जल एव स्नेह इति मन्तव्यम् ॥ द्रवत्वमिति । सांसिद्धिकद्रवत्वत्वं जालिविशेषः प्रत्यक्षसिद्धः । तदवच्छिन्नजनकतावच्छेदकमपि तदेवेति भावः । तैलादावपि जलस्य द्रवत्वं स्नेहप्रकर्षणं च दहनात्तुकूल्यामिति वक्ष्यति ॥ ३९ ॥

नित्यतादि प्रथमवर्तिकतु देहमयोनिजम् ।

इन्द्रियं रसनं सिन्धुहिमादिर्विषयां मतः ॥ ४० ॥

प्रथमवदिति । पृथिव्या इत्यर्थः । तथाहि । जलं द्विविधं नित्यमनित्यं च । परमाणुरूपं नित्यं द्रवणुकादिकं सर्वमनित्यमवयवसमवेतं च । अनित्यमपि त्रिविधं शरीरेन्द्रियविषयभेदात् ॥ पृथिव्यतो यो विशेषस्तमाह । किञ्चित्त्विति । देहमयोनिजम्, अयोनिजमेवेत्यर्थः । जलीयं शरीरं वरुणलोके प्रासिद्धम् । इन्द्रियमिति जलीयमित्यर्थः । तथाहि । रसनं जलीयं गन्गाशुक्लकत्वे साति रस-

जम्बूरे आम्रसस्यैवानुभासत्तदजले परपरया तस्थेन प्रतीति, हरीतक्या तु मधुररसाभावात् हरीतकीगन्तमाशुर्षस्य जले प्रतीतिरिति भावः । जलद्रव्याभावेऽपि घृष्टचन्दनादौ शैत्योपलब्धेर्जातस्पर्शरसमतिव्याप्तमत आह-घृष्टेति । तत्र जले पाकासम्भवत्वात् चाग्रे स्फुट्यभविष्यति । तदवच्छेदकमपीति सांसिद्धिकद्रवत्वत्वात्तदवच्छिन्नजनकतावच्छेदकमपि, तदेव जन्यजलरसमेवेत्यर्थः । वक्ष्यमि स्नेहानिरूपणसमरे तत्प्रकर्षादहनस्यानुकूल्येत्तपनेन वक्ष्यतीत्यर्थः ॥ ३९ ॥

जलीयं शरीरमिति तच्च पार्श्वभागोपलब्ध बोध्य. तेन कण्ठे जले हस्तपादादिव्यवस्थायां समम्भवेऽपि न क्षति । वरुणलोक इति तथा च तत्र भुनिरेव प्रमाणमिति भावः । कामार सर. करकादिरिवादिना कृपा

व्यञ्जकत्वात्, सवतुरसाभिव्यञ्जकोद्भवत् । रसनेन्द्रियसंनिकर्षे व्यभि-
चारवारणाय द्रव्यत्वं द्रव्यम् । विषयं दर्शयति सिन्धु हिमादिरिति । सिन्धुः
समुद्रः । हिमं तुषारः । आद्रिपट्टात्सारित्कासारकरकादिः सर्वोऽपि प्रायः
नच हिमकरकयोः कठिनत्वात्पार्थिवत्वमिति वाच्यम्, उष्मणा विन्धी-
नस्य तस्य जलत्वस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात् । यद्द्रव्यं यद्द्रव्यव्यंसजन्यमिति
व्याप्तेर्जलोपादानोपादेयत्वसिद्धेः । अदृष्टविशेषेणच द्रवत्वप्रतिरोधात्
कारकादीनां काठिन्यप्रत्ययस्य भ्रान्तत्वात् ॥ ४० ॥

तेजो निरूपयति -

उष्णः स्पर्शस्तेजसस्तु स्याद्रूपं शुक्लभास्वरम् ।

नैमित्तिकं द्रवत्वं तु नित्यतादि च पूर्ववत् ॥४१॥

उष्णत्वं स्पर्शनिष्ठो जातिविशेषः प्रत्यक्षसिद्धः । इत्थं च जन्यो-
ष्णस्पर्शसमवायिकारणत, वच्छेदकं तेजस्त्वं जातिविशेषः । तस्य पर-
माणुवृत्तित्वं तु जलत्वस्यैवानुसंधेयम् । नचोष्णस्पर्शवत्त्वं चन्द्रकिर-
णादावव्याप्तमिति वाच्यं, तत्र, प्युष्णत्वस्य सत्त्वात् । किंतु तदन्तः-
पातिजलस्पर्शनाभिभवाद्ग्रहः । एवं रत्नकिरणादौ पार्थिवस्पर्शनाभिभ-
दिप्रसिद्धः । कठिनत्वात् कठिनस्पर्शश्चादित्यर्थः हिमकरकयोर्जलत्वे कथं
काठिन्यप्रत्ययः ? अत आह—भ्रान्तत्वादिति ॥ ४० ॥

॥ इति जलग्रन्थः ॥

इत्थं चेति उष्णत्वजातिसिद्धौ चेत्यर्थः । जलत्वस्यैवेति तथा च
यथा जन्यजन्द्द्रावच्छिन्नजनकतावच्छेदकतया परमाणुसाधारणा जलत्व जाति-
मिद्वर्षति. तथा जन्यतेजसवावच्छिन्नजनकतावच्छेदकतया तेज.परमाणुसा-
धारणायास्तेजस्त्वजातेरपि सिद्धिरिति भावः । चन्द्रकिरणादेरित्यादिना रत्नकिर-
णादेः परिग्रहः । तत्रापि चन्द्रकिरणादावपि । ननु तद्व्याप्तिप्रतीतिः स्यादत
आह—किंत्विति । तदन्त इति चन्द्रकिरणात्तःपार्थिवत्वार्थः । ननु चक्षुरादौ

वाङ्मुरादौ चानुद्भूतत्वाद्ग्रहः ॥ रूपमित्यादि । वैश्वानरे मरकतकि-
रणादौ च पार्थिवरूपेणाभिभवान्शुक्ररूपाग्रहः ॥ ननु तद्रूपाग्रहे धर्मि-
णोऽपि चाक्षुपन्वं न स्यादिति चेन्न, अन्यदीयरूपेणापि धर्मिणो ग्र-
हसंभवात्, शङ्खस्यैव पित्तपीतिभ्रा । वद्वेस्तु शुक्ररूपं नाभिभूतं किंतु
नदीयं शुक्रत्वमाभिभूतमित्यन्ये ॥ नैमित्तिकमिति । सुवर्णादिरूपे तेजसि
तत्सत्त्वात् । न च नैमित्तिकद्रवत्वं न लक्षणं दहनादावव्याप्तं घृतादावनि-
व्याप्तं चेति वाच्यं पृथिव्यवृत्तिर्नैमित्तिकद्रवत्ववद्दृष्टिद्रव्यत्वसाक्षाद्वाप्य-
जातिमच्चस्य विशिक्तत्वात् ॥ पूर्ववदिति । जलस्यैवेत्यर्थः । तथाहि
तत् द्विविधं नित्यमनित्यं च । नित्यं परमाणुरूपं तद्रन्यदनित्यम्,
अथयत्र च । तच्च त्रिधाः शरीरोन्द्रियविषयभेदात् । शरीरमयोनिजमेव ।
तच्च सूर्यलोकादी भासिद्धम् ॥ ४१ ॥

अत्र यो विशेषस्तमाह—

इन्द्रियं नयनं वह्निस्वर्णादिर्विषयो मतः ।

ननु चक्षुषस्तैजसत्वे किं मानमिति चेत्, चक्षुस्तैजसं परकी-

कथं न टण्णास्पर्शग्रह ? अत आह—चक्षुगदौ चेति । अथेति (नन्विति)
तद्रूपाग्रहे वैश्वानरादिगतभास्वररूपाग्रहे । धर्मिणोऽपि वैश्वानरादेरपि । अथे-
न्मव्यक्तित्वेन वैश्वानरादिगतसत्यादेरपि ग्रहणं न स्यादिति नित्यं सूचित
बोध्यम् । अन्यदीयेति पार्थिवरूपेणैवेत्यर्थः । यथा पित्तपीतिभ्रा शङ्खदेः
प्रतीतिस्तद्द्रव्यापीतिभ्रा । ननु शङ्खादिगतरूपस्य वस्तुगत्या नानुद्भूतत्व
किंतु पित्तदोषेण शुक्रउत्सर्प एव पीतत्वं मामत इयमिप्रायवानाह—वद्वेभिवति
सुवर्णादिरूपेति तत्सत्त्वाद्ग्रहत्वमत्वादि यर्थः, तेन नामभव इति भावः ।
पृथिव्यवृत्तीति अत्रापि साक्षात्तद्द्रव्यमपत्तायात् तच्च तैजसं शरीरम् ॥ ४१ ॥

परकीयेति अत्रापि चक्षुः सन्निकर्षेऽतिव्याप्तिसारणात् प्रव्यते सतीति
पूरणीयम् । अत्र केचिद्वैश्वानरादयश्चक्षुषोऽप्रत्यकारित्वं, व्यापक्यन्ति प्रमाणयन्ति
च ते—यदि चक्षुः प्राप्यकारि स्यात्तदा रमनादिवद्विष्टानसम्बन्धमेव गृह्णीयात्,
न चैव, प्रपक्षयायात् । किंच यदि चक्षुः प्राप्य गृह्णीयात्तदा स्वतोऽधिकप-

रिमाणरद्वस्तु न गृह्णीयात्, उक्तं च—“ न गृह्णन् गृह्णन्तुश्च स्वप्र-
 माणात्प्रतिष्ठे पटकट्टकटादौ भेदकारि प्रमिद्धमिवादि, ” प्राप्यकारित्वे च
 शाब्दाच्चन्द्रमसोऽनुपकाळग्रहणमपि न स्यादिति । तदेतदखिलमसर्माक्षितभा-
 गितहेनामन्, तथाहि—अधिष्ठानामम्बरवस्तुप्राप्त्या प्रदीपप्रभाया इव चक्षु-
 षोऽपि प्राप्यकारित्वमम्बरान्, म्बाविकपरिमणप्राप्तित्वं चास्य गोलकनिर्गत-
 स्य चक्षुषः प्रदीपप्रभावेदोपपत्ते । न च प्रदीपस्य तेजसत्त्वन तत्प्रभायाः
 सर्वत्र प्रसूनत्ता स्वतोऽपिकपरिमणरद्वस्तुप्राप्तित्वमम्भवेऽपि न चक्षुषः प्राप्य-
 कारित्वं सम्भवति चक्षुरस्त्वनमपे मानाभावादिति वाच्यं, स्वर्गदिपु मध्ये
 रूपस्यैवामिव्यञ्जकद्रव्यादिति हेतुना चक्षुषि तेजसत्त्वाभावात् । न चास्य
 हेतेरञ्जनादौ व्यभिचार इति वाच्यं, अञ्जनादेरन्यत्र क्लृप्तमनियतपर्यवर्तिभिरेव
 कार्यसम्भवं इत्याद्य-वयासिध्वन्नेन रूपप्राप्तित्वस्यैवामम्भवात्, किं तु चक्षुर्ग-
 तदोपत्यारतकत्वेन वापस्वच्छे भ्रमत्प्रगङ्गाविरटनद्वारा प्रामाण्यज्ञानरदजनादि-
 कमपि चक्षुषादौ करचिदुपपद्यते, न तु कारणत्वं तस्य । न च भास्वर-
 शुक्लरूपाभावाच्चक्षुषो न तेजसत्त्वमिति वाच्यं, चक्षुषि भास्वरशुक्लरूपस्य
 सत्त्वात् । अनुपलब्धिस्त्वनुद्गततयापि न गच्छते । न चैव सुवर्गमचक्षुषोऽपि
 रूपादिप्रकाशकत्वं न स्यादिति वाच्यं, चाक्षुषलौकिकप्रत्यक्षं प्रत्युद्गतरूपा-
 वच्छिन्नमहाराशच्छिन्नालोक्रमयोगागच्छिन्नचक्षुसयोगस्य कारणत्वात्, आलोक-
 श्चान्धकारप्रतियोगी तेज तथा चान्धकारे सुवर्गमचक्षुषोऽपि मूलोदिकाक्षुष्या
 पत्तिवारणायालोकयोगागच्छिन्नैत्यत्र तेजसि एव उद्भूतत्वमिभूतत्वं विशेषणं, न
 तु चक्षुष्यपीति यन्किंचिदतन् । ननु काचकूपोदगविरगतस्य ध्यवप्रिमतोऽपि
 जलदेः प्रकाशकत्वेन चक्षुषो मनस इव प्राप्यकारि न सम्भवतीति चेन्न,
 काचकूपोदे सञ्जतरच्छिन्नात्वेन नेत्रकिरणाना तदन्तः प्रवेशसम्भवात् । न
 चैव काचकूपोदितो जलदेः वहिः प्रगतः स्यादिति वाच्यं, जलदेः क्षया
 तच्छिद्राणामत्यन्तं सुक्ष्मतरङ्गकल्पनात्, कथमन्यथा काष्ठादिना गाढतर पि-
 हितमुखस्यापि काचकूपोदेरन्तर्गतस्य जलदेरातपादिना सर्वानुभवासीधमुष्णश्च

वाचसुरादौ चानुद्धृतत्वाद्ग्रहः ॥ रूपमित्यादि । वैश्वानरे मरकतकि-
रणादौ च पार्थिवरूपेणाभिभवाच्छुद्धरूपाग्रहः ॥ ननु तद्रूपाग्रहे धर्मि-
णोऽपि चाक्षुपत्वं न स्यादिति चेन्न, अन्यदीयरूपेणापि धर्मिणो ग्र-
हसंभवात्, शङ्खस्येव पित्तपीतिम्ना । वद्वेस्तु शुद्धरूपं नाभिभूतं किंतु
तदीयं शुद्धत्वमाभिभूतमित्यन्ये ॥ नैमित्तिकमिति । सुवर्णादिरूपे तेजसि
तत्सत्त्वात् । न च नैमित्तिकरुद्रवत्वं न लक्षणं दहनादावव्याप्तं घृतादावति-
व्याप्तं चेति वाच्यं पृथिव्यवृत्ते नैमित्तिकरुद्रवत्त्ववद्वृत्तिद्रव्यत्वसाक्षाद्वाप्य-
जातिमत्त्वस्य विशिष्टतत्त्वात् ॥ पूर्ववदिति । जलस्येवेत्यर्थः । तथाहि
तत् द्विविधं नित्यमनित्यं च । नित्यं परमाणुरूपं तदन्यदनित्यम्,
अथयत्र च । तत्र त्रिधा शरीरेन्द्रियनिपयभेदात् । शरीरमयोनिजमेव ।
तच्च सूर्पलोकादौ प्रसिद्धम् ॥ ४१ ॥

अत्र यो विशेषस्तमाह—

इन्द्रियं नयनं वह्निस्वर्णादिर्विषयो मतः ।

ननु चक्षुपस्तैजसत्वे किं मानमिति चेत्, चक्षुस्तैजसं परकी-

कथं न उष्णसर्वाग्रहः ? अत आह—चक्षुरादौ चेति । अथेति (नन्विति)
तद्रूपाग्रहे वैश्वानरादिगतभास्वररूपाग्रहे । धर्मिणोऽपि वैश्वानरादेरपि । अथे-
भ्यव्यतिष्ठतिचेन वैश्वानरादिगतसस्यादेरपि ग्रहणं न स्यादित्यपिना सूचित
बोध्यव्यम् । अन्यदीयेति पार्थिवरूपेणैवेत्यर्थः । यथा पित्तपीतिम्ना शम्बादेः
प्रतीतिस्तद्द्रव्यापत्तिभावः । ननु शम्बादिगतस्यस्य वस्तुगन्था नानुद्धृतत्वं
किंतु पित्तदोषेण शुक्लरूप एव पीतत्वं भासत इत्यभिप्रायवानाह—वद्वेक्षितेति
सुवर्णादिरूपेति तत्सत्त्वाद्द्रव्यसत्त्वादित्यर्थः, तेन नामग्भव इति भावः ।
पृथिव्यवृत्तौति अत्रापि साक्षात्तदं सपत्तायात् तच्च तैजसं शरीरम् ॥ ४१ ॥

परकीयेति अत्रापि चक्षुःसन्निकर्षेऽतिव्याप्तिवारणाय उच्यते सतीति
पूर्णायम् । अत्र केचिद्वैश्वानरमध्यक्षुनोऽप्राप्यकारित्वं, व्यावर्णयमित प्रमाणयति
च तै—यदि चक्षुः प्राप्यकारि स्यात्तदा रसनादिवदभिष्टानसम्बन्धमेव गृह्णीयात्,
न चैवं, प्रत्यक्षवायात् । किंच यदि चक्षुः प्राप्य गृह्णीयात्तदा स्तोऽधिकप-

रिमाणरद्वस्तु न गृह्णीयात्, उक्तं च—“ न शब्द नखलुशब्द स्वप्र-
 माणाःप्रविष्टे पटकटशकटादौ भेदकारि प्रतिज्ञमित्यादि, ” प्राप्यकारित्वे च
 शब्दाच्चद्रमसोऽस्तु यकालग्रहणमपि न स्यादिति । तदेतदखिलमसमीक्षितभा-
 पित्तनेनामन्, तथाहि—अभिष्टानामन्वचरस्तुप्राप्तित्वा प्रदीपप्रभाया इव चक्षु-
 षोऽपि प्राप्यकारित्वमम्भनात्, स्वानिक्ताग्निमाणप्राप्तित्वा चाम्य गौडकानिर्गत-
 स्य चक्षुष प्रदीपप्रभयेदोषपते । न च प्रदीपस्य तजसत्त्वं तप्रभाया-
 सर्वत्र प्रसृतत्वा स्वतोऽपिरूपरेमाणरद्वस्तुप्राप्तित्वमम्भयेऽपि न चक्षुष प्राप्य-
 कारित्व सम्भवति चक्षुरस्तेजसरे मानामनादिति वाय, सर्गादिषु मध्ये
 रूपस्यैवाभिव्यञ्जकत्वव्यादिति हेतुना चक्षुषि तेजसन्वमापनात् । न चास्य
 हेतोरञ्जनादा व्यभिचार इति प्राप्य, अञ्जनादेरन्यत्रकलमानियतप्रतिभिरैव
 कार्यमम्भव इत्याद्यन्यथासिद्धत्वेन रूपप्राप्तित्वस्यैवामम्भनात्, किं तु चक्षुर्ग-
 त्तदोषन्यावर्तकत्वेन वाप्यस्यैव भ्रमत्वरशङ्कामिघटनद्वारा प्रामाण्यज्ञानरदजनादि-
 कमपि चक्षुषादौ कश्चिदुपग्रह्यते, न तु कारणत्व तस्य । न च भास्वर-
 शुकलरूपाम्नाचक्षुषो न तेजमन्वमिति वाच्य, चक्षुषि भास्वरशुकलरूपस्य
 सत्त्वात् । अनृपलक्षितरनुद्धृततयापि संगच्छे । न चैव सुवर्णमचक्षुषोऽपि
 रूपादिप्रकाशकत्वं न स्यादिति वाच्यं, चाक्षुषलोकिप्रत्यक्ष प्रत्युद्धृतरूप-
 मच्छिन्नमहत्वावच्छिन्नालोकमयोगागच्छित्तचक्षु मयोगस्य कारणत्वात्, आलोक
 श्वाधकारप्रतियोगी तेज तथा चान्धकारे सुवर्णमचक्षुषा भूतल्लादिचाक्षुषा
 पक्षिणारणायालोकमयोगागच्छित्तै यत्र तेजमि एव उद्धृतानभिभूतत्वं विशेषण, न
 तु चक्षुष्यपीति यन्किंचेदतत् । ननु काचकूपोदरगिरगतस्य व्यथिमत्तोऽपि
 जटादे प्रकाशकत्वेन चक्षुषो मनस इव प्राप्यकारि न न सम्भवतीति चेन्न,
 काचकूपदे मृग्मन्तरच्छिद्रत्वेन नेत्रकिरणाना तदन्त प्रवेशसम्भवात् । न
 चैव काचकूपदितो जटादे वहि प्रपात स्यादिति वाच्य, जलपक्षया
 तच्छिद्राणामत्यन्त सूक्ष्मतरत्वरकल्पनात्, कथमन्यथा काशादिना गाढतरं पि-
 हितमुखस्यापि काचकूपदेरन्तर्गतस्य जलादेरातपादिना सर्वानुभवातिभ्रमुष्णस्य

यस्पर्शाद्यव्यञ्जकत्वे सति परकीयरूपव्यञ्जकत्वात् प्रदीपवत् ।
प्रदीपस्य स्वीयस्पर्शाद्यव्यञ्जकत्वाद्वा दृष्टान्तेऽव्याप्तिवारणाय प्रथमं

सङ्गच्छेत, तत्रापि सूर्यरश्म्यादीनां जलादेः सम्भवोऽवश्यं स्वीकर्तव्यः, स च सम्बन्धः काचकूपार्दो छिद्रानङ्गीकारे न सम्भवतीत्यकामेनापि काचकूपदेः स-
च्छिद्रत्वं स्वीकर्तव्यं । सच्छिद्रत्वे च तस्य जलादीनां ततो बहिः प्रपातापत्त्या त-
च्छिद्राणां जलापेक्षयातिमूढमत्वं रश्म्यपेक्षया च स्पृष्टव्यं भवतापि स्वीकृतमेवेति
“ चक्षुरप्राप्य धीकृद्भवविमतोऽपि प्रकाशकं यस्मादतःकरणं यद्ब्रह्मतिरंके
स्यापुना रसना ॥ १ ॥ ” इत्यादिकं यत्कैश्चिदुक्तं तदापातरमणोपमेवेति
दिक् । काचकूपदेः सच्छिद्रत्व रश्मिभिः छिद्रकरणाद्भवति पूर्वमेव वा तस्य
सच्छिद्रत्वमिति विचारस्य न प्रकृतोपयोगित्वमिति तदुपेक्ष्यते ॥ नयेवमपि घटाद्य-
न्तर्गतस्य व्यवविमतोऽपि जलादेश्चाक्षुषत्वात् चतुर्वारंभेति चेन्न, तत्र कुंभादिभिर्नेत्र-
किरणानां प्रतिघानस्पर्शकारान्, कथमन्यथा घटाद्यन्तर्गतस्य व्यवविमतो जलादे-
र्दीपिकाघाटोकेनापि प्रकाशो नानुभूयते इत्यतो दृष्टे किञ्चिन्नानुपपन्नं नामेति न्याये-
नेदं एव नेजस. स्वभावो यत्तल्लु कुत्रचित्प्रतिघातः कुत्रचिच्चाप्रतिघात इति।

यत्र चक्षुषः प्राप्यकारित्वे जालाचन्द्रमसोऽनुत्यकालप्रदण न स्यादित्या-
पादित तत्रेष्टावतिरेव । तुल्यकालाभिमानधाशूपत्यैव, अचिन्त्यो हि तेजसो
लावयानिश्येन वेगातीशयो यदुदयमिरिचूडायलम्बिन्येव भगवति सधितरि
भवनोदरेष्वान्दोक्त इत्यभिमानो लोकानामिति सिद्धं मनोभिर्भेन्द्रियत्वस्वरूप-
बहिरिन्द्रियावेन हेतुना चक्षुषः प्राप्यकारित्वं । किञ्च इदं रूपमिति ज्ञान
इन्द्रियसंपुक्तसमवायजन्यं विभ्रवृत्तिगुणविरयकर्त्तव्यप्रत्यक्षस्थान् तादृश-
स्पर्शप्रत्यक्षवदित्यनुमानेनापि चक्षुषः प्राप्यकारित्वमेवेत्प्रत्यमतिप्रसङ्गेन ।
एतेन नहि काचकूपार्दो सूर्यादिकिरणानामपि प्रवेगोऽस्माभिः स्वीक्रियते
किंतु सूर्यादौवल परपरया तत्रस्थान्धकारकारणोभूताः पुद्गलापरनामानो इव्य-
विशेषा एव बासिताः संतः काचकूपान्तर्गतस्य जलादेः प्रकाशका मर्त-
त्वापि प्रत्युक्तं, अन्धकारस्य पुद्गलकार्थत्वे मानाभावात् किञ्चिदकल्पनात्-

परमीयेति । घटादेः स्वीयरूपव्यञ्जनत्वाद्बिचारावधारणाय द्वितीय
 परमीयेति । अथवा प्रभायाः दृष्टान्तत्वसमवादाच्च परमीयेति न
 देयम् । चक्षुःसन्निरूपे व्यभिचारवधारणाय द्रव्यत्व देयम् ॥ विषय
 दर्शयति । वह्निरिति । ननु सुवर्णस्य तैजसत्वे हि मानमिति चेन्न,
 सुवर्णं तैजसम्, अस्ति प्रतिबन्धे अत्यन्तानलसयोगेऽप्यनुच्छिद्य
 मानजन्यद्रवत्वात् यन्नैव तन्नैवम्, यथा पृथिवीति । न चाप्रयोजनम्,
 पृथिवीद्रवत्वस्य जन्यजन्यत्वस्य चात्यन्ताग्निसयोगेनाशयत्वात् ।
 ननु पीतिमगुरुत्वाश्रयस्य पार्थिवभागस्यापि तदानीं द्रुतत्वात्तत्र
 व्यभिचार इति चेन्न, जन्मयस्थमपीक्षोद्वत्तस्याद्रुतत्वात् । अपरे
 तु पीतिमाश्रयस्य अत्यन्ताग्निसयोगेऽपि पूर्वरूपापगतवृत्तिदर्शना-
 च्छप्रतिबन्धकं विजातीयद्रवद्रव्यं कल्प्यते । तथाहि । अत्यन्ताग्निस-
 योगे पीतिमगुरुत्वाश्रयः विजातीयरूपप्रतिबन्धकद्रवद्रव्यसमुक्तः, अत्य

त्वादिरूपानेकनिधेयद्रवद्रव्यं चेतनरूपनाया ॥ गवनादाह—अथवेति । ननु
 सुवर्णस्य तैजसत्वे हि मानमिति स्वर्णं पार्थिवं आनगोद्वज्रादिषादिहेतो
 पापिनयसाधकस्थेव सत्त्वात् । समाधत्ते—नेति । अनलियमानेनि अनुच्छिद्यमान
 द्रवत्वापिकरणत्वादित्यर्थः, तेन नामानादां व्यभिचारः । न चाप्रयोजनमिति
 अस्तु अत्यन्तानलसयोगेऽप्यनुच्छिद्यमानद्रवत्वापिकरणम्, मास्तु तैजसत्वं
 मित्यत्र विपक्षे बाधकत्वकाभाय इत्यर्थः । अग्निसयोगेनाशयत्वादिति
 उपश्रयणं चेतत् अग्निरप्यत्र प्रथमं सिद्ध्यम् । इत्यादागमायधानु
 पपत्तेरप्यनुकूलत्वमिति । तदानीमत्यन्तानलसयोगेऽप्यनुच्छिद्यत्वात् ।
 तस्य पीतिमगुरुत्वाश्रयस्य । ननु मयाक्षोदेषे जडविना द्रवत्वदर्शनाज्जल-
 सयोगेऽपि तत्र द्रव्यं नास्तीति शक्यते यत्तु प्रकृते तु सुवर्णसमिलितपी-
 तिमगुरुत्वाश्रयस्य पार्थिवभागस्य तेनाभागविना कदाप्यदर्शनात् दृष्टान्तमाश्रये-
 त्यभिप्रायवता मतमुपपस्यति—अपरे त्वित्यादिना । तत्र प्रतिबन्धकं रूपपरा
 वृत्तिप्रतिबन्धकं । अनुमानस्वरूपं दर्शयति—तथाहीत्यादिना । जलपरमाणौ

न्ताप्रिसंयोगे सत्यपि पूर्वरूपविजातीयरूपानधिकरणत्वात्, जलमध्य-
स्थपीतपटवत् । तस्य च पृथिवीजलाभिवन्नस्य तेजस्त्वनियमात् ॥

वायुं निरूपयति—

अपाकजोऽनुष्णाशीतस्पर्शस्तु पवने मतः ॥४२॥

तिर्यग्गमनवानेष ज्ञेयः स्पर्शादिलिङ्गकः ।

पूर्ववन्नित्यताद्युक्तं देहव्यापि त्वगिन्द्रियम् ॥४३॥

अनुष्णाशीतस्पर्शस्य पृथिव्यामपि सत्त्वादुक्तमपाकज इति ।
अपाकजस्पर्शस्य जलाटावपि सत्त्वादुक्तमनुष्णाशीत इति । तेन वाय-
वीयो विजातीयः स्पर्शा दर्शितः । तज्जनकतावच्छेदकं वायुत्वमिति
भावः । एष वायुः स्पर्शादिलिङ्गकः । वायुर्हि स्पर्शशब्दधृतिकम्पैर-

व्यभिचारस्वारणाय हेतौ पृथिवीत्वमपि देयम् । तस्य द्रवद्रव्यस्य पृथिवीज-
लभिन्नस्येति पृथिव्या. पृथिवीतपीतिमाश्रयाया विजातीयत्वामावाजलस्य च
तत्रासम्भवादिभिभावः । तेजस्त्वनियमादिति वाश्वादी द्रवत्याभावदितिभावः तथा
च पार्थिवत्वभावकस्य पूर्वोक्तानुमानस्याप्रयोजकत्वमेवेति सिद्धम् । न चैवमन्धकारे
पीतिमगुरुत्वाश्रयद्रव्यप्रहापत्तिः सुवर्णरूपतेजःसयोगस्य मत्त्वादिति वाच्यं. विलक्ष-
णतेजःसयोगस्यैव द्रव्यप्रत्यक्षे हेतुतयोक्तत्वात् सुवर्णरूपस्य तु पार्थिवरूपेणाभिभूत-
त्वात् । अन्धकारे सुवर्णस्य चाक्षुषरूपपतित्वारणाय सुवर्णां दिभिन्न यत्तेजस्तद्भिन्न-
द्रव्यप्रत्यक्षे प्रत्यालोकसयोगस्य द्रव्यप्रत्यक्षे प्रति कारणत्वमिति दोष्यम् ॥

॥ इति तेजोनिरूपणं ॥

वायौ प्रमाणदर्शनार्थं मूले अपाकज इत्याद्युक्तं तत्रापाकजादिपदानां
क्रमेण व्यावृत्तिमाह—अनुष्णाशीतस्पर्शस्येति । एतेन स्पर्शस्थानुष्णाशीतत्व-
कथनेन । तज्जनकतावच्छेदकमिति तथा च विजातीयस्पर्शजनकतावच्छे-
दकतया लाघवाज्जातिरूप वायुत्वं सिद्धयर्थमितिभावः ॥ ४२ ॥

मूले स्पर्शादिलिङ्गक इति स्पर्शादिभिः लिङ्गव्यनुमानपदानि यस्य स

र्यपरिस्पन्दादिना घटादेः संबन्धो वाच्यः । स च संबन्धः संयोगा-
दिर्न संभवतीति काल एव तत्संबन्धघटकः कल्प्यते । इत्थं च तस्या-
श्रयत्वमपि सम्यक् ॥ ४५ ॥

प्रमाणान्तरं दर्शयति—

परापरत्वधीहेतुः क्षणादिः स्यादुपाधितः ।

परत्वापरत्वबुद्धेरसाधारणं निमित्तं काल एव । परत्वापरत्वयो-
रसमवायिकारणसंयोगाश्रयो लाघवादातिरिक्तः काल एव कल्प्यत
इति भावः । नन्वेकस्य कालस्य सिद्धौ क्षणदिनमासवर्षादिसमयभेदो

कालसिद्धिरिति व्याख्याति, तच्चिन्त्यं, तादृशप्रतीती प्रमाणाभावात् । नन्विदानीं
घट इत्यादिप्रतीतीना लाघवेन सूर्यपरिस्पन्दादिविषयत्वमेव स्यात्किं काल-
कल्पनयेत्तत आह—इदानीमिति । संयोगादिर्न संभवतीति द्रव्ययोरिव सं-
योग इति नियमेन संयोगाभावात् । समवायस्तु सूर्यक्रियायाः सूर्येणैवेति
संयोगादेरसम्भवात्प्रतीतिभावः । सम्बन्धघटक इति स्वाश्रयतपनसंयुक्तसंयोग-
घटक इत्यर्थः, स्व सूर्यक्रिया तदाश्रयस्तपनस्तात्संयुक्तः कालस्तत्संयोगो
घटादावित्येवं सम्बन्धघटक इत्यर्थः । न चाकाश एव संबन्धघटकः क-
ल्प्यतामिति वाच्यं, आकाशादिगात्मनां विनिगमनाविरेहेण लाघवादातिरिक्तकाल-
स्यैव तथात्वात् । इत्थं चेति पूर्वोक्तयुक्त्याकालसिद्धौ । तस्याश्रयत्वं । सम्यागिति
इदानीं घट इत्यादिप्रतीतीनामतिरिक्तकालविषयत्वस्य बोधितत्वादिति भावः ॥ ४५ ॥

परत्वापरत्वादिबुद्धेरिति गमः परः कृष्णोऽपर इति प्रतीत्या कालिक-
परत्वापरत्वासिद्धौ कालसिद्धिरिति भावः परत्वापरत्वयोरिति ज्येष्ठकानिष्ठसि-
परत्वापरत्वगुणयोर्भावकार्यतया समवायिकारणत्वमसमवायिकारणत्व च तयोः
कालपिण्डसंयोग एवेत्येवं कालसिद्धिरित्यर्थः । ननु परत्वापरत्वयोरसमवायिकार-
णसंयोगाश्रयो लाघवादाकाश एवास्तामत् आह—लाघवादिति आकाशस्य
तदाश्रयत्वे जीवात्मनिः प्रत्येकं विनिगमनाविरेहेण लाघवादातिरिक्तः काल एव
तदाश्रयत्वेन कल्प्यत इति भावः । समयभेद इति समयभेदव्यवहार इत्यर्थः ।

न स्यादत आह । क्षणादिरिति । कालस्त्वेकोऽपि उपाधिभेदात्क्षणा-
दिव्यवहारविषयः । उपाधिस्तु स्वजन्यविभागप्रागभावावच्छिन्नं कर्म,
पूर्वसंयोगावच्छिन्नविभागो वा, पूर्वसंयोगनाशावच्छिन्नोत्तरसंयोगप्राग-
भावो वा, उत्तरसंयोगावच्छिन्नं कर्म वा । न चोत्तरसंयोगानन्तरं क्षण-
व्यवहारो न स्यादिति वाच्यं, कर्मान्तरस्यापि सत्त्वादिति । महाम-
लये क्षणादिव्यवहारो यथास्ति तदानायत्या ध्वंसेनोपपादनीय इति ।
दिनादिव्यवहारस्तु तत्तत्क्षणकूटरेवोति ॥

“दिसं निरूपयति—”

एकस्मिन्निरुद्धनानाव्यवहारविषयत्वाभावादितिभावः । उपाधिभेदादिति नथा
चैकस्य कालस्य किञ्चिदर्मावच्छिन्नस्य क्षणत्व किञ्चिद्वर्मावच्छिन्नस्य च दि-
नत्व न तु केवलस्येतिभावः । स्वजन्येति स्व क्रिया । अर्धेवं प्रक्रिया—प्रथमत
क्रिया, क्रियानो विभागः, विभागात्पूर्वसंयोगनाशः, तत उत्तरसंयोगः, ततः क्रियानाशः,
तत्र स्वजन्यविभागप्रागभावावच्छिन्न कर्म स्वोत्पत्तिकाल एव । द्वितीयक्षण
उपाधिमाह—पूर्वेति स्वजन्यविभागनाशपूर्वसंयोगावच्छिन्नस्वजन्यविभाग इत्यर्थः ।
तेन स्वजन्यविभागस्य यत्किञ्चित्पूर्वसंयोगावच्छिन्नस्य बहुकालवृत्तिन्वेऽपि न
क्षतिः, न वा यत्किञ्चिद्विभागस्य स्वजन्यविभागनाशपूर्वसंयोगावच्छिन्नावे-
ऽपि क्षतिः । तृतीयक्षण उपाधिमाह—पूर्वसंयोगनाशावच्छिन्नेति अप्राधि-
स्वजन्यविभागजन्यपूर्वसंयोगनाशावच्छिन्नस्वजन्योत्तरसंयोगप्रागभाव इत्यर्थोऽव-
सेयः । चतुर्थक्षणे तमाह—उत्तरसंयोगावच्छिन्नमिति स्वनाशकोत्तरसंयोगा-
वच्छिन्नमित्यर्थः । नन्वेवं महाप्रलये क्षणव्यवहारो न स्यादन आह—महा-
प्रलय इति वस्तुगत्या महाप्रलये क्षणव्यवहारो नास्त्येवेति यद्यस्तीत्यनेन
सूचितं । ध्वंसेनैवेति स्ववृत्तिध्वंसप्रतियोगिप्रतियोगिकयानव्यसन्निशिष्टसमयस्यैव
महाप्रलय क्षणव्यवहारविषयमित्यभिभावः, एवं महाप्रलयसमयस्तद्वृत्तिध्वंसप्रति-
योगिप्रतियोगिकयानव्यसन्निशिष्टसमयः महाप्रलयसमय एवेति दिक् ॥

॥ इति कालनिरूपणं ॥

न स्यादत आह । क्षणादिरिति । कालस्त्वेकोऽपि उपाधिभेदात्क्षणा-
दिव्यवहारविषयः । उपाधिस्तु स्वजन्यविभागभागभावावच्छिन्नं कर्म,
पूर्वसंयोगावच्छिन्नविभागो वा, पूर्वसंयोगनाशावच्छिन्नोत्तरसंयोगभाग-
भावो वा, उत्तरसंयोगावच्छिन्नं कर्म वा । न चोत्तरसंयोगानन्तरं क्षण-
व्यवहारो न स्यादिति वाच्यं, कर्मान्तरस्यापि सत्त्वादिति । महाम-
लये क्षणादिव्यवहारो यद्यस्ति तदानापत्या ध्वंसेनोपपादनीय इति ।
दिनादिव्यवहारस्तु तत्क्षणात्कृद्वैवेति ॥

दिशं निरूपयति—

एकस्मिन्विन्दनानाव्यवहारविषयत्वाभावादितिभावः । उपाधिभेदादिति तथा
चैकस्य कालस्य किञ्चिदर्मावच्छिन्नस्य अणद्वय किञ्चिद्गर्मावच्छिन्नस्य च दि-
नस्य न तु केवलस्येतिभावः । स्वजन्येति स्वं क्रिया । अत्रैवं प्रक्रिया—प्रथमतः
क्रिया, क्रियातो विभागः, विभागात्पूर्वसंयोगनाशः, तत उत्तरसंयोगः, ततः क्रियानाशः,
तत्र स्वजन्यविभागभागभावावच्छिन्नं कर्म सौत्पत्तिकाल एव । द्वितीयक्षणे
उपाधिमाह—पूर्वेति स्वजन्यविभागनाशपूर्वसंयोगावच्छिन्नस्वजन्यविभाग इत्यर्थः ।
तेन स्वजन्यविभागस्य यद्विकचित्पूर्वसंयोगावच्छिन्नस्य बहुकालवृत्तिर्वेऽपि न
क्षतिः, न वा यद्विकचिद्विभागस्य स्वजन्यविभागनाशपूर्वसंयोगावच्छिन्नवे-
ऽपि क्षतिः । तृतीयक्षणे उपाधिमाह—पूर्वसंयोगनाशावच्छिन्नमिति अत्रापि-
स्वजन्यविभागजन्यपूर्वसंयोगनाशावच्छिन्नत्वजन्योत्तरसंयोगभागभाव इत्यर्थोऽव-
सेयः । चतुर्थक्षणे तथाह—उत्तरसंयोगावच्छिन्नमिति स्वनाशकोत्तरसंयोगा-
वच्छिन्नमित्यर्थः । नन्वेवं महाप्रलये क्षणव्यवहारो न स्यादत आह—महा-
प्रलय इति वस्तुगत्या महाप्रलये क्षणव्यवहारो नास्मेवेति यद्यस्तीत्यनेन
सूचिम् । ध्वंसेनैवेति स्ववृत्तिध्वंसप्रतियोगिप्रतियोगिकयात्रध्वंसाविशिष्टतमयस्यैव
महाप्रलये क्षणव्यवहारविषयत्वमितिभावः, एवं महाप्रलयतमयस्तद्वृत्तिध्वंसप्रति-
योगिप्रतियोगिकयात्रध्वंसाविशिष्टतमयः महाप्रलयतमय एवेति दिक् ॥

॥ इति कालनिरूपणं ॥

दूरान्तिकादिधीहेतुरेका नित्या दिग्गुच्यते ॥ ४६ ॥

दूरत्वमन्तिकत्वं च दैशिकं परत्वमपरतत्वं बोध्यम् । तद्दृष्टे-
रसाधारणं धीजं दिगेव । दैशिकपरत्वापरत्वयोरसमवायिकारणसंयो-
गाश्रयतया लाघवादेका दिक् सिध्यतीति भावः ॥ ४६ ॥

नन्वेकैव दिक् तदा प्राचीप्रतीच्यादिव्यवहारः कथमुपपद्यतामित्यत आह
उपाधिभेदादेकापि प्राच्यादिव्यपदेशभाक् ।

यत्पुरुषस्य उदयागिरिसन्निहिता या दिक् सा तस्य प्राची ।
एवमुदयागिरिव्यवहिता या दिक् सा प्रतीची । एवं यत्पुरुषस्य
मुनेरुसन्निहिता या दिक् सोदीची । तद्व्यवहिता त्ववाची ।
“ सर्वेषामेव वर्षाणां मेरुत्तरतः स्थितः ” इति नियमात् ॥

आत्मानं निरूपयति—

आत्मेन्द्रियाद्यधिष्ठाता करणं हि सकर्तृकम् ॥ ४७ ॥

आत्मत्वजानिस्तु मुखदुःखादिसमवायिकारणात्वावच्छेदकतया सि-
द्ध्यति । ईश्वरेऽपि सा जातिरस्त्येव । अदृष्टान्तरूपकारणाभावात्

बीज प्रयोजकं तदेव स्पष्टयति—दैशिकपरत्वापरत्वयोरिति । दीपि-
तिवृत्तां मते दिक्कालयोरीश्वरातिरिक्तत्वं नास्तीति बोध्यम् ॥

॥ इति दिग्निरूपणम् ॥

मुखदुःखादीति यद्यप्यहं सुखीति प्रतीत्यात्मत्वस्य स्वरूपेण प्रत्यक्ष-
मेव सम्भवति, तथापि जातिरूपं तत्र प्रत्यक्षसिद्धमिति जातिरूपमन्वयसा-
धनायानुमानप्रयास इति बोध्यम् । नन्वेवमीश्वरे आत्मत्वजातिर्न स्यात्तत्र
सुखादिसमवायिकारणताया अभावादत आह—ईश्वरेऽपीति फलोपघायकत्वं
रूपायाः सुखादिसमवायिकारणताया ईश्वरेऽसत्त्वेऽपि स्वरूपयोग्यत्वरूपकारणता-
यास्तत्र स्वीकारादिति भावः । ननु सर्वेश्वरेऽपि मुखाद्युत्पत्तिः स्यादत आह—
अदृष्टादीति आदिना शरीरपरिमहः । यद्यपीश्वरस्यापि रामादिशरीरमस्ति तथापि

सुखदुःखानुत्पत्तिः । नित्यस्य स्वरूपयोग्यत्वे फलावश्यभाव इति नियमस्याप्रयोजकत्वात् । परे त्वीश्वरे सा जातिर्नास्त्येव प्रमाणाभावात् । न च दशमद्रव्यत्वात्पत्तिः, ज्ञानवत्त्वेन विभजनादित्याहुः । इन्द्रियादीति । इन्द्रियाणां शरीरस्य च परंपरया चैतन्यसंपादकः । यद्यप्यात्मनि “ अहं जाने अहं सुखी ” इत्यादिप्रत्यक्षाविवक्षितत्वमस्त्येव तथापि विभक्तिपत्रं प्रति प्रथमत एव शरीरादिभिन्नस्तत्प्रतीतिगोचर इति प्रतिपादयितुं न शक्यत इत्यतः प्रमाणान्तरं दर्शयति । करणमिति । कुठारादीनां छिदादिकरणानां कर्तारमन्तरेण फलानुपधानं दृष्टम् । एवं चक्षुर्गदीनां ज्ञानकरणानां फलेपधानमपि कर्तारमन्तरेण ज्ञेयपद्यत इत्यातिरिक्तः कर्ता कल्प्यते ॥ ४७ ॥

ननु शरीरस्यैव कर्तृत्वमस्त्वत आह—

तच्छरीराणां भूतावेशन्यायेन स्वाकागतानुपपात्तेऽप्येति सुविचारणीयम् । ननु तथापि नित्यस्य कारणतावच्छेदकधर्मवत्त्वे फलावश्यभाव इति नियमेनेश्वरस्य स्वरूपयोग्यत्वे फलोपधानात्पत्तिरित्यत आह—नित्यस्योति । आहुरिति वेदस्थानपदस्य ज्ञानवति दक्षणापात्तिरित्यश्वरस आहुरित्यनेन सूचितो बोद्धव्यः । इन्द्रियाणामिति मूढस्यादिपदमात्रं दर्शयति.—शरीराणां (शरीरस्य च) इति परंपरया जनकतासम्बन्धेनावच्छेदकतासम्बन्धेन च चैतन्यसंपादकः ज्ञानवत्संपादक इत्यर्थः । एतेनात्मनि इन्द्रियाणि शरीरं च ज्ञायथिष्ठितं, अपेतन्ये सति जनकतावच्छेदकतान्यतरमसम्बन्धेन ज्ञानवत्त्वादास्यादिवदि यनुमानप्रमाणं दर्शितं । अधिष्ठितत्वं चात्र सहकृतस्वरूप बोध्यं । यद्यपीति सुखान्यादीत्यादिनाऽहं करणान्यादिपरिमहः । विभक्तिपत्रं विधातुं । प्रथमत एव अनुमानादिनिरनुक्तिप्रदर्शनं विनैवेत्यर्थः । तत्प्रतीतिगोचरः अहमितिप्रतीतिविषयः प्रमाणात्तरं प्रत्यक्षानेतिनमनुमानमिति यावत् । अतिरिक्तः कर्ता कल्प्यतेऽनुमायत इत्यर्थः । ॥ ४७ ॥

चार्थिकः शङ्कते-नन्विनि कर्मते मैयादिकर्मते । तदभावे ज्ञानाभावे । ननु तत्र मते दृढशरीरे ज्ञानभावः किमुक्तः ? नन्वदे ह

शरीरस्य न चैतन्यं मृतेषु व्यभिचारतः ।

तथात्वं चेदिन्द्रियाणामुपघाते कथं स्मृतिः ॥ ४८ ॥

ननु चैतन्यं ज्ञानादिकमेव मुक्तात्मनां त्वन्मत इव मृतशरीराणा-
मपि तदभावे का क्षतिः, प्राणाभावेन ज्ञानाभावस्य सिद्धेरिति चेन्न,
शरीरस्य चैतन्ये बाल्ये विलेकितस्य स्थीविरे स्मरणानुपपत्तेः, शरी-
राणामवयवोपचयापचयैरुत्पादाविनाशशालित्वात् । न च पूर्वशरीरेत्पन्न-
संस्कारेण द्वितीयशरीरे संस्कार उत्पाद्यत इति वाच्यम्, अनन्त-
संस्कारकल्पने गौरवान् । एवं शरीरस्य चैतन्ये बालकस्य स्तन्य-
पाने प्रवृत्तिर्न स्यात्, इष्टसाधनताज्ञानस्य तद्धेतुत्वात्तदानी-
मिष्टसाधनतास्मारकाभावात् । मन्मते तु जन्मान्तरानुभूतेष्टसाधनत्वस्य
तदानीं स्मरणादेव प्रवृत्तिः । नच जन्मान्तरानुभूतमन्यदपि स्मर्यता-
मिति वाच्यम्, उद्बोधकाभावात् । अत्र त्वनायत्या जीवनादष्टमेवो-
द्बोधकं कल्प्यते । इत्थं च संसारस्यानादितया आत्मनोऽनादित्वसिद्धा-

प्राणविशिष्टात्मनो विरहप्रयुक्त एवेत्यत आह—प्राणाभावेनेति तथा च
लायशास्त्रेण प्राणाभाव एव चैतन्याभावे प्रयोजक इति भावः । चार्वाकमतं
परिहरति—नेति स्मरणानुपपत्तेरिति अन्यदृष्टस्यान्येन स्मरणासम्भवाद्नुभ-
वाश्रयस्य बाल्यशरीरस्य च तदानीमभावादिति भावः । ननु तदा बाल्यश-
रीरमस्त्येवेत्यत आह—शरीराणामिति उपचयो वृद्धिरपचयो ज्ञानः । संस्कार
उत्पाद्यत इति तथा च स्वजन्मसंस्कारवत्त्वसम्बन्धेन बाल्यशरीरेत्पन्नानुभ-
वस्य स्थविरशरीरेऽस्त्येऽपि स्वप्रयोग्यसंस्कारवत्त्वसम्बन्धेन तत्र तस्य सत्त्वान्न
स्मरणानुपपत्तिरिति भावः । गौरवस्य फलानुगन्त्याद्दूषणान्तरमाह—एवमिति तदेत-
त्वात्प्रवृत्तिहेतुत्वान् । तदानीं स्तन्यपानप्रवृत्त्यव्यवहितपूर्वकाले । ननु तत्रापि
मते प्रवृत्त्यन्यथानुपपत्तिः समानेऽप्याशंक्य स्वमते प्रवृत्त्यन्यथानुपपत्तिं परिहरति—
मन्मते त्विति । अन्यदपीष्टसाधनत्वादतिरिक्तमपीत्यर्थः । अत्र तु पूर्वोक्तप्र-
वृत्तिजन्येष्टसाधनत्वस्मरणे तु अनाद्यत्वाऽस्त्येऽत्यर्थः । आत्मनो जिन्येवं सा-
धयति—इत्थं चेति प्राक्तनसंस्कारजन्यस्तन्यपानप्रवृत्त्यनुकुलेष्टसाधनतास्मरणे च ।

वनादिभावस्य नाशासंभवान्नित्यत्वं सिद्धयतीति बोध्यम् । ननु चक्षुरादीनामेव ज्ञानादिकं प्रति करणत्वं कर्तृत्वं चास्तु विरोधे साधकाभावादत आह । तथात्वमिति । चैतन्यमित्यर्थः । उपघाते नाशे सति अर्थाच्चक्षुरादीनामेव । कथं स्मृतिः पूर्वं चक्षुषासाक्षात्कृतानां चक्षुषोऽभावे स्मरणं न स्यात् । अनुभवितुरभावात् । अन्यदृष्टस्यान्येन स्मरणासंभवात् । अनुभवस्मरणयोः सामानाधिकरण्येन कार्यकारणभावादिति भावः ॥४८॥

ननु चक्षुरादीनां चैतन्यं चास्तु मनसस्तु नित्यस्य चैतन्यं स्यादत आह मनोऽपि न तथा ज्ञानाद्यनध्यक्षं तदा भवेत् ।

धर्माधर्माश्रयोऽध्यक्षो विशेषगुणयोगतः ॥ ४९ ॥

मनोपीति । न तथा, न चैतनम् । ज्ञानादीति । मनसोऽणुत्वा-

अनादिरपि प्रागभावस्य नाशसंभवादाह भावस्थेति । नाशासम्भवादिति प्रागभावप्रतियोगिकान्तिरिक्तनाश प्रति जन्यभावान्नेन हेतुत्वादात्मनोऽनादितया जन्यभाक्त्वरूपहेतोरसत्त्वेन नाशासम्भवादित्यर्थः

॥ इति चार्वाकमतखण्डनम् ॥

नन्विति, कर्तृत्वमिति कृत्याध्रपत्वमपि चक्षुरादीनामेवास्वित्त्वर्थः । विरोधे विभिन्नाधिकरणत्वे । साधकाभावादिति सर्प आत्मना आत्मानं वेष्टयतीत्यादौ कर्तृत्वकरणत्वादिरूपविलक्षणोपाधिभेदेन कस्मिन्नपि कर्तृकरणव्यवहारस्य दृष्टत्वादिति भावः । स्मृत्यभावे हेतुं पूरयति—पूर्वमिति । नन्विन्द्रियान्तरैरेव स्मरणं भविष्यतीत्यत आह—अन्यदृष्टस्येति । सामानाधिकरण्येनेति यत्र समवायेनानुभवं भवति तत्रैव समवायेन स्मृतिं जनयत्यन्यथा देवदत्तानुभवं यज्ञदत्तोऽपि स्मरेदिति भावः ॥ ४८ ॥

चक्षुरादीनां चैतन्यपक्षे यो दोषः सोऽस्मिन्पक्षे नास्तीति सूचयितुं नित्यस्येत्युक्तं । मनसश्चैतन्यत्वे ज्ञानादिरप्रत्यक्षत्वं “ अनव्यक्षं तदा भवेदिति ” मूलेनोक्तं तत्र हेतुं पूरयति—मनस इति । महत्त्वस्य हेतुत्वादिति परमा-

प्रत्यक्षे च महत्त्वस्य हेतुत्वान्मनसि ज्ञानमुखादिर्मत्त्वे तत्प्रत्यक्षानुप-
पत्तिरित्यर्थः । यथा मनसोऽणुत्वं तथा वक्ष्यते ॥ नन्वस्तु क्षणिक-
विज्ञानमेवात्मा, तस्य स्वतः प्रकाशरूपत्वाद्येनत्वम्, ज्ञानमुखादिकं
तु तस्यैवाकारविशेषः, तस्यापि भावत्वादेव क्षणिकत्वं पूर्वपूर्वविज्ञा-

णादिप्रत्यक्षधारणाय महत्त्वस्य प्रत्यक्षे हेतुत्वस्वीकारादितिभावः । यद्यपि मान-
सान्यप्रत्यक्षःवावच्छिन्न प्रत्येव महत्त्वस्य कारणत्वस्वीकारं परमात्वादेः प्रत्य-
क्षापत्तिर्न सम्भवतीति ज्ञानादिर्मनसि स्वीकारेऽपि नैव दोषस्तथापि मानसा-
न्यत्रप्रत्यक्षत्वयौर्विशेषणविशेषभावे विनिगमनाभावेन गुरुभूतकार्यकारणभावद्व-
यापत्तेर्न तथोपगमः । न चातिरिक्तात्मयादिनां मतेऽनेतजीवकल्पनापेक्षयाऽ
स्मन्मते कारणताद्वयकल्पनेऽपि न गौरवमिति वाच्य, अनेकजीवकल्पनागौर-
वस्य फलमुखत्वेनादोषत्वात् । यदि च फलमुखगौरवस्यापि दोषत्वं तदाप्यह
सुखीत्यादिसाक्षात्काराणां कार्यत्वादिना जन्यसाक्षात्कारत्वादिना वा चाक्षुषा-
दिवन् करणातिरिक्तकर्तृजन्यस्य सिध्यत्येव, तस्य च कर्तुर्महत्त्वमणुत्वं वेति
निषयान्तरमेतदिति दिक् । तत्प्रत्यक्षानुपपत्तिः ज्ञानमुखादिप्रत्यक्षानुपपत्ति-
रित्यर्थः । ननु मनसोऽणुत्वमेवासिद्धमस आह—यथा चेति, अत्र मनोनि-
रूपणावसरे “ अयोगपद्माज्जानाना ” मित्यादिना वक्ष्यते सावधिष्यत इत्यर्थः ॥

॥ इतीन्द्रियाणां चैतन्यत्वादिमतखण्डनम् ॥

विज्ञानवार्ता दौढः शङ्कते नन्विति यद्यपि तेषां मते वस्तुमात्रस्यैव
विज्ञानस्वरूपत्वमस्ति तथाप्यात्मनिरूपणस्य प्रस्तुतत्वादा मेयुक्तमिति बोध्यम् ।
तस्य विज्ञानस्वरूपस्यात्मनः । क्षणिकत्वमिति यत्सत्तत्क्षणात्मिकमिति व्यति-
रितिभावः । नन्वेवं सुपुनावात्मा न सिद्धयेत्पूर्वोपज्ञविज्ञानस्य क्षणिकत्वेन
नाशाद्विज्ञानान्तरस्य च तदानीं पुरतिविविहर्देशावच्छिन्नात्ममनःसंयोगस्याभावे-
नोत्पत्तेरसम्भवादत् आह—पूर्वपूर्वेति । आन्वयेति द्विविधं हि विज्ञानमाख्य-
विज्ञानं प्रवृत्तिविज्ञानं चेति । तत्रायं घट इति प्रवृत्तिविज्ञानमहमित्याकारकं
ज्ञानमाख्यविज्ञानं, तदाख्यविज्ञानधारा सुपुत्तिकात्वेऽपि कारणसत्तास्तिष्ठत्येवेति

नस्योत्तरोत्तरविज्ञाने हेतुत्वात् मृगुमात्रप्यालयविज्ञानधारा निरावाधैव,
मृगमदवासनावासितवसन इव पूर्वपूर्वविज्ञानजनितसंस्काराणामुत्तरोत्तर-
विज्ञाने संक्रान्तत्वान्नानुपपत्तिः स्मरणादेरिति चेन्न, तस्य जगद्विषय-
कत्वे सर्वज्ञत्वापत्तिः । यत्किञ्चिद्विषयकत्वे विनिगमनाविरहः । मृगुमा-
त्रापि विषयावभासप्रसङ्गाच्च । ज्ञानस्य सविषयत्वात् । तदानीं निरा-
कारा चित्सन्ततिरनुवर्तत इति चेन्न, तस्याः स्वप्रकाशत्वे प्रमाणाभा-
वात् । अन्यथा घटादीनामपि ज्ञानत्वापत्तिः । न चेष्टापत्तिर्विज्ञानव्य-
तिरिक्तवस्तुनोऽभावादिति वाच्यं, घटादेरनुभूयमानस्याप्यपितुमशक्य-
भावः । ननु संस्कारस्यापि भवन्मते क्षणिकत्वेन तदानामिव नाशा-कालान्तरे
स्मरणं न स्यादित्याशङ्क्यामाह—मृगमद इति मृगमदः कस्तुरी तद्वासनया
सुगन्धेन वासितवसन इव सुगन्धितवस्त्रवदिन्यर्थः । विज्ञानस्य सर्वविषयकत्वं
यत्किञ्चिद्विषयकत्व वेति विवक्ष्यमाणे दूषणमाह—तस्येति आत्मस्वरूपविज्ञान-
स्येत्यर्थः । द्वितीये दूषणमाह—यत्किञ्चिदिति नियतवर्तिकविद्विषयत्व इत्यर्थः ।
विनिगमनाविरह इति यदि घटविषयकस्तदा पटविषयकः कथं न ? यदि
च पटविषयकस्तदा घटविषयकः कथं न ? इति विनिगमनाविरह इत्यर्थः ।
ननु विज्ञानस्य न सर्वविषयकत्व, नापि नियतवर्तिकविद्विषयकत्व, किं तु
यस्य विज्ञानस्य पद्विषयकत्वमनुभवमित्थं तस्य तद्विषयकत्वं कल्पतेऽनुभवा-
नुसारेवाकल्पनाया इति स्वभावे हेतुरित्यतो दूषणान्तरमाह—सुषुप्ताविति
सुषुप्तिकालीनाद्यविज्ञानस्य स्वमात्रविषयकत्वस्वीकारेऽपि तस्यैव सुषुप्तिकाये
मानप्रसङ्ग इतिभावः । ज्ञानस्य सविषयत्वादिति ज्ञानत्वस्य सविषयत्व-
व्यत्ययत्वादित्यर्थः । तदानीं सुषुप्तिकाये । निराकार निर्विषया चित्संतति-
र्विज्ञानधारा । तस्या निर्विषयाया विज्ञानधारयाः प्रकाशत्वे ज्ञानत्वे प्रमाणाभा-
वात् ज्ञानत्व सविषयव्यव्याप्यं न भवतीत्यत्र प्रमाणाभावादिति तात्पर्यार्थः ।
अन्यथा ज्ञानत्वस्यापकविपरिहास्य अभावेऽपि तत्र ज्ञानत्वस्वीकारे । अनु-
भूयमानस्येति सर्वातुभवसिद्धस्य घटादेर्विज्ञानातिरिक्तं - वस्तु नास्त्येवेति

त्वात् । आकारविशेष एवायं विज्ञानस्येति चेत्, किमयमाकारोऽतिरिच्यते विज्ञानात्तर्हि समायातं विज्ञानव्यतिरिक्तेन । नातिरिच्यते चेत्तर्हि समूहालम्बने नीलाकारोऽपि पीताकारः स्यात् । स्वरूपतो विज्ञानस्याविशेषात् । अपोहरूपो नीलत्वादिर्विज्ञानधर्म इति चेन्न, नीलत्वादीनां विरुद्धानामेकस्मिन्नसमावेशात् । इतरथा विरोधावधारणस्यैव दुरूपपादत्वात् । न वा वासनासंक्रमः संभवति, मातृपुत्रयोरपि वासनासंक्रमसद्भावात् । न चोपादानोपादेयभावो नियामक इति वाच्यं, वासनायाः संक्रमासं-

निषेधयितुमशक्यत्वादित्यर्थः । ननु नास्माभिर्व्यतिरेकनिषेधः कियते, किं तु घटादौ विज्ञानव्यतिरिक्तत्वनिषेध इत्याह—आकारविशेष एवेति विज्ञानस्यैव स्वरूपविशेष इति च तदर्थः । आकारस्य विज्ञानानिरिक्तत्वमनतिरिक्तत्वं वेत्ति विकल्प्याद्ये दूषणमाह—तर्हीति घटादिरूपाकारस्य विज्ञानातिरिक्तत्वस्वीकारे । द्वितीये त्याह—समूहालम्बन इति नीलपीते इमे इति समूहालम्बन इत्यर्थः । स्यादिति तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वनियमादिति भावः । एतदेव स्पष्टयति—स्वरूपत इति । ननु नीलाकारपीताकारयोरभेद एव, भेदप्रतीतिस्तु नीलत्वपीतत्वरूपधर्मभेदप्रयुक्तैर्व्यभिचाराद्येणाशङ्कते—अपोहरूप इति अनीलव्यावृत्तिरूपोऽभावरूप इतियावत् । तथा च नीलपीतयोर्विज्ञानस्वरूपत्वेनाभेदेऽपि अभावरूपस्य नीलत्वादेः सत्वरूपत्वाभावेन विज्ञानस्वरूपत्वाभावात्परस्परभेदसाधकत्वसंभव इति भावः । इतरथा विरुद्धनीलत्वादीनामेकाविकरणवृत्तित्वेनावधारणे । दुरूपपादत्वाद्दिति तथा च तयोर्भेदसाधकत्वमेव न स्यादिति भावः ननु नीलपीते इमे इत्यादिसमूहालम्बने न नीलाकारो नापिपीताकारो भासते, किं तु चित्राकार एवेति न पूर्वोक्तो दोष इत्यतो वासनासंक्रममेव मुख्यतया दूषयति—न वेत्ति । उपादानोपादेयोति उपादानत्वं चात्रासहकृतकारणत्वं उत्तरव्यक्तौ पूर्वव्यक्तिमात्रस्यैव तैः कारणत्वस्वीकारादुत्तरव्यक्तिं प्रति पूर्वव्यक्तेरुपादानकारणत्वं भवति, माता तु पुत्रं प्रति नासहकृतं कारणं शुक्रशोणितयोरपि पुत्रकारणत्वादिति धीव्यम् । तथा च मातृरसादानकारण-

भवात् । उचरस्मिन्नुत्पत्तिरेव संक्रम इति चेन्न, तदुत्पादकाभावात् ।
चितामेवात्पादकत्वे तदानन्त्यप्रसङ्गः । क्षणिकविज्ञानेऽतिशयविशेषः
कल्प्यत इति चेन्न, मानाभावात्कल्पनागौरवाच्च । एतेन क्षणिकशरीरेष्वेव
चैतन्यमपि प्रत्युक्तं, गौरवादतिशये मानाभावाच्च । बीजादावपि
सहकारिसमवधानासमवधानाभ्यभिवे,पपत्तेः कुर्वद्रूपत्वाकल्पनाच्च ।

त्वामावाञ्च मातृपुत्रयोर्वासनासंक्रमः सम्भवतीतिभावः । तदुत्पादकेति कस्मिन्-
त्पादकाभावादित्यर्थः । चितां ज्ञानानां संस्कारानन्त्यप्रसङ्गः ज्ञानानन्त्यनन्त्य-
त्तज्जन्यसंस्काराणामप्यानन्त्यापत्तिरित्यर्थः । क्षणिकेति अपनन्दतः-ज्ञानानां
संस्कारोत्पादकत्वे प्रतिज्ञानव्यक्तिभिन्नभिन्नसंस्कारव्यक्तिकल्पनागौरवेऽपि यद्-
शज्ञानव्यक्त्युत्तरं स्मरणमनुभवसिद्धं तज्ज्ञाननिष्ठसंस्कारानुकूलं कल्पितं
पूर्वज्ञानव्यक्तौ कल्प्यते, न तु सर्वज्ञानव्यक्त्याविति न संस्कारानन्त्यमिति ।
गौरवादिति अनन्तपदार्थानां क्षणिककल्पनगौरवद्विरर्थः । ननु प्रसङ्गेऽपि
गौरवं न दोषायेति चेन्न, स एवाप्यमित्यादिप्रसङ्गेऽपि ननु प्रसङ्गेऽपि
माणिकत्वासिद्धेः । एतेनेति पूर्वोक्तसुखादङ्गुलेनैव कल्पितं कल्पितं
तदपि खण्डितमित्यर्थः । ननु क्षेत्रस्थवर्जदङ्गुलेनैव कल्पितं न तु कुसूल-
स्थबीजादित्यनुभवसिद्ध, तथा च यदि क्षेत्रस्थवर्जदङ्गुलेनैव कल्पितं कल्पितं
स्यात्तदा कुसूलस्थवर्जादप्यङ्गुलेनैव कल्पितं कल्पितं कल्पितं कल्पितं
दध क्षणिकत्व विना नोपपत्ते, तथा च यदा क्षेत्रस्थवर्जदङ्गुलां नष्टे
फलोपधायकसमर्थबीजमात्र एव कल्पितं कल्पितं कल्पितं कल्पितं कल्पितं
तेन रूपेण चाङ्गुलत्वावच्छिन्नं प्रति क्षेत्रज्ञां कारणनवनेवेहापि कुर्वद्रूप-
कल्पनेनेव तच्छाणिकत्वमेव तदङ्गुलेनैव कल्पितं कल्पितं कल्पितं कल्पितं
आह-बीजादावपीति । सहकारीति धर्मगतव्यक्त्येवमादीनां समवधानास-
मवधानाभ्यभिवे,पपत्तेः कुसूलस्थवर्जदङ्गुलेनैव कल्पितं कल्पितं कल्पितं कल्पितं
च न बीजानां क्षणिकत्वमपि, गौरवत्नगामात्तद्वेति दिक्.

॥ इति क्षणिकवादित्खण्डनम् ॥

अस्तु तर्हि क्षणिकविज्ञाने गौरवान्नित्यविज्ञानमेवात्मा “ अविनाशी वाऽरेऽयमात्मा सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ” इत्यादिश्रुतेरिति चेन्न, तस्य विषयकत्वासंभवस्य दर्शितत्वाभिर्विषयस्य ज्ञानत्वे मानाभावात्स-
विषयत्वस्याप्यननुभवात् । अतो ज्ञानादिभिन्नो नित्य आत्मेति सिद्धम् ।
सत्यं ज्ञानमिति हि ब्रह्मपरं जीवेषु नोपयुज्यते । ज्ञानाज्ञानसुखित्वा-
दिभिर्जीवानां भेदसिद्धौ सुतरामीश्वरभेदः, अन्यथा बन्धमोक्षव्यवस्था-

वेदान्ती शङ्कन्ते- अस्तु तर्हीति । सर्वप्रमाणेभ्यः श्रुतेरेव मुख्यत्वमतः
तत्र श्रुतिं प्रमाणयति-अविनाशी वेत्यादि । आत्ममात्रस्य नित्यविज्ञानस्व-
रूपत्वमीश्वरस्य वेति विकल्प्याद्ये दूषणमाह-तस्येति । आत्मनः सविषयास-
म्भवस्य दर्शितत्वादौहिकमतखण्डनावसरे “तस्य जगद्विषयकत्वे” इत्यादिग्रन्थेन
दर्शितत्वादित्यर्थः । मानाभावाद् ज्ञानत्वस्य सविषयत्वव्याप्यत्वादितिभावः ।
ननु विज्ञानस्वरूपस्यात्मनः यत्किञ्चिद्विषयकत्वे सुषुप्तावपि विषयावभासप्रसङ्ग
एवान्ततो गत्वा दूषणघेनोपात्तः स चेष्ट एव सुखमहमस्वाप्समिति प्रतीते-
स्तदानन्तनसुखानुभवपूर्वकत्वेन सुषुप्तावपि सुखादिरूपविषयस्यावभासनादत
आह-सविषयकत्वस्यापीति अननुभवान्नहि घटविषयकोऽहमपि तु घटवि-
षयकज्ञानवानहमित्येवानुभवान्न सविषयकत्वमात्मनोऽनुभवसिद्धमितिभावः ।
नित्य आत्मेति अनित्यत्वे वाटकस्य स्तन्यपाने प्रवृत्त्यसम्भवादितिभावः ।
ननु पूर्वोक्तश्रुतिरेव जीवस्य विज्ञानस्वरूपत्वे प्रमाणमत आह-सत्यं
ज्ञानमिति । ननु जीवब्रह्मणोरैक्याद् ब्रह्मणो ज्ञानस्वरूपत्वे जीवस्यापि
नित्यविज्ञानस्वरूपत्वं निरावाच्यमतस्तयोर्भेदं साधयति-ज्ञानाज्ञानेति ।
सुतरामीश्वरभेद इति ईश्वरजीवात्मनोर्भेद इत्यर्थः, जीवानामनेकत्वसिद्धा-
मीश्वरस्यैकस्यानेकजीवात्मकत्वासम्भवादितिभावः । नन्वेकस्मिन्नप्याकाशे विभि-
न्नकर्णशक्नुत्यवच्छेदेन शब्दतदभात्रयोरेकस्मिन्नपि ब्रह्मणि जीवोपाव्यग्नःकर-
णानामनन्ततया तत्तदन्तःकरणावच्छेदेन विद्वक्षणमुखिवाद्यनुभवो न विरुद्ध
इत्यत आह-अन्यथेति ईश्वरस्य जीवात्मकत्वे । बन्धमोक्षेति काश्चिद्ब्रह्मः

नुपपत्तिः । योऽपीश्वरभेदबोधको वेदः सोऽपि तदभेदेन तदीयत्वं प्रतिपादयन्स्तौति । अभेदभावनयैव च यत्तितव्यामिति वदति । अत एव “ सर्व एवात्मानि समर्पिताः ” इति श्रूयते । मोक्षदशायामज्ञाननिवृत्तबभेदो जायत इत्यपि न, भेदस्य नित्यत्वेन नाशायोगात् । भेदनाशेऽपि व्यक्तिद्वयं स्थास्यत्येव । न च द्वित्वमपि नश्यतामीति वाच्यं, तत्र निर्धर्मके ब्रह्मणि सत्यत्वाभावेऽपि सत्यस्वरूपं तदितिवद-
 कश्चिच्च मुक्त इति व्यवस्था न स्फादित्यर्थः । चैत्राद्यामनामीश्वरस्यस्वरूपे-
 नैक्यादितिभावः । ननु निखिलान्तःकरणावच्छिन्नचेतनस्वकत्वेऽपि यस्यान्तः-
 करणस्य नाशस्तदन्तःकरणावच्छिन्नचेतनस्य मुक्तव्यवहारः, यस्य च न
 नाशस्तदन्तःकरणावच्छिन्नचेतने बद्धव्यवहार इति न बद्धमुक्तव्यवस्थाया
 अनुपपत्तिरिति चेन्न, एवमपि एकान्तःकरणस्य नाशेऽप्यन्यान्तःकरणाव-
 छिन्ने स्वात्मन्येव दुःखोत्पत्तेरवश्यकत्वात्प्रवृत्तिफलस्य निर्दुःखत्वस्फासम्भवेन
 मोक्षार्थं प्रयत्नवैफल्यापत्तेर्दुनिवारत्वादिति दिक् । नन्वेवं तर्हि तत्त्वमसी-
 त्यादिवेदेन जीवेश्वरयोर्भेदः कथं प्रतिपाद्यते ? अत आह—योऽपीति
 सोऽपि तत्त्वमसीत्यादिवेदः, तदभेदेन ईश्वरभेदेन तदीयत्वमीश्वरीयत्व ।
 ननु स्तुतौ किं प्रयोजनमत आह—अभेदभावनयेति । तथा च यथा मनो
 भिन्नमपि शरीरमभेदाध्यासेन महत्प्रिय भवत्येव जीवेश्वरयोर्भेदेऽपि अभेदभा-
 वनयेश्वरे जीवस्य इदतरा प्रेमलक्षणा भक्तिर्भविष्यतीति भासः । नन्वतिस्मर-
 णाद्यथा कीटस्य श्रमराकारता भवतीत्यनुभवात्तद्व तद्वदिहोपीश्वरस्यः संकतस्म-
 रणाज्जिज्ञासापीश्वराकारता भविष्यत्येवेत्यत आह—भेदनाशेऽपीति । तथा च
 तत्रापि यथा व्यक्तिद्वयमनुभवसिन्धुमेवमिहापि जीवेश्वरयोर्न्यक्तिद्वयं तिष्ठत्ये-
 तिभावः न च द्वित्वमपीति शब्दे ब्रह्मणि कस्याचिदपि धर्मस्वास्वकाण-
 दितिभावः । तत्र वेदान्निनः निर्धर्मक इति निशेधेन सत्यत्वाभावेऽपीत्यत्र
 हेतुतयोक्तं बोधव्यम् । ननु ब्रह्मणो निर्धर्मकत्वं नाम स्वभिन्नधर्मशून्यत्वं
 निष्वात्वाभावरूपस्य सत्यत्वस्य तु भेदरातिरिक्तकनधिकरणमकत्वाद्भावनां

द्वित्वाभावेऽपि व्यक्तिद्वयात्मकौ ताविति सुवचत्वात् । मिथ्यात्वाभावोऽधिकरणात्मकस्तत्र सत्यत्वमिति चेदेकत्वाभावो व्यक्तिद्वयात्मको द्वित्वमित्यप्युच्यताम् । प्रत्येकमेकत्वेऽपि पृथिवीजलयोर्न गन्ध इति-
 वदुभयं नैकमित्यस्य सर्वजनसिद्धत्वात् । योऽपि तदानीमभेदप्रतिपा-
 दको वेदः सोऽपि निर्दुःखत्वादिना साम्यं प्रतिपादयति । संपदाधि-
 क्ये पुरोहितोऽयं राजा संवृत्त इतिवत्, अत एव “ निरञ्जनः परमं
 साम्यमुपैति ” इति श्रूयते । ईश्वरोपि न ज्ञानमुखात्मा किंतु ज्ञाना-
 ध्याश्रयः “ नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म ” इत्यादौ विज्ञानपदेन ज्ञाना-

। तथा च मिथ्यात्वाभावरूपस्य सत्यत्वस्य ब्रह्मणि सत्त्वात्सत्वं
 तदिति व्यवहारः सम्भवति, सद्भूत्यारूपस्य द्वित्वस्य तु ब्रह्मणि निर्धर्म-
 कत्वेनासत्त्वात्तद्व्यक्तिद्वयात्मकौ ताविति व्यवहारासम्भव एवेत्यभिप्रायेण
 शङ्कते—मिथ्यात्वाभाव इति, तत्र ब्रह्मणि उत्तरयति—एकत्वाभाव इति,
 तथा च सद्भूत्यारूपस्य द्वित्वस्य तत्रासत्त्वेऽपीदृशद्वित्वसत्त्वादेव व्यक्तिद्वया-
 त्मकौ तावित्यस्यापि सुवचत्वमितिभावः । नन्वेकत्वाधिकरणे तदभावरूपं द्वित्वं
 न सम्भवतीत्यत आह—प्रत्येकमिति । एकत्र विद्यमानस्यापि तत्रैवोभय-
 त्वावच्छेदेन तदभावो लोकसिद्ध एवेति दृष्टान्तद्वारा द्रढयति—पृथिवीजलयोर्न
 गन्ध इतिवदिति । ननु ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवतीत्यादिश्रुतेर्मोक्षावस्थायामभेद-
 प्रतिपादिकायाः का गतिरत आह—योऽपीति, तदानीं मोक्षावस्थायां ।
 लोकैऽपि समानतायामभेदव्यवहारे दृश्यत इत्याह—सम्पदाधिक्य इति ।
 अत एव अभेदप्रतिपादकश्रुतीनां साम्यप्रतिपादकत्वादेव निरञ्जनो निर्दुःखः
 तत्त्वज्ञानवानिति यावत् । नाहममात्रस्य ज्ञानरूपत्वं, किं त्वीश्वरस्यैवेति द्विती-
 यपक्षे दोषमाह—ईश्वरोऽपीति । नन्वेवं नित्यं विज्ञानमित्यत्रोक्त विज्ञानस्व-
 रूपत्वं निरूप्येतेत्यत आह—विज्ञानाश्रय एवोक्त इति अधिकरणत्सुच्छन्तेन
 विज्ञानाश्रयत्वत्रोच्यतेतिभावः । ननु सत्यं विज्ञानमिति श्रुत्यन्तर्गतविज्ञान-

श्रय एवोक्तः “ यः सर्वज्ञः स सर्ववित् ” इत्यनुरोधात् । आनन्द-
मित्यस्याप्यानन्दवदित्यर्थः । अर्शआदित्वान्मत्वर्थीषोऽच् प्रत्ययः, अ-
न्यथा पुल्लिङ्गत्वापत्तिः । आनन्दोऽपि दुःखाभावे उपचर्यते, भारग-
पगमे मुखी संवृत्तोऽहमितिवत्, दुःखाभावेन मुखित्वप्रत्ययात् ।
अस्तु वा तास्मिन्नानन्दो नत्वसावानन्दः “ अमुखम् ” इति श्रुतेः ।

पदस्य विज्ञानाश्रयत्वबोधकत्वे किं बीजमत, आह—अनुरोधादित, तथा
चैतान्दुरन्तर्गतसर्वज्ञपदस्य सर्वविषयकज्ञानवानित्यर्थो निर्दि-
वाद एवेत्यत पूर्वोक्तश्रुत्यन्तर्गतविज्ञानपदस्यापि विज्ञानाश्रयत्वमेवार्थः कल्प्यते ।
अन्यथा वेदस्य परस्परविरुद्धार्थप्रतिपादकत्वेनाप्रामाण्यं स्यादिति भावः । ननु
सयं विज्ञानेति श्रुत्यन्तर्गतविज्ञानपदस्य विज्ञानाश्रयत्वार्थकत्वेऽप्यानन्दपदस्य
त्वानन्दस्वरूपत्वमेवार्थ इत्यत आह—आनन्दमित्यस्यापीति । ननु सुख-
वाचकस्यानन्दपदस्यानन्दत्वत्वमर्थः कुतो लभ्यत इत्यत आह—अर्शआदित्वा-
न्मत्वर्थीषोऽच् प्रत्यय इति, तथा च तदस्फूर्तीत्यर्थे अर्शआदिभ्योऽञिति
सूत्रेणाच्प्रत्ययविधानान्दुरन्तर्गतानन्दपदस्यानन्दत्वत्वमेवार्थ इति भावः ।
ननु श्रुत्यन्तर्गतानन्दपदस्य मत्वर्थीयान्प्रत्ययान्तत्वं कथं ज्ञातमत आह—अन्यथेति
श्रुत्यन्तर्गतानन्दपदस्य मत्वर्थीयान्प्रत्ययान्ततास्वीकार इत्यर्थः । पुल्लिङ्गत्वापत्ते-
रिति “ स्यादानन्दधुरानन्दः शतशर्मसुखेति चेति ” कोशेन सुखवाचका-
नन्दपदस्य नित्यपुल्लिङ्गत्वाभिधानादिति भावः । न च “ चन्द्रसि तर्षे विधशे
विकल्पन्त ” इति न्यायापादत्र चन्द्रसं ननुत्कचनेति कथं, मन्तप्रभावा
एव चन्द्रसं वाधयगत । ननु तत्र मनेनेधर आनन्दस्यान्यभतादात्तत्वदित्यर्थोऽने
न संगच्छत इत्यत आह—आनन्दोऽपीति । दुःखाभावा उपचर्यत इति
आनन्दपदं दुःखाभावे लाक्षणिकमित्यर्थः, सुखवाचकस्य च दुःखान-
वेऽपि बहुधा लक्षणया प्रयोगो दृश्यत इत्याह—भारोति । लक्षणत्वत्वन-
रूप गौरवमेव तत्र दोष इत्यत आह—अस्तु वेति, तस्मिन्ने, लक्ष-
ईधरः, आनन्दस्वरूपभावे श्रुते प्रमाण्ये—अमुखमिति सुखनिहं इहेते

न विद्यते मुखं यस्येति कुतो नार्थ इति चेन्न, क्लिष्टकल्पनापत्तेः,
प्रकरणविरोधादानन्दमित्यत्र मत्वर्थीयाचमत्ययाविरोधाच्चेति संक्षेपः ।

एतेन प्रकृतिः कर्त्री पुरुषस्तु पुष्करपलाशवन्निर्लेपः किंतु चेतनः।
कार्यकारणयोरभेदात् कार्यनाशे सति कार्यरूपतया तन्नाशोऽपि न
च तदर्थः, तथा च घटेनापि ब्रह्मणि सुखभेदबोधनात् सुखस्वरूपत्वं त-
स्येतिभावः । क्लिष्टकल्पनापत्तेरिति ब्रह्मैवाहाव्ययपदार्थत्वाभार्यमन्यपदार्थे
नञो लक्षणापत्तेरित्यर्थः । सुखभिन्नं ब्रह्मेत्यत्रापि बोधे यथाकथञ्चिद्विद्वक्षणप-
त्तिमाशङ्क्याह—प्रकरणविरोधादिति नञ्त्-पुरुषनिष्पन्नपदपरंपरापठितत्वरू-
पप्रकरणविरोधादित्यर्थः । तथा च “अस्पृष्टमनणु अदीर्घमित्यार्द्रा” सर्वत्र नञ्त्-
त्पुरुषप्रदर्शनेन तत्सन्निधौ पठितस्यासुखमिति पदस्यापि नञ्त्त्पुरुष एव श्रद्धेयो
वहुव्रीहिनिष्पन्नाच्चे प्रकरणविरोधापत्तेरितिभावः। संक्षेपः वेदान्तिमतविचारस्येति शेषः॥

॥ इति वेदान्तिमतखण्डनम् ॥

एतेनेति वक्ष्यमाणप्रकारेण “ इति मतमपास्तमिति ” परेणान्वयः ।
प्रकृतिः मूलप्रकृतिः । कर्त्री कर्तृभूतान्तःकरणकारणमित्यर्थः, न त्वनुकूट-
कृतिमत्त्वं, तस्य तन्मतेऽन्तःकरणधर्मत्वत् । पुष्करपलाशवत् पद्मपत्रवदित्यर्थः,
यथा पद्मपत्रं जले वर्तमानमप्यम्भसा स्थितं न भवति तथा सर्वगतोऽपि
पुरुषः कर्तृत्वाद्याश्रयो न भवतीतिभावः । नन्वह करोमितिप्रतीतेः पुरुषस्यैव
कर्तृत्वं स्यादत आह—कार्यकारणयोरिति अभेदात्तादात्म्यादित्यर्थः । तन्ना-
शोऽपीत्यपिशब्दः कार्यरूपतयेत्यस्याग्रे योजनीयः पुरुषस्य घटादिकारणत्वे
कार्यकारणयोरभेदाद्घटादिकार्यनाशे घटादिरूपेण पुरुषस्यैव नाशो जातस्तथा
च पुरुषस्य सर्वथा कूटस्थत्व व्याहन्येतेत्यतः पुरुषस्य न कारणत्वमिति-
भावः । यद्वा कार्यनाशे सतीत्यस्य कार्यनाशोऽनुभवसिद्धे सत्पि कार्य-
रूपतया पुरुषस्येति शेषः तन्नाशोऽपि घटादिकार्यनाशोऽपि न स्यादि-
त्यापत्तिरित्यर्थो बोध्यः । पुरुषस्य घटादिकारणत्वे घटादिकार्यनाशोऽपि
न स्वात्कार्यकारणयोरभेदात्पुरुषरूपत्वाद्घटादीनां पुरुषस्य चाधिकारित्वेन

स्यादित्यकारणत्वं तस्य । बुद्धिगतचैतन्याभिमानान्यथानुपपत्त्या तत्कल्पनम् । बुद्धिश्च प्रकृतेः परिणामः । सैव महत्तत्त्वम्, अन्तःकरणमित्युच्यते । तत्सत्त्वासत्त्वाभ्यां पुरुषस्य संसारापवर्गा । तस्या एवे-

नाशरूपविकारासम्भवादितिभावः । अकारणत्वं तस्य पुरुषस्यैवार्थः । नवेत्तादृशपुरुषसत्त्वे किं मानमत आह-बुद्धिगतेति । चैतन्याभिमानेति । चैतन्यं च सादृश्यमते विज्ञानत्वं, अन्यथानुपपत्त्यापुरुषं विनानुपपत्त्यैवार्थः । तत्कल्पनं पुरुषकल्पनं कुत्राचि-प्रमिद्धस्यैव चैतन्यस्य बुध्वात्तारोपमन्मवादितीभावः । ननु का नाम बुध्धिरित्यत आह-बुद्धिश्चेति, प्रकृतेः मूलप्रकृतेरित्यर्थः । सैव मूलप्रकृतिपरिणामरूपा बुध्धिरैव महत्तत्त्वनामधेया अन्तःकरणनामधेया च बुध्धिरैवेत्यर्थः । ननु पुरुषप्रकार्णत्वे पुरुषस्य दुःखसंस्कारो मोक्षो न स्यात् पुरुषेऽकर्तृत्वेन धर्माधर्मार्थानुत्पत्त्या दुःखदेहेतुत्वाद्भेदत आह-तत्सत्त्वासत्त्वाभ्यामिति बुध्धिसत्त्वासत्त्वान्याभिर्यर्थः । बुध्धिसत्त्वे इन्द्रियद्वारा बहिर्निर्गताया बुध्धेर्यटादिदेशान्तौ घटादाकरेण परिणतिर्जायते, सैव ज्ञानमित्युच्यते, तादृशज्ञानेन सम्बन्धो घटदिर्निर्भवः साकारज्ञानकारणबुध्धया अगृहीतभेदकत्वसम्बन्धेन दुष्प्रसिद्धः सन् पुरुषसत्त्वपतिरोधानेन पुरुषस्य संसारापादको भवति । बुध्धिनतो तु तदतिरिक्तस्य घटायाकारस्याभावेन विषयसम्बन्धमानाभावस्तुदत्त्वस्यैवसात्त्विकत्वेनेत्यः सिद्ध एवेति भावः । बुध्धौ भेदज्ञानानन्वत् पुरुषे बन्ध इति व्यवहारो न वास्तविकः, दुःखसम्बन्धस्य बुध्धेरैव सत्त्वन्, भेदप्रहे बुध्धिनिरुद्धो तु पुरुषस्य मोक्षः सिद्ध एव । तथा च पुरुषे बन्धुत्वात्त्वत्वात् धैर्यचरित्त एव दुःखसम्बन्धतत्त्वसत्त्ववन्मोक्षयोर्बुध्धेरैव सत्त्वन् । तथा चेत् “बन्धते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिर्भिति” नन्वर्थः । बुध्धौ भेदप्रहे बुध्धिसान्निध्यरूपदेशादेवेति कीच्यन् । ननु विषये पुरुषस्य साक्षात्सम्बन्ध एव कथं न कल्पयत इत्यत आह-तस्या एवेति बुध्धेरैवेत्यर्थः, घटदिना सम्बन्धो नाम परिणतिर्जनरूपा । तथा च विषये बुध्धेरैव साक्षात्सम्बन्धः

न्द्रियप्रणालिकया परिणानिर्जनरूपा घटादिना संबन्धः । पुरुषे कर्तृ-
त्वाभिमानो बुद्धौ चैतन्याभिमानश्च भेदाग्रहात् । ममेदं कर्तव्यमिति
मदंशः पुरुषोपरागो बुद्धेः स्वच्छतया तत्प्रतिविम्बादृतात्त्विको दर्पणस्येव
मुक्तोपरागः । इदमिति विषयोपरागः, इन्द्रियप्रणालिकया परिणतिभे-
दस्तात्त्विको निःश्वासाभिहतदर्पणस्येव मलिनिमा । कर्तव्यमिति व्यापा-
रांशेः । तेनांशत्रयवती बुद्धिस्तत्परिणामेन ज्ञानेन पुरुषस्यातात्त्विकः

। पुरुषस्य स्वातन्त्र्येण सम्बन्धस्वीकारे तु पुरुषस्याप्रच्युतानुत्पन्नास्तिरेक-
स्यभावत्वेन तत्स्वभावाधीनविषयसम्बन्धस्य नित्यत्वप्राप्त्या मोक्षाभाव एव
स्यादितिभावः । यद्वा बुद्धितो ज्ञानस्य भेदमाह—तस्या एवेति तथा च
बुद्धेः परिणतिरेव ज्ञानं, न तु बुद्धिरेवेतिभावः । ननु चेतनोऽहं
करोमीति प्रतीतिरेव विषयेण पुरुषस्य साक्षात्सम्बन्धसत्त्वे प्रमाणमत आह—
पुरुषे कर्तृत्वाभिमान इति, भेदाग्रहान् बुद्धिपुरुषयोर्भेदाग्रहादित्यर्थः । संप्रति
बुद्धितः उपलब्धेर्भेदमाधनार्थं बुद्धेरंशत्रय दर्शयति—ममेदमिति, पुरुषोपरागः
पुरुषसम्बन्धः, तत्प्रतिविम्बादृति तस्यां बुद्धौ प्रतिविम्बादृतेरतात्त्विक इत्यर्थः,
अतात्त्विकत्वे दृष्टान्तमाह—दर्पणस्येति दर्पणस्य यथा मुक्त्वसम्बन्धः प्रतिचि-
म्बमात्रं, न तु तात्त्विकस्तथा बुद्धिपुरुषयोरेकत्वाभिमानात्पुरुषसम्बन्धोऽपि दर्प-
णाकारायां बुद्धौ पुरुषप्रतिविम्बोदयमात्रादिवेति न तात्त्विक इति भावः ।
इदमितीति विषयोपरागो विषयसम्बन्धः, इन्द्रियप्रणालिकयोन्द्रियद्वारेत्यर्थः,
परिणतिभेदः अयं घट इत्यादि ज्ञानरूपः परिणाम एव घटादिविषयेण सम्बन्ध
इत्यर्थः, स च तात्त्विकः । तात्त्विकत्वे दृष्टान्तमाह—दर्पणस्येव मलिनिमा
इति यथा दर्पणे मलिनिम्नः सम्बन्धस्तात्त्विको भवत्येवं घटादौ बुद्धिसम्बन्धो-
ऽपि तात्त्विक एवेत्यर्थः । कर्तव्यमितीति तेनांशेति ममेदं कर्तव्यमिति बुद्ध्यभि-
त्यापकशब्दे ममेत्यनेन च पुरुषसम्बन्धः इदमित्यनेन विषयसम्बन्धः कर्त-
व्यमित्यनेन च व्यापारसम्बन्धो बुद्ध्यावभिलाष्यत इत्यंशत्रयवती बुद्धिरिति सिद्धमिति
भावः । तदिति तस्या बुद्धेः परिणामेनेत्यस्यैव विवरणं ज्ञानेन, पुरुषस्य

चेतनायाः प्रकृतेः कार्यत्वाद्द्वे रचैतन्यं कार्यकारणयोस्तादात्म्यादिति चेन्न, असिद्धेः । कर्तृजन्यत्वे भानाभावात् । वीतरागजन्मादर्शनादान्दिन्वम् । अनादेर्नशासंभवात्त्रित्यत्वम् । तर्हि प्रकृत्यादिकल्पनेन । न च-

“ प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।

अहंकारविमृष्टात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥” गीता अ. ३ श्लो. २७

इत्यनेन विरोध इति वाच्यम्, प्रकृतेरदृष्टस्य गुणैरदृष्टजन्मैरिच्छादिभिः कर्ताहमेवेत्यस्य तदर्थत्वात् । “ तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं

नित्यं वेति विकल्प्याद्ये दृग्गणमाह-बुद्धेर्नित्यत्व इति । मोक्षभाव इति तत्र मतेनात्मना बुद्ध्युपधानस्यैव संसाररागिति भावः । द्वितीये दृग्गणमाह-तत्पूर्वमिति बुद्धगुणतिपूर्वमित्यर्थः । वस्तुतस्तूपत्तेः पूर्वं बुद्ध्याश्रितादृष्टादेरभावाद्बुद्धेर (रेवा) लुपत्या संसारः कदाचिदपि न स्यादिति बोध्यम् । असिद्धेः बुद्धेः प्रवृत्तिजन्यत्वात्सिद्धेरित्यर्थः । नतु कर्तृत्वेन जन्मानुमिती परिशेषात्प्रकृतिजन्यत्वं सिध्यतीत्यत आह-कर्तृजन्यत्व इति । प्रस्तुत कर्तृत्वादिस्वप्नाहकनर्कसद्भावादानादित्यमेव कर्तृत्वाह-वीतरागेति न्यायसूत्रमिदं राग इच्छा वीतरागस्य रागशून्यस्य जन्मादर्शनात् रागविद्धस्यैव जन्मदर्शनादिति यावत् । अनादित्वमिति अयमर्थः-स्वन्यवानान्यथालुपत्या सर्वेऽपि जन्तू रागशुक्त एव जायन्ते, रागश्च पूर्वानुभूतविषयस्मरणं विना न सम्भवति, पूर्वानुभवश्च जातमात्रस्यैदिको न सम्भवति, तस्माद्गत्या जन्मान्तरीयालुभवे वाच्यः, तस्मादयमात्मा पूर्वशरीरानुभूतविषयास्मरन् तेषु रज्यते, एवं पूर्वपूर्वजन्मन्यमिति सिद्धमामनोऽनादित्वमिति । अनादेरिति भावस्थेति शेषः । प्रकृतेरिति प्रकृतिर्मूलप्रवृत्तिस्त्वेवा गुणैः सत्त्व-रजस्तमोभिः सर्वशः क्रियमाणानि कर्माणि भवन्ति तथाप्यहङ्कारेण मांस्व-दर्शनप्राप्तिद्वेन विमृष्ट आत्मा अन्तःकरणं यस्य तथाविधः पुरुषः कर्ताहमिति मन्यते इत्यर्थकेन भगवद्वचनैत्यर्थः । तेनात्मनि कर्तृत्वाभावबोधनादिति भावः । अहमेवेति तथा च तेनात्मनि स्वतन्त्रकर्तृत्वस्याभावः

केवलं तु यः " इत्यादि यदा भगवता प्रकटीकृतोऽयमुपरिष्ठादाशय इति संक्षेपः । धर्माधर्माश्रय इति आत्मेत्यनुपपद्यते । शरीरस्य तदाश्रयत्वे देहान्तरकृतकर्मणां देहान्तरेण भोगानुपपत्तेः । विशेषगुणयोगत इति । योग्यविशेषगुणस्य ज्ञानमुखादेः संबन्धेनात्मनः प्रत्यक्षत्वं संभवति न त्वन्यथा अहं जाने अहं करोमीत्यादिमतीतेः ४९ प्रवृत्त्याद्यनुमेयोऽयं रथगत्येव सारथिः ।

अहंकारस्याश्रयोऽयं मनोमात्रस्य गोचरः ॥ ५० ॥

अयमात्मा परदेहादौ प्रवृत्त्यादिनाऽनुमीयते । प्रवृत्तिरत्र चेष्टा । ज्ञानेच्छाप्रयत्नादीनां देहेऽभावस्योक्तमायत्वाच्चेष्टायाश्च प्रयत्नसाध्यत्वाच्चेष्टया प्रयत्नवानात्माऽनुमीयत इति भावः । अत्र दृष्टान्तमाह ।

प्रतिपाद्यते. न तु कर्तृत्वसामान्याभाव इति भावः । प्रकटीकृतोऽयमिति उपरिष्ठादय इत्यर्थः । " अविष्टान तथा कर्ता करणं च पृथग्विधं । निविधाथ पृथक् चेष्टा दैव भवात्र पञ्चमम् ॥ १ ॥ " इत्यनेन पञ्चानामपि कारणत्र प्रतिपाद्य " तत्रैव मणि कर्तारमात्मान केवलं तु यः । पश्यत्यकृतबुद्धित्वात् स पश्यति दुर्मतिः ॥ १ ॥ " इत्यादिना स्वतन्त्रकर्तृत्वस्यैवामनो निविद्धत्वादिति भावः । सन्नेप सांख्यमतविचरस्येति शेषः ।

॥ इति सांख्यमतखण्डनम् ॥

धर्माधर्माश्रयः क इत्याकाशायामह-आत्मेत्यनुपपद्यत इति । ननु शरीरस्यैव धर्माधर्माश्रयत्वमस्त्व आह-शरीरस्येति, तदाश्रयत्वे धर्माधर्माश्रयत्वे । अन्यथाभोग्यविशेषगुणमन्त्रं विना इत्यादिप्रतीतेरीति ज्ञानादिसम्बन्धप्रकारेणैवात्मनः प्रत्यक्षस्यानुभवसिद्धत्वादि-र्थः ॥ ४९ ॥

नन्वहं सुखीत्यादिप्रत्यक्षस्यैवामनि प्रमाणसम्भवात्प्रवृत्त्याद्यनुमेयोऽयमिति मृदमपार्थक्यत आह-परदेहादाविति । परकीयप्रवृत्त्यादेर्तान्द्रियत्वेन हेतुज्ञानासम्भवादाह-प्रवृत्तिरत्रेति । उक्तमायत्वात् शरीरस्य न चैतन्प्रामियनेनै-क्तवादि-र्थः । अनुमीयत इति परकीयशरीरं चैवनाधिष्ठितं चेष्टावत्वा-

रथेति । यद्यपि रथकर्म चेष्टा न भवति । तथापि नेन कर्मणा सारथिर्यथाऽनुमीयते तथा चेष्टात्मकेन कर्मणा परात्मापीति भावः ॥ अहंकारस्येति । अहंकारोऽहमिति प्रत्ययस्तस्याश्रयो विषयः आत्मान शरीरादिरिति । मन इति । मनोभिन्नेन्द्रियजन्यप्रत्यक्षाविषयो मानसप्रत्यक्षविषयश्चेत्यर्थः । रूपाद्यभावेनेन्द्रियान्तरायोग्यत्वात् ॥ ५० ॥

विभुर्वुद्ध्यादिगुणवान्बुद्धिस्तु द्विविधा मता ।

अनुभूतिः स्मृतिश्च स्यादनुभूतिश्चतुर्विधा ॥ ५१ ॥

विभुत्वं परममहत्परिमाणवत्त्वं । तच्च पूर्वोक्तमपि स्पष्टार्थमुक्तम् । बुद्ध्यादीति । बुद्धिसुखदुःखेन्द्रियश्चतुर्दशगुणाः पूर्वोक्ता वेदितव्याः । अत्रैव प्रसङ्गाद्बुद्धेः कतिपयं प्रपञ्चं दर्शयति । बुद्धिस्त्विति । द्वैविध्यं व्युत्पादयति । अनुभूतिरिति । अनुभूतिश्चतुर्विधेति । एतासां चतसृणां करणानि चत्वारि प्रयक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानीति सूत्रोक्तानि वेदितव्यानि ॥ ५१ ॥

प्रत्यक्षमप्यनुमितिस्तथोपामितिशब्दजे ।

दित्येवमनुमीयत इत्यर्थः । दृष्टान्ते रथे चेष्टावस्वहेतोरसिद्धिमाशङ्क्य चेष्टापदस्य विजातीयक्रियार्थकतां द्योतयति—यद्यपीति तथा च शरीरमिदं चेतनाधिष्ठितं विजातीयक्रियावत्त्वाद्बुद्धिरित्येवं पराम्यानुमीयत इति भावः । मात्रपदस्यार्थमाह मनोभिन्नेन्द्रियेति।मनोमात्रविषयत्वे हेतुमाह—रूपाद्यभावेनेति ॥ ५० ॥

तच्च परममहत्परिमाणवत्त्वं च पूर्वमुक्तमपीति “ काष्ठखात्मादिशां सर्वगतत्वं परमं महदि ” ल्यनेन पूर्वमुक्तमपीत्यर्थः । पूर्वोक्ता इति, “ बुद्ध्यादिपदं सङ्ख्यादिपञ्चकं भावना तथा । धर्माधर्मा गुणा एते आत्मनः रथुश्चतुर्दश ॥ ” इत्यनेन पूर्वमुक्ता इत्यर्थः ।

॥ इत्यात्मनिरूपणम् ॥

आत्मनिरूपणानन्तरं बुद्धिनिरूपणे श्रीजमाह—अत्रैव प्रसङ्गादिति एतासां प्रत्यक्षानुमिन्युपामितिशब्दबुद्धीनामित्यर्थः ॥ ५१ ॥

घ्राणजादिप्रभेदेन प्रत्यक्षं षड्विधं मतम् ॥५२॥

इन्द्रियजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम् । यद्यपि मनोरूपेन्द्रियजन्यं सर्वमेव ज्ञानं, तथापीन्द्रियत्वेन रूपेणेन्द्रियाणां यत्र ज्ञाने करणत्वं तत्प्रत्यक्षमिति विवासेतम् । ईश्वरप्रत्यक्षं तु न लक्ष्यम् । इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षमिति सूत्रे

उद्विष्टास्तु प्रथमोपरिधत्तत्वात्प्रत्यक्ष लक्षयति-इन्द्रियजन्यमिति इन्द्रियरूपादावर्षाण्डियजन्यसमस्तीत्यतो ज्ञानमिति । अनुमित्यादावतिव्याप्तिवारणायेन्द्रियजन्यमिति । इन्द्रियजन्यत्वप्रवेशेऽपनुमित्यादावतिव्याप्तिस्तदवस्थैवेत्यादाङ्कते-यद्यपीति, इन्द्रियत्वेनेति इन्द्रियत्वात्च्छिन्नजनकतानिरूपितजन्यताशालि ज्ञान प्रत्यक्षमित्यर्थः । तथा चानुमित्यादीनां नेन्द्रियत्वात्च्छिन्नजनकतानिरूपितजन्यताशालित्वमस्ति, लाघवेन मनसस्तत्र मनस्त्वेनैव कारणत्वात्, अतो नतिव्याप्तिरिति भावः । अत्र लक्षणे ज्ञानमिति स्वरूपकथनमात्रं, इन्द्रियरूपारीनामिन्द्रियत्वेनेन्द्रियजन्यत्वाभावादेव वारणसम्भवादिति बोध्यम् । नन्वतादृशलक्षणमाश्वरप्रत्यक्षेऽन्यात्, ईश्वरप्रत्यक्षस्य निरूपत्वेनेन्द्रियजन्यत्वाभावादत आह-ईश्वरप्रत्यक्षं न्विति । इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमिति इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमव्यभिचारि भ्रमभिन्नं ज्ञान प्रत्यक्षं तद्द्विविधमव्यपदेश्यं निर्विकल्पकं व्यवसायात्मकं सविकल्पकं चेत्यर्थः । यदा इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमव्यपदेश्यमशब्दं अव्यभिचारि भ्रमभिन्नं व्यवसायात्मकं सविकल्पकं ज्ञानं प्रत्यक्षमित्यर्थो बोध्यः । अत्राव्यपदेश्यमिति कथनेन शब्दार्थयोस्तादात्म्याद्घटादौ ज्ञाने घटादिशब्दोऽपि ज्ञात एवेति घटादिप्रदार्थवत् घटादिशब्देनापि व्यपदिश्यमानत्वात्सर्वमेव ज्ञानं शब्दं प्राप्नोतीति निरस्तं बोद्धव्यं । तथा चाव्यपदेश्यमित्यस्य शक्तिज्ञानसहकृतपदज्ञानं विना यद् ज्ञानं तच्छब्दं नैकर्थो बोध्यः । वस्तुतस्तु शब्दज्ञानस्यापि शब्दजन्यत्वेनेन शब्दत्वं, न तु शब्दविषयत्वेनेत्यदिकं भाष्यादाववसेयमिति दिक् । अव्यभिचारिकथनेन च प्रत्यक्षत्वेनेन्द्रिय-

तथैवोक्तत्वात् । अथवा ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम् । (अनुमितौ व्याप्तिज्ञानस्योपमितौ सादृश्यज्ञानस्य शाब्दबोधे पदज्ञानस्य स्मृताव-
 नुभवस्य करणत्वात्तत्र तत्र नानिव्याप्तिः) । इदं लक्षणमिभ्वरप्रत्यक्ष-
 साधारणम् । परामर्शजन्यं ज्ञानमनुमितिः यद्यपि परामर्शप्रत्यक्षा-
 दिकं परामर्शजन्यं तथापि परामर्शजन्यं हेत्वविषयकं यज्ज्ञानं तदे-
 वानुमितिः । न च कादाचित्कहेतुविषयकानुमितावव्याप्तिरिति वाच्यम्,
 तादृशज्ञानवृत्त्यनुभवत्वव्याप्यजातिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात् । अथवा व्या-
 प्तिज्ञानकरणकं ज्ञानमनुमितिः । एवं सादृश्यज्ञानकरणकं ज्ञानमुपमितिः ।

तिर्निरस्ता, तथा च सूत्रे प्रत्यक्षप्रमाया लक्षणमुक्तमिति पृथोक्तलक्षणे ज्ञान-
 पदमपि प्रमावोधनविधेति बोध्यम् । व्यवसायामकमितिकथनेन निर्देकत्वक-
 निरासः । सूत्रे गौतमसूत्रे । तथैवोक्तत्वादिति ईश्वरप्रत्यक्षालक्ष्यत्वस्य वा-
 मिप्रेतत्वादित्यर्थः । ईश्वरप्रत्यक्षस्यापि लक्ष्यव्याभिप्रायेणाह—अथवेति ।
 ज्ञानाकरणकमिति तथा चेश्वरज्ञानस्य नित्यत्वेन ज्ञानकरणकत्वा-
 भावात्तत्रापि लक्षणसमन्वयः । अनुमितिं लक्षयति—परामर्शजन्यमिति ।
 यद्यपीति परामर्शप्रत्यक्षादिकमित्तीति बहिर्व्याप्यधूमवान् पर्वत इति
 ज्ञानयानहमित्पादिकमित्यर्थः । आदिपदेन बहिर्व्याप्यधूमकपर्वतवानयं देश
 इत्यादेर्विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहिशोभस्य परिग्रहः । परामर्शजन्यमिति विषयविधया
 विशिष्टज्ञानत्वेन च परामर्शस्य तत्र हेतुत्वादिनि भावः । हेत्वविषयक-
 मिति तथा च परामर्शप्रत्यक्षादेहेतुविषयकत्वाभावात् तत्रातिव्याप्तिरिति
 भावः । कादाचित्केति धूमवात्पर्वतो बहिर्मानित्वाद्यनुमितीं पक्षतावच्छेदक-
 विधया हेतोर्धूमस्य भानाद्देत्वविषयकत्वाभावेनाव्याप्तेरिति भावः । तादृशेति
 परामर्शजन्यहेत्वविषयकत्वार्थः । सत्तामादाय प्रत्यक्षादिव्यतिव्यापिवारणायानुभव-
 त्वव्याप्येति । अत्रानुभवत्वव्याप्यत्वमनुभवमनुवृत्तित्वरूप बोध्यमन्यथानुभवत्वं
 व्याप्यानुभवत्वमादाय प्रत्यक्षादावतिव्याप्तेर्दुर्विचारस्य स्यात् । तद्यथादाह—अथ-
 वेति, व्याप्तीति व्याप्तिज्ञानं करणं यस्य तादृशादिज्ञानकरणकमेवमप्रेऽपि ।

पदज्ञानकरणकं ज्ञानं शब्दबोधः । वस्तुतो यां कांचिदनुमितिव्यक्ति-
मादाय तद्व्यक्तिवृत्तिप्रत्यक्षावृत्तिजातिमत्त्वमनुमितित्वम् । एवं यत्किं-
चित्प्रत्यक्षादिकमादाय तद्व्यक्तिवृत्त्यनुमित्यवृत्तिजातिमत्त्वं प्रत्यक्षत्वा-
दिकं वाच्यमिति । जन्यप्रत्यक्षं विभजने-घ्राणजादीति । घ्राणजं
रासनं चाक्षुषं स्पर्शनं श्रौत्रं मानसमिति पाङ्क्तिं प्रत्यक्षम् । न चे-
श्वरप्रत्यक्षस्याविभजनान्गुनत्वम्, जन्यप्रत्यक्षस्यैव निरूपणयित्वाद्युक्त-
मूत्रानुसारात् ॥ ५२ ॥

घ्राणस्य गोचरो गन्धो गन्धत्वादिरपि स्मृतः ।

तथा रसो रसज्ञायास्तथा शब्दोऽपि च श्रुतेः ॥५३॥

गोचर इति ग्राह्य इत्यर्थः । गन्धत्वादिरिति । आदिपदात् सु-
रभित्वादिपरिग्रहः । गन्धस्य प्रत्यक्षत्वात्तद्व्यक्तिजातिरपि प्रत्यक्षा ।

एतल्लक्षणे साध्यादिभेदेन व्याप्तिज्ञानादेर्भेदादेकव्याप्त्युपादाने अन्यानुमितावव्या-
प्त्यापत्तेर्हेतुकाचिद्व्याप्तियुक्तिमादाय तदज्ञानकरणकानुभवव्यव्याप्त्यजातिमत्त्वावि-
वक्षणेन पूर्वोक्ताव्याप्तिवारणेऽप्यनुमित्यादिकं प्रति व्याप्तिज्ञानादेर्न व्याप्तिज्ञान-
त्वादिना करणत्व, किं तु ज्ञानत्वेनैव मनस्त्वेनैव वेत्ति केषाञ्चिन्मतेऽसम्भ-
वस्य दुर्वारतामेवेत्यत सर्वमतसाधारण्येनाह-वस्तुन इति । ननुमिति यादिकं
प्रति मनसः करणत्वपक्षे ज्ञानकरणकत्वं प्रत्यक्षलक्षणमनुमित्यादायातिव्या-
प्तमत आह-एवमिति । प्रत्यक्षत्वादिकामिति यां काञ्चिदुपमितिव्यक्तिमा-
दाय तद्व्यक्तिवृत्तिप्रत्यक्षावृत्तिजातिमत्त्वमनुमितित्वम् । एव या कचिद्व्याप्त-
बोधव्यक्तिमादाय तद्व्यक्तिवृत्तिप्रत्यक्षावृत्तिजातिमत्त्वमिति त्रैलोक्यमित्यर्थः । उक्त-
मूत्रेति इन्द्रियार्थसंज्ञिकार्थेन ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारं व्यवसायात्मकं
प्रत्यक्षमित्युपदेशितमूत्रानुसारादित्यर्थः ॥ ५२ ॥

ननु गोचरपदस्य विपर्ययकतया घ्राणस्य गोचरो गन्ध इत्यसङ्गतमन
आह-ग्राह्य इति । सुगन्धित्वादिह्यादिनाऽसुगन्धित्वादिपरिग्रहः । रसत्वादीत्यादिना
मधुरादिः परिग्रहः ॥ ५३ ॥

गन्धाश्रयग्रहणे तु घ्राणस्य न सामर्थ्यमिति बोध्यम् । तथा रस इति । रसत्वादिसहित इत्यर्थः । तथा शब्दोऽपि शब्दत्वादिसहितः । गन्धो रसश्च उद्भूतो बोध्यः ॥ ५३ ॥

उद्भूतरूपं नयनस्य गोचरो

द्रव्याणि तद्वन्ति पृथक्त्वसंख्ये ।

विभागसंयोगपरापरत्व-

स्नेहद्रवत्वं परिमाणयुक्तम् ॥ ५४ ॥

ग्रीष्मोष्मादावनुद्भूतरूपमिति न तत्प्रत्यक्षम् । तद्वन्ति उद्भूतरूपवन्ति ॥ ५४ ॥

क्रिया जातिर्योग्यवृत्तिः समवायश्च तादृशः ॥

गृह्णाति चक्षुः संयोगादालोकोद्भूतरूपयोः ॥ ५५ ॥

योग्येति । पृथक्त्वादिकमपि योग्यवृत्तितया बोध्यम् । तादृशः योग्यव्यक्तिवृत्तिरित्यर्थः । चक्षुर्योग्यत्वमेव कथं तदाह—गृह्णातीति । आलोकसंयोग उद्भूतरूपं च चाक्षुषप्रत्यक्षे कारणम् । तत्र द्रव्यचाक्षुषं प्रति तयोः समवायसंबन्धेन कारणत्वम् । द्रव्यसमवेतरूपादिप्रत्यक्षे स्वाश्रयसमवायसम्बन्धेन द्रव्यसमवेतसमवेतस्य रूपत्वादेः प्रत्यक्षे स्वाश्रयसमवेतसमवायसंबन्धेनेति ॥ ५५ ॥

उद्भूतस्पर्शवद्द्रव्यं गोचरः सोऽपि च त्वचः ।

रूपान्यच्चक्षुषो योग्यं रूपमत्रापि कारणम् ॥ ५६ ॥

द्रव्याध्यक्षे—

न तत्प्रत्यक्षं नेमादिगतरूपप्रत्यक्षमित्यर्थः । न्यूनतां परिहरति पृथक्त्वादिकमपीति । तयोर्द्भूतरूपालोकसंयोगयोः ॥ ५४ ॥ ५५ ॥

उद्भूतस्पर्शवद्द्रव्यं त्वचो गोचरः । सोऽपि उद्भूतस्पर्शोऽपि
स्पर्शत्वादिसहितः । रूपान्यदिति । रूपभिन्नं रूपत्वादिभिन्नं यच्चक्षुषो
योग्यं तच्चगिन्द्रियस्यापि ग्राह्यम् । तथाच पृथक्त्वसंख्यादयो ये
चक्षुर्ग्राह्या गुणा उक्ता एवं क्रियाजातयो योग्यवृत्तयश्च ते त्वचो
ग्राह्या इत्यर्थः । अत्रापि त्वगिन्द्रियजन्येऽपि रूपं द्रव्यप्रत्यक्षे कारणम् ।
तथाच बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षे रूपं कारणम् । नवीनास्तु बहिरि-
न्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षे न रूपं कारणं प्रमाणाभावात् । किंतु चाक्षुषप्रत्यक्षे
रूपं स्पर्शनप्रत्यक्षे स्पर्शः कारणमन्वयव्यतिरेकात् । बहिरिन्द्रियजन्यद्र-
व्यप्रत्यक्षमात्रे किं कारणमिति चेन्न किंचित् । आत्मावृत्तिशब्दभिन्नवि-
शेषगुणवत्त्वं वा प्रयोजकमस्तु । रूपस्य कारणत्वे लाघवमिति चेन्न,
वायोस्त्वगिन्द्रियेणाग्रहणप्रसङ्गात् । इष्टापत्तिरिति चेदुद्भूतस्पर्श एव
लाघवात्कारणमस्तु । प्रभाषा अप्रत्यक्षत्वं त्विष्टापत्तिरेव किं नेष्यते ।
तस्मात् प्रभां पश्यामीतिवत् वायुं स्पृशामीति प्रत्ययस्य संभवाद्वायो-
रपि प्रत्यक्षं संभवत्येव । बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षमात्रे न रूपस्य

रूपभिन्नस्य रूपत्वदेरपि त्वगिन्द्रियेणाग्रहणादाह—रूपत्वादिभिन्नमिति,
आदिना शुक्यत्वादिपरिमहः । नन्वेव बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षाभावं प्रति
रूपाभावस्पर्शाभावयोरुभयोरैव प्रयोजकत्वं वाच्यं तदपेक्षया बहिरिन्द्रियजन्य-
प्रत्यक्षं प्रति रूपस्य कारणत्वं परिकल्पकस्य तदभावस्य प्रयोजकत्वकल्पने
लाघवमित्यत आह—आत्मावृत्तीति आत्मनि अवृत्तिः शब्दभिन्नो यो
विशेषगुणस्तद्रूपमित्यर्थः । लाघवादिति यथा भवता लाघवाद्बहिरिन्द्रिय-
जन्यद्रव्यप्रत्यक्षमात्रे उद्भूतरूपस्य कारणत्व कल्पयते तथोद्भूतस्पर्शस्यैव कार-
णत्वं स्यादित्यर्थः । नन्वेवं प्रभाषः प्रत्यक्षत्वं न स्यात्तत्रोद्भूतस्पर्शाभावा-
दत आह—प्रभाषा इति, तथा च यथा उद्भूतरूपस्य कारणत्ववृत्तिमते
वायोरप्रत्यक्षे इष्टापत्तिर्दीयते तथा मम मते प्रभाषा अप्रत्यक्षे एवेष्टापत्तिः
स्यादिति भावः । उपसंहरति—तस्मादिति । ननु वायोः प्रत्यक्षत्वे वायु-

न वा स्पर्शस्य हेतुत्वम् । वायुप्रभयोरेकत्वं गृह्यत एव, क्वचिद्द्वि-
त्वादिक्रमपि, क्वचित्संख्यापरिमाणग्रहे देपादित्याहुः ॥ ५६ ॥

त्वचो योगो मनसा ज्ञानकारणम् ।

त्वङ्मनःसंयोगो ज्ञानसामान्ये कारणमित्यर्थः । किं तत्र प्रमाणं, सु-
पुष्टिकाले त्वचं त्यक्त्वा पुरीततिवर्तमानेन मनसा ज्ञानाजननामिति ।
ननु सुपुष्टिकाले किं ज्ञानं भविष्यति अनुभवरूपं स्मरणरूपं वा ।
नायः अनुभवसामर्थ्यभावात् । तथाहि । प्रत्यये चक्षुरादिना मनःसंयो-
गस्य हेतुत्वात्तदभावादेव न चाक्षुषादिप्रत्यक्षम् । ज्ञानादेरभावादेव न
मानस प्रत्यक्षम् । ज्ञानायभावे चात्मनोऽपि न प्रत्यक्षमिति । एवं
व्याप्तिज्ञानाभावादेव नानुमितिः । सादृश्यज्ञानाभावान्नोपमितिः । पदज्ञा-
नाभावान्न शाब्दबोधः । इत्यनुभवसामर्थ्यभावान्नानुभवः । उद्बोधका-
भावाच्च न स्मरणम् । मैत्रम् । सुपुष्टिप्राक्कालीनत्वनेच्छादिव्यक्तेस्तत्संब-
न्धेनात्मनश्च प्रत्यक्षत्वमसङ्गात् । तदतीन्द्रियत्वे मानाभावात् । सुपुष्टि-
प्राक्काले निर्णिकल्पकमेव नियमेन जायत इत्यत्रापि प्रमाणाभावात् ।
अथ ज्ञानमात्रे त्वङ्मनःसंयोगस्य यद्विं कारणत्वं तदा रासनचाक्षुषादि-
प्रत्यक्षकाले त्वाचप्रत्यक्षं स्यात् । विषयत्वसंयोगस्य त्वङ्मनःसंयोग-

गतसङ्ख्यापरिमाणयोरपि प्रत्यक्षत्वं स्यादत आह—वायुप्रभयोरिति । गृह्यत
एवेति, तथा च वायुगतसङ्ख्यादिग्रहे इष्टापत्या वायोः स्पाशनाद्दीकारे
वाचकाभाव इति भावः । देपात्सजातीयसवल्नारिरूपदोषादित्यर्थः ॥ ५६ ॥

ज्ञानसामान्ये जन्यज्ञानसामान्य इत्यर्थः । तत्रेति जन्यज्ञानसामान्यं प्रति
त्वङ्मनःसंयोगस्य कारणत्व इत्यर्थः । इच्छादिव्यक्तेरिति इच्छाया आदिव्य-
क्तिसिद्धिं व्युत्पत्त्या ज्ञानमात्रं गृह्यते । ननु सुपुष्टिप्राक्कालीनज्ञानस्यातीन्द्रियत्वेन
न सुपुष्टिकाले ज्ञानादेः प्रत्यक्षत्वापत्तिरत आह—तदतीन्द्रियत्वे इति सुपुष्टिप्रा-
क्कालीनज्ञानस्यातीन्द्रियत्वे इत्यर्थः । ननु सुपुष्टिप्राक्कालीनज्ञानस्य निर्णिकल्पकत्वे-
नातीन्द्रियत्वं सिद्धमेवेत्यत आह—सुपुष्टिप्राक्काल इति । अनुभवानुरोपादिति,

स्य च सत्त्वात् । परस्परप्रतिबन्धादेकमपि वा न स्यादिति । अत्र
 केचित्पूर्वोक्तयुक्त्या त्वन्ननोयोगस्य ज्ञानहेतुत्वे सिद्धे चाक्षुषादिसाम-
 ग्र्याः स्पर्शनादिप्रतिबन्धकत्वमनुभवानुरोधत्कल्प्यत इति । अन्ये
 तु सुषुप्त्यनुरोधाच्चर्मनःसंयोगस्य ज्ञानहेतुत्वं कल्प्यते । चाक्षुषादि-
 प्रत्यक्षकाले त्वङ्मनःसंयोगाभावात् स्पर्शनप्रत्यक्षमिति वदन्ति ॥
 मनोग्राह्यं सुखं दुःखमिच्छा द्वेषो मतिः कृतिः ५७॥

मनोग्राह्यमिति । मनोजन्मप्रत्यक्षविषयमित्यर्थः । मतिर्ज्ञानम् ।
 कृतिः प्रयत्नः । एवं सुखत्वादिकमपि मनोग्राह्यम् । एवमात्मापि
 मनोग्राह्यः किंतु मनोभात्रस्य गोचर इत्यनेन पूर्वोक्तत्वादेव नोक्तः ५७॥

ज्ञानं यन्निर्विकल्पाख्यं तदतीन्द्रियमिष्यते ।

महत्त्वं पद्विधे हेतुरिन्द्रियं करणं मतम् ॥५८॥

चक्षुःसंयोगानन्तरं घट इत्याकारकं घटत्वादिविशिष्टं ज्ञानं न
 संभवति पूर्वं विशेषणस्य घटत्वादेर्ज्ञानाभावात् । विशिष्टबुद्धौ विशेष-
 णज्ञानस्य कारणत्वात् । तथाच प्रथमतो घट्यदस्वयोर्वैशिष्ट्यन्वयादेव

तथा चातुभय एव तत्तज्ज्ञानमामप्रयात्तत्तत्तद्वन्दननिन्दनकृते प्रकृत्यनिमित्तम् ।

मिश्रमतं दर्शयति—अन्ये त्विति सुषुप्त्यनुरोधेन कृतौ इत्यनुवादबुद्धेः,

एवं च चाक्षुषादिकाले पूर्वोक्तस्पर्शनादितेन स्वस्पर्शे च—चाक्षुषादीनि ।

मनोग्राह्यत्वस्य सर्वत्रैव सत्त्वादाह—मनोजन्मनिन्दननिन्दनकृतौ ॥ ५७ ॥

निर्विकल्पके प्रमाणं दर्शयति—चक्षुःसंयोगादीनि । विशेषणत्वस्य

कारणत्वादिति दण्डो पुनरु इत्यदौ विशेषणत्वस्य कारणत्वस्य इति न्याय

ननु रक्तो दण्ड इति ज्ञानं विना स्वदण्ड इति इत्यनुवादके विशिष्टबुद्धौ

यगाहेज्ञाने विशेषणत्वान्छेदकत्वस्य ननु कारणत्वं ननु ननु त्विति

विशिष्टबुद्धौ विशेषणत्वस्य कारणत्वं ननु त्विति ननु त्विति ननु त्विति

विशेषणज्ञानस्य कारणत्वान्छेदकत्वस्य ननु कारणत्वं ननु त्विति ननु त्विति

इति प्रत्यक्षोत्तरपेक्षैरुक्तं स्वदण्डत्वस्य कारणत्वं ननु त्विति ननु त्विति

ज्ञानं जायते । तदेव निर्विकल्पकम् । तच्च न प्रत्यक्षम् । तथाहि ।
 वैशिष्ट्यानवगाहि ज्ञानस्य प्रत्यक्षं न भवति घटमहं जानामीति प्रत्य-
 यात् । तत्रात्मनि ज्ञानं प्रकारीभूय भासते । ज्ञाने घटस्तत्र घटत्वम् यः
 प्रकारः स एव विशेषणमित्युच्यते । विशेषणे यद्विशेषणं तद्विशेषणतावच्छे-
 दकमित्युच्यते । विशेषणतावच्छेदकप्रकारकं ज्ञानं विशिष्टवैशिष्ट्यज्ञाने
 कारणम् । निर्विकल्पके च घटत्वादिकं न प्रकारस्तेन घटत्वादि-
 विशिष्टघटादिवैशिष्ट्यभानं ज्ञाने न संभवति, घटत्वाद्यप्रकारकं च
 घटादिविशिष्टज्ञानं न संभवति ॥ जात्यखण्डोपाध्यातिरिक्तपदार्थ-
 ज्ञानस्य किञ्चिद्धर्मप्रकारकत्वनियमात् । महत्त्वमिति । द्रव्यप्रत्यक्षे

वेति वैशिष्ट्यनिष्ठसांमिकविषयताशून्यमेवेत्यर्थः । तथा च निर्विकल्पकस्य
 त्रिविधविषयताशून्यत्वेन तुरीयाख्यविषयतावत्वमेवेति सिद्धान्तो बोध्यः ।
 अनवगाह्येत्वेत्प्रकारेण कल्पनीयविशेषणज्ञानस्य वैशिष्ट्यावगाहिते तस्यापि
 विशिष्टबुद्धित्वेन विशेषणज्ञानसापेक्षतयेत्येवमग्रेऽप्यनवस्थापितं । स्यादतः
 प्रथमं विशेषणज्ञानं वैशिष्ट्यानवगाह्येति सूचितम् । तदेव तादृशविषयताशून्य-
 ज्ञानमेव निर्विकल्पकं निर्विकल्पकस्वरूपमित्यर्थः । तच्चेति निर्विकल्पकं च ।
 निर्विकल्पकस्यातीन्द्रियत्वमेव साधयति—तथाहीत्यादिना । इति प्रत्यया-
 दिति घटज्ञानस्य प्रत्यक्षं घटमहं जानामीत्येतदत्र सम्भवति, तच्च न
 निर्विकल्पकं विषयीकरोतीति भावः । एतदेव स्पष्टयति तत्रात्मनीत्यादिना,
 तत्र घटमहं जानामीतिप्रत्यये । न सम्भवतीति अयमाशय—ज्ञानस्य प्रत्यक्षं
 घटमहं जानामीत्यादिस्वरूपमेव सम्भवतीत्यनुभवसिद्धं, एतच्च विशिष्टं शिष्ट्या-
 वगाहिस्वरूपमतोऽयं घट इत्यादिविशिष्टज्ञानोत्तरमेव स्यात्प्रसिद्धः स्वीकर्तव्या,
 विशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञानस्य विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहिज्ञानकारणत्वादिति ।
 ननु घटमहं जानामीति ज्ञाने न घटत्वविशिष्टघटस्य वैशिष्ट्यं भासते, किं
 तु शुद्धप्रत्यक्षेण अहं-घटत्वाद्यप्रकारकं चेति । पृष्ठे महत्त्वं पदस्थं
 इति, अत्र यद्यपि श्रावणादौ महत्त्वस्य कारणत्वास्वीकारेऽपि न किमपि

महत्त्वं समवायसंबन्धेन कारणं । द्रव्यसमवेतानां गुणकर्मसामान्यानां
 मत्प्रत्यक्षे स्वाश्रयसमवायसंबन्धेन कारणं, द्रव्यसमवेतसमवेतानां गुणत्व-
 कर्मत्वादीनां प्रत्यक्षे स्वाश्रयसमवेतसमवायसंबन्धेन कारणमिति ।
 इन्द्रियमिति । अत्रापि पङ्क्तिव्यतिरिक्त इत्यनुपपद्यते । इन्द्रियत्वं तु न जातिः
 पृथिवीत्वादिना सांकर्यमसङ्गात् । शब्देतरोद्भूतविशेषगुणानाश्रयत्वे सति
 ज्ञानकारणमनःसंयोगाश्रयत्वमिन्द्रियत्वम् । आत्मादिवारणाय सत्यन्तम् ।
 उद्भूतविशेषगुणस्य शब्दस्य श्रेत्रे सत्त्वाच्छब्देतरेति । विशेषगुणस्य
 रूपादेश्वक्षुरादावपि सत्त्वादुद्भूतेति । उद्भूतत्वं न जातिः शुक्लत्वादिना
 सांकर्यात् न च शुक्लत्वादिव्याप्यं नानैवोद्भूतत्वमिति वाच्यम्, उद्भूत-
 रूपत्वादिना चाक्षुपादौ जनकतानुपपत्तेः । किंतु शुक्लत्वादिव्याप्यं
 नानैवानुद्भूतत्वं तदभावकूटश्रोद्भूतत्वम् । तच्च संयोगादावप्यास्ति
 तथा च शब्देतरोद्भूतगुणः संयोगादिश्चक्षुरादेरप्यस्त्यतो विशेषेति ।

दूषणमुपस्थामस्तथाऽपि लावनेन द्रव्यसमवेतप्रत्यक्षवाच्यच्छब्दं प्रत्येव मह-
 च्चस्य कारणत्वमित्यतो पङ्क्तिव्यतिरिक्त इत्युक्तमिति बोध्यम् । आत्मादीति आ-
 त्मादौ याऽस्तिव्यामिस्तद्वारणायैत्पर्यः । शब्देतरेत्यादिलक्षणे प्रविष्टस्य विशे-
 पपदस्य प्रयोजनं दर्शयितुं भूमिकां रचयति उद्भूतत्वमिति । साङ्कर्या-
 दिति उद्भूतत्वं विहाय शुक्लत्वमनुद्भूतशुक्ले, शुक्लत्वं विहायोद्भूतत्वं च
 नीलोद्भूते, उभयोः समावेशः शुक्लोद्भूत इत्येव साङ्कर्यसत्त्वाद्भूतत्व न
 जातिरित्यर्थः । नानैवोद्भूतत्वमिति तथा च शुक्लद्रव्याप्योद्भूतत्वस्य नीलो-
 द्भूतादावसत्त्वेन न साङ्कर्यमिति भावः । जनकत्वानुपपत्तेरिति एकैकस्य
 कारणतावच्छेदकत्वे व्यभिचारात्कूटस्य चैकत्रासम्भवादिति भावः । तदभाव-
 कूटश्रोद्भूतत्वमिति तथा च तादृशकूटस्य कारणतावच्छेदकत्वमिति, नोक्त-
 दोष इति भावः । दूरस्थवृक्षादेः प्रत्यक्षत्वेऽपि तद्वर्तिकोटरादेः प्रत्यक्षत्वं
 न भवतीत्यतः इन्द्रियावयवविषयावयवयोः संयोगस्यापि प्रत्यक्षे कारणत्वम-
 स्तीत्यभिप्रायवतां प्राचां मते इन्द्रियलक्षणाप्रविष्टस्य मनःपदस्य कृत्यमाह-

कालादिवारणाय विशेष्यद्वयम् । इन्द्रियावयवविषयसंयोगस्यापि प्राचां
मते प्रत्यक्षजनकत्वादिन्द्रियावयववारणाय, नवीनमते कालादौ रूपा-
भावप्रत्यक्षे संनिकर्षव्यवकतया कारणीभूतचक्षुःसंयोगाश्रयस्य काला-
देश्च वारणाय मनःपदम् । ज्ञानकस्पर्णमित्यपि तद्वारणाय । कस्पर्णमिति
असाधारणं कारणं करणम् । असाधारणत्वं व्यापारवत्त्वम् ॥ ५८ ॥

विषयेन्द्रियसंबन्धो व्यापारः सोऽपि पञ्चविधः ।

द्रव्यग्रहस्तु संयोगात्संयुक्तसमवायतः । ॥ ५९ ॥

द्रव्येषु समवेतानां तथा तत्समवायतः ।

तत्रापि समवेतानां शब्दस्य समवायतः ॥ ६० ॥

तद्दृत्तीनां समवेतसमवायेन तु ग्रहः ।

प्रत्यक्षं समवायस्य विशेषणतया भवेत् ॥ ६१ ॥

विशेषणतया तद्द्रव्यभावानां ग्रहो भवेत् ।

यदि स्यादुपलभ्येतेत्येवं यत्र प्रसज्यते ॥ ६२ ॥

व्यापारः संनिकर्षः । पञ्चविधं संनिकर्षमुदाहरणद्वारा दर्शयति ।

इन्द्रियावयवविषयसंयोगस्यापीति इन्द्रियावयववारणायेति मनःपदमित्यनेना-
श्रितं, तथा चेन्द्रियावयवेष्वस्तिव्याप्तिवारणाय मनःपदमिति भावः । दूरत्वस्य प्रति-
बन्धकरेणैव तत्र क्रोडरादेः प्रत्यक्षत्वप्रातिवारणसम्भवत्वेन्द्रियावयवविषयावय-
वयोः संयोगस्य प्रत्यक्ष प्रति कारणतरमस्तीत्याभिमतायवत्ता नवीनानां मतेऽपि मन-
पदस्य कृम्यमाह—नवीनमत इति सन्निकर्षव्यवकतयेति चक्षुःसंयुक्तविशेषण-
त्वारूपसौत्रिकर्षव्यवकतयत्यर्थः । तद्वारणाय कालादावतिव्याप्तिवारणाय ॥ ५८ ॥

ननु सन्निकर्षे सति तन्निकर्षजनकरूपस्य व्यापारस्य श्रोत्रशब्दसम्बन्धे
समवायेऽसत्त्वादिष्वेन्द्रियसम्बन्धो व्यापार इति मूत्रमयुक्तमत आह—व्यापारः

परमाणौ पृथिवीत्येऽपि घटादिक्रमादाय महत्त्वसंबन्धो बोध्यः । एवं वायौ तदीयस्पर्शादौ च सत्तायाश्चाक्षुषमत्यक्षं स्यात् तस्मादुद्भू-
तरूपावच्छिन्नमहत्त्वावच्छिन्नचक्षुःसंयुक्तसमवायस्य द्रव्यसमवेतचाक्षुषम-
त्यक्षे तादृशचक्षुःसंयुक्तसमवेतसमवायस्य द्रव्यसमवेतसमवेतचाक्षुषे
कारणत्वं वाच्यम् ।

इत्थं च परमाणुनीलादौ न नीलत्वादिग्रहः, परमाणौ चक्षुः-
संयोगस्य महत्त्वावच्छिन्नत्वाभावात् । एवं वाय्वादौ न सत्तादिचा-
क्षुष तत्र चक्षुःसंयोगस्य रूपावच्छिन्नत्वाभावात् । एवं यत्र घटस्य
मध्यावच्छेदेनालोकसंयोगः चक्षुःसंयोगस्तु वाह्यावच्छेदेन तत्र घटम-
त्यक्षाभावादालोकसंयोगावच्छिन्नत्वं चक्षुःसंयोगे विशेषणं द्रव्यम् । एवं
द्रव्यस्पर्शनमत्यक्षे त्वक्संयोगः कारणं द्रव्यसमवेतस्पर्शनमत्यक्षे त्व-

व्याप्त्यानामनैकासामनुद्भूतत्वजातीनां परमाणुनीलादिवृत्तिद्वये मानाभावेन पर-
माणुरूपादाद्यनुद्भूतत्वस्य स्वकारात्परमाणुरूपस्यापि स्वपदेन धर्तुं शक्यत्वा-
दिति भावः । उद्भूतरूपावच्छिन्नमहत्त्वावच्छिन्नचक्षुःसंयुक्तसमवायस्येति
उद्भूतमत्त्ववच्छिन्नत्वं महत्त्वावच्छिन्नत्वं च चक्षुःसंयुक्तैकदेशेन चक्षुःसंयोगेनाव्यति-
बोध्यम् । एवमग्रेऽपि । तादृशेति उद्भूतरूपावच्छिन्नमहत्त्वावच्छिन्नचक्षुःसंयुक्त-
समवेतसमवायस्येत्यर्थः । तथा च महत्त्वावच्छिन्नचक्षुःसंयुक्तसमवेतसमवा-
यस्य त्रसरेणौ तदूपे चाभावात्तत्राक्षुषानुपपत्त्या संयोगस्य संयुक्तसमवायस्य च
प्रत्यासत्तिरकल्पनमिति भावः । परमाणुनीलादौ नीलत्वादिश्चाक्षुषत्वापत्ते-
र्वारण स्पष्टयति—इत्थमित्यादिना । प्रमद्वादाह—एवं यत्रेति तथा
चोद्भूतरूपावच्छिन्नमहत्त्वावच्छिन्नालोकसंयोगावच्छिन्नचक्षुःसंयोगस्य द्रव्यचाक्षुषे,
उद्भूतरूपावच्छिन्नमहत्त्वावच्छिन्नालोकसंयोगावच्छिन्नचक्षुःसंयुक्तसमवायस्य द्रव्य-
समवेतरूपादिचाक्षुषे, उद्भूतरूपावच्छिन्नमहत्त्वावच्छिन्नालोकसंयोगावच्छिन्नचक्षुः-
संयुक्तसमवेतसमवायस्य च द्रव्यसमवेतसमवेतरूपत्वादिचाक्षुषे कारणत्वमिति
तत्त्वं पर्यवसिस्पर्तं । स्पर्शनप्रत्यक्षे त्वक्संयोगस्य कारणत्वं प्रपंचयति—एव-

क्संयुक्तसमवायः, द्रव्यसमवेतमवेतस्पर्शनप्रत्यक्षे त्वक्संयुक्तसमवेतसम-
वायः कारणम् । अत्रापि महत्त्वावच्छिन्नत्वमुद्भूतस्पर्शावच्छिन्नत्वं
च पूर्ववदेव बोध्यम् । एवं गन्धप्रत्यक्षे घ्राणसंयुक्तसमवायः ।
गन्धसमवेतस्य घ्राणजन्यप्रत्यक्षे घ्राणसंयुक्तसमवेतसमवायः कारणम् ।
एव रसप्रत्यक्षे रसनसंयुक्तसमवायः । रससमवेतरसनप्रत्यक्षे
रसनासंयुक्तसमवेतसमवायः कारणम् । शब्दप्रत्यक्षे श्रोत्रावच्छिन्न-
समवायः कारणम् । शब्दसमवेतश्रावणप्रत्यक्षे श्रोत्रावच्छिन्नसम-
वेतसमवायः कारणम् । अत्र सर्वं प्रत्यक्षं लौकिकं बोध्यम् ।
वक्ष्यमाणमलौकिकं प्रत्यक्षमिन्द्रियसंयोगादिकं विनापि भवति ।
एवमात्मनः प्रत्यक्षे मनःसंयोगः, आत्मसमवेतमानसप्रत्यक्षे मनः-
संयुक्तसमवायः आत्मसमवेतसमवेतमानसप्रत्यक्षे मनःसंयुक्तसमवेत-
समवायः । कारणम् । अभावप्रत्यक्षे समवायप्रत्यक्षे चेन्द्रियसंबद्धवि-

मित्यादिना । अत्रापि त्वाचप्रत्यक्षेऽपि । पूर्ववदेवेति चाक्षुषवदेवेत्पर्यः ।
तथाहि—प्राचीनमते बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षमात्रं प्रमुद्भूतरूपस्य कारणत्वा-
दुद्भूतरूपावच्छिन्नमहत्त्वावच्छिन्नोद्भूतस्पर्शावच्छिन्नत्वकर्मयोगो द्रव्यस्पर्शनप्रत्यक्षे
कारणः । द्रव्यसमवेतानां स्पर्शादीनां स्पर्शनप्रत्यक्षे महत्त्वावच्छिन्नोद्भूतस्पर्शावच्छि-
न्नत्वक्संयुक्तसमवायः, द्रव्यसमवेतसमवेतानां स्पर्शादीनां स्पर्शने तादृशत्व-
क्संयुक्तसमवेतसमवायः कारणमिति । अत्र प्रभाषाः स्पर्शनापत्तिवारणाय प्र-
थमकल्पे उद्भूतस्पर्शावच्छिन्नत्वनिवेदाः । प्रभाषां सत्त्वायाः स्पर्शनापत्तिवार-
णाय प्रभाषादित्तत्त्विकर्षेण स्पर्शत्वस्पर्शनवारणाय च द्वितीयतृतीयकल्पयो-
स्तद्विशेष इति बोध्यम् । नवीनानां मते तु प्रथमकल्पेऽपि उद्भूतरूपव-
च्छिन्नत्वं न देयं, अयोरपि तन्मते प्रत्यक्षात् । घ्राणसंयुक्तसमवाय इति
अत्रापि महत्त्वावच्छिन्नत्वमुद्भूतगन्धावच्छिन्नत्वं च देयं । एवं रसनप्रत्यक्षे
महत्त्वावच्छिन्नत्वमुद्भूतरसावच्छिन्नत्वं च सात्त्विकर्षघटकीभूतरसनासंयोगे विशेष-
ण देयम् । श्रोत्रावच्छिन्नोति सकलपुरुषाणां सर्वशब्दप्रत्यक्षापत्तिरतः श्रो-

शेषणता हेतुः । विशेषिकमते तु समवायो न प्रत्यक्षः । अत्र यद्यपि विशेषणता नानाविधा । यथाहि भूतत्वादौ घटाद्यभावः संयुक्तविशेषणतया गृह्यते । संख्यादौ रूपाद्यभावः संयुक्तसमवेतविशेषणतया संख्यात्वादौ रूपाद्यभावः संयुक्तसमवेतसमवेतविशेषणतया । शब्दाभावः केवलश्रोत्रवच्चिउन्नविशेषणतया । कादौ स्वत्वाद्यभावः श्रोत्रवच्चिउन्नसमवेतविशेषणतया । एवं कन्वाद्यवच्चिउन्नाभावे गत्वाभावादिकं श्रोत्रवच्चिउन्नविशेषणविशेषणतया । एवं घटाभवात्तौ पटाभावः चक्षुःसंयुक्तविशेषणविशेषणतया । एवमन्यदप्युक्तम् । तथापि विशेषणतात्वरूपेणैकैव सा गण्यते । अन्यथा पौढा संनिकर्ष इति प्राचां प्रवादो व्याहृत्येतेति । यदि स्यादुपलभ्येतेति । अत्राभावप्रत्यक्षे योग्यानुपलब्धिः कारणम् । तथाहि । भूतत्वादौ घटादिज्ञाने जाते घटाभवात्तिकं न ज्ञायते । तेनाभावोपलम्भे प्रतियोग्युपलम्भाभावः कारणम् । तत्र योग्यताप्यपेक्षिता सा च प्रतियोगिसत्त्वप्रसज्जनप्रसज्जतप्रतियोगिकत्वरूपा । तदर्थश्च प्रतियोगिनो

त्रावच्छिन्नेति । समवायो न प्रत्यक्ष इति सम्बन्धप्रत्यक्षे यावन्मन्वन्विप्रत्यक्षस्य कारणत्वादिनि भावः । अत्र यद्यपि विशेषणता नानाविधेस्य तथापि विशेषणतात्वेनैव सा गण्यते इत्यपेणान्वयो बोध्यः । अभावप्रत्यक्षे इन्द्रियाणां न करणत्वं, किं तु योग्यानुपलब्धिरेव करणमिति भट्टानामाशेषं दूषयितुं मूढे यदि श्यादिति । तथा ऐन्द्रियाणामभावप्रत्यक्षे जननंपि योग्यानुपलब्धेः सहकारिकारणमात्रतयैव निर्वाहेऽतिरिक्तप्रमाणकल्पनमनुचितमिति भावः । योग्यानुपलब्धेरभावप्रत्यक्षे सहकारित्वे युक्तिमाह—तथाहीति घटादिज्ञाने घटादिभ्रमे । अभावोपलम्भे तदिन्द्रियजन्यतात्सम्बन्धावच्छिन्नतदभावलौकिकप्रत्यक्षे प्रतियोग्युपलम्भाभाव इति । तदिन्द्रियजन्यानाहार्यतात्सर्गकत्तप्रकारकोपलम्भाभाव इत्यर्थः । तत्र प्रतियोग्युपलम्भाभावे । मणिकृतमतानुसारेण बोध्यतां निर्वक्ति—सा चेति । प्रतियोगिसत्त्वेति प्रतियोगीमत्त्वप्रसजनेन प्रतियो-

घटादेः सत्त्वमसक्त्या प्रसञ्जित उपलम्बरूपः प्रतियोगी यस्य सो-
ऽभावप्रत्यक्षे हेतुः । तथाहि । यत्रलोकसंयोगादिकं वर्तते तत्र
यत्र घटः स्यात्तर्हि उपलभ्येतेत्यापादायितुं शक्यते । तत्र घटाभा-
वादिप्रत्यक्षं भवति । अन्धकारे तु नापादायितुं शक्यते । तेन घटा-
भावादेरन्धकारे न चाक्षुषप्रत्यक्षम्, स्पर्शनप्रत्यक्षं तु भवत्येव,
आलोकसंयोगं विनापि स्पर्शनप्रत्यक्षस्यापादायितुं शक्यत्वात् । गुरु-
त्वादिकं यद्योग्यं तदभावस्तु न प्रत्यक्षस्तत्र गुल्वादिप्रत्यक्षस्या-
पादायितुमशक्यत्वात् । वायौ रूपाभावः । पापणे सौरमाभावः ।
गुडे तिक्ताभावः । श्रोत्रे शब्दाभावः । आत्मनि गुत्वाभावः । एव-
माद्रयस्तत्तादिन्दिदैशूर्धन्ते तत्तत्प्रत्यक्षस्यापादायितुं शक्यत्वात् । संस-
र्गाभावप्रत्यक्षे प्रतियोगिनो योग्यता । अन्योन्याभावप्रत्यक्षे त्वधिक-
रणयोग्यताऽपेक्षिता । अतः स्तम्भादौ पिशाचादिभेदोऽपि चक्षुषा
गृह्यत एव ॥ ५९ ॥ ६० ॥ ६१ ॥ ॥ ६२ ॥

एवं प्रत्यक्षं लौकिकालौकिकभेदेन द्विविधम् । तत्र लौकिक-

गिसत्त्वापादनं प्रसञ्जित आपादितः प्रतियोगी यस्यैवभूत उपलम्बभावोऽभा-
वप्रत्यक्षे कारणमित्यर्थः । एतदेव स्पष्टयति—तथाहीत्यादीना । वायु-
द्रुतरूपाभाव इति स्वप्नावच्छिन्नाभावस्यान्वयानुद्भूतरूपप्रतियोगिकत्वेन
प्रत्यक्षासम्भवादुद्भूतेति । संसर्गाभावप्रत्यक्षे प्रतियोगिनो योग्यतेति
योग्यमात्रप्रतियोगिताकत्र संसर्गाभावप्रत्यक्षे प्रयोजकमित्यर्थः, तथा च यस्य
यावती ग्रहणसामग्री न विहाय तस्यां सयां तदसंसर्गाभावस्तथैव गृह्यत
इति भवः । स्तम्भादौ पिशाचभेदस्य प्रत्यक्षत्वादाह—अन्योन्याभावप्रत्यक्षे
इति । अधिरुग्णयोग्यतेति योग्याधिकरणवृत्तित्वमन्योन्याभावप्रत्यक्षप्रयो-
जकमित्यर्थः । स्तम्भो यदि पिशाचः स्यात्तदा स्तम्भमकतयोपलभ्येतेति न
पिशाचानुपलम्बः स्यादित्यापादायितुं शक्यत्वादयोग्यप्रतियोगिकत्वादन्योन्याभा-
वस्य प्रत्यक्षचमिति भावः ॥ ५९, ॥ ६०, ॥ ६१, ॥ ६२, ॥

प्रत्यक्षे प्रोक्ता संनिकर्षो वर्णितः । अलौकिकसंनिकर्षस्त्विदानीमुच्यते—
अलौकिकस्तु व्यापारस्त्रिविधः परिकीर्तितः ।

सामान्यलक्षणो ज्ञानलक्षणो व्यापारस्तथा ॥ ६३ ॥

व्यापारः संनिकर्षः सामान्यलक्षण इति सामान्यं लक्षणं यस्येत्यर्थः । तत्र लक्षणपदेन यदिस्वरूपमुच्यते तदा सामान्यस्वरूपा प्रत्यासत्तिरित्यर्थो लभ्यते । तत्रेन्द्रियसंबद्धविशेष्यकज्ञाने प्रकारीभूतं बोध्यम् । तथाहि । यत्रेन्द्रियसंयुक्तो धूमादिस्तद्विशेष्यकं धूम इति ज्ञानं यत्र जातं तत्र ज्ञाने धूमत्वं प्रकारः । तत्र धूमत्वेन संनिकर्षेण धूमा इत्येवंरूपं सकलधूमविषयकं ज्ञानं जायते । अत्र यदीन्द्रियसंबद्धमित्येवोच्यते तदा धूमादिपटले धूमत्वप्रधानन्तरं सकलधूमविषयकं ज्ञानं न स्यात् तत्र धूमत्वेन सहेन्द्रियसंबन्धाभावत् । मन्मते तु इन्द्रियसंबद्धं धूमादिपटले तद्विशेष्यकं धूम इति ज्ञानम्, तत्र प्रकारीभूतं धूमत्वं प्रत्यासत्तिः । इन्द्रियसंबन्धश्च लौकिको ग्राह्यः । इदं च वहिरिन्द्रियस्थले । मानसस्थले तु ज्ञानप्रकारीभूतं सामान्यमात्रं प्रत्यासत्तिः ॥ ६३ ॥

अलौकिकसंनिकर्षस्त्विदानीमुच्यते इति इदानीं लौकिकसंनिकर्षानेच्छानान्तरमित्यर्थः । तत्र सामान्यलक्षण इत्यत्र । तत्र सामान्यस्वरूपं च, तथा हेन्द्रियसंबद्धविशेष्यकज्ञानप्रकारीभूतसामान्यव्रसम्बन्धेन चक्षुरादिकं निमित्ते घटदौ गत्वा तत्र विषयतासम्बन्धेन ज्ञानं जनयतीति भवः । अत्र यदीति इन्द्रियसंबद्धं सामान्यं प्रत्यासत्तिरित्युच्यते तदेत्यर्थः । यत्र चक्षुःसंनिकर्षेण धूम इति ज्ञानं जातं तत्र चक्षुःसंयोगविगमेऽपि ज्ञानलक्षणात्मकसंनिकर्षस्य तादानीं धूमे सत्त्वात्तादृशज्ञानमादायेन्द्रियसंबद्धविशेष्यकज्ञानप्रकारस्य धूमत्वादेर्धूमाद्यन्तरे सत्त्वाद्धूमाद्यन्तराणां सामान्यलक्षणया ज्ञानासत्तिः स्यादत आह—लौकिको ग्राह्य इति ॥ नन्वेवमणूत्वेन यत्किंचिदणूपस्थितावणुत्वसामान्यलक्षणया यावदणुविषयक मानसं ज्ञानं न स्यात्तादानीं मनसो लौकिकसंनिकर्षाभावात्तद आह—इदं चेति तथा च वहिरिन्द्रियेण सामान्य-

परंतु समानानां भावः सामान्यम्, तच्च क्वचिन्नित्यं धूमलादि,
क्वचिच्चानित्यं घटादि । यत्रैको घटः संयोगेन भूतले समवायेन
कपाले ज्ञातस्तदनन्तरं सर्वेषामेव तद्वद्वत्तां भूतलदीनां कपालादीनां
वा ज्ञानं भवति तत्रेदं बोध्यम् । परंतु सामान्यं येन संबन्धेन ज्ञायते
तेन संबन्धेनाधिकरणानां प्रत्यासत्तिः । किंतु यत्र तद्वदनाशानन्तरं
तद्वद्वत्तः स्मरणं जातं तत्र सामान्यलक्षणया सर्वेषां तद्वद्वत्तां भानं
न स्यात् । सामान्यस्य तदानीमभावात् । किंचेन्द्रियसंबद्धविशेष्यकं
घट इति ज्ञानं यत्र जातं तत्र परदिने इन्द्रियसंबन्धं विनापि तादृश-
ज्ञानभकारीभूतसामान्यस्य सन्वात्तादृशज्ञानं कुतो न जायते, तस्मा-
त्सामान्यविषयकं ज्ञानं प्रत्यासत्तिर्न तु सामान्यमित्याह—

आसत्तिराश्रयाणां तु सामान्यज्ञानमिष्यते ।

आसत्तिः प्रत्यासत्तिरित्यर्थः । तथाच सामान्यलक्षण इत्यत्र
लक्षणशब्दस्य विषयोऽर्थः । तेन सामान्यविषयकं ज्ञानं प्रत्यासत्ति-
रित्यर्थो लभ्यते ॥

ननु चक्षुःसंयोगादिकं विनापि सामान्यज्ञानं यत्र वर्तते तत्र
सकलघटादीनां चाक्षुषादिप्रत्यक्षं स्यादत आह—

लक्षणया ज्ञाने जननीये ताद्विवाक्षित, न तु मानसे सामान्यलक्षणान्वये
ज्ञानेऽपीति न पूर्वोक्तदोष इति भावः ॥ ६३ ॥

आसत्तिराश्रयाणां दिग्ग्यादिमूलमवतारयितुं भूमिकां रचयति—परान्वि-
त्यादिना । समानानामिति तथा च प्रकृते सामान्यपदं यौगिकमेव न
तु पारिभाषिकमिति भावः । अत्रेदं बोध्यमिति ज्ञायमानमनित्यं सामान्यं
तत्र प्रत्यासत्तिरिति बोध्यमित्यर्थः । किन्त्विति एवं चेत्यर्थः । तस्मात्सामा-
न्यविषयकं ज्ञानमिति—इन्द्रियसम्बद्धविशेष्यकं सामान्यप्रकारकं ज्ञानं प्रत्या-
सत्तिरित्यर्थः । यद्वेन्द्रियसम्बन्धाभावादशाश सामान्यप्रवृत्तत्वात् ज्ञानोत्पत्त्यादिसंश्लेषे
मूलकृतैत्र वारणीयत्वात्सामान्यविषयकं ज्ञानं प्रत्यासत्तिरित्यस्य यथाश्रुतार्थक-

तदिन्द्रियजतद्धर्मबोधसामग्र्यपेक्ष्यते ॥ ६४ ॥

अस्यार्थः । यदा वहिरिन्द्रियेण सामान्यलक्षणया ज्ञानं जननीयं तदा यत्किंचिद्धर्मिणि तत्सामान्यस्य तदिन्द्रियजन्यज्ञानस्य सामग्री अपेक्षिता । सा च सामग्री चक्षु संयोगाद्यैकसंयोगादिकम् । तेनान्यकारादौ चक्षुरादिना तादृशं ज्ञानं न जायते ॥ ६३ ॥ ६४ ॥

ननु ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्तिरिति ज्ञानरूपा सामान्यलक्षणापि ज्ञानरूपा तदा तयोर्भेदो न स्यादत आह -

विषयी यस्य तस्यैव व्यापारो ज्ञानलक्षणः ।

सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्तिर्हि तदाश्रयस्य ज्ञानं जनयति । ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्तिस्तु यद्विषयकं ज्ञानं तस्यैव प्रत्यासत्तिरिति । अत्रायमर्थः । प्रत्यक्षे संनिरूप्ये विना भानं न संभवति । तथा च सामान्यलक्षणां विना धूमत्वेन सकलवृक्षानां वहित्वेन सकलवह्नीनां च भानं कथं भवेत्तदर्थं सामान्यलक्षणां स्वीक्रियते । न च सकलवह्निधूमभानाभावे का धतिरिति वाच्यं, प्रत्यक्षधूमे वह्निसंबन्धस्य गृहीतत्वादन्यधूमस्य चानुपस्थितत्वाद्धूमे वह्निव्याप्यो न वेति संगयानुपपत्तेः । मन्मते तु सामान्यलक्षणया सकलधूमोपस्थितौ कालान्तरीयदेशान्तरीयधूमे वह्निव्याप्यत्वसंदेहः संभवति । न च सामान्यल-

क्षमेव सम्यग्मिति मुनिचारणायमिति दिक् । अणुज्ज्ञानमात्रेणैव सकलधूमोच्चरस्य मानसबोधस्य सर्वानुभवमिद्वत्तादाह—वह्निरिति ॥ ६४ ॥

यदि ज्ञानरूपेति अत्रत्यो यदि शब्दः सामान्यलक्षणापीत्युत्तरं योजनीयः । तयोर्ज्ञानलक्षणसामान्यलक्षणयोरित्यर्थः । सामान्यलक्षणास्वाकारे बीजमाह—अत्रेति । अयमर्थः अयमभिप्रायः । न सम्भवतीति प्रत्यक्षद्विषयतायाः सन्निकर्षानुयोगित्वव्याप्यदभादिति भावः । संगयानुपपत्तेरिति प्रत्यक्षधूमं व्यतिर्निर्णयपादन्यधूमस्य चानुपस्थितत्वेन धर्मिज्ञानं विना सशयानुपपत्तेरिति भावः । मिश्रित्य तत्तदुक्तित्वेनेत्यर्थः । ज्ञानलक्षणास्वीकारे बीज-

क्षणास्वीकारे प्रमेयत्वेन सकलप्रमेयज्ञाने जाते सार्वज्ञ्यापत्तिरिति वाच्यं,
प्रमेयत्वेन सकलप्रमेयज्ञाने जातेऽपि विशिष्य सकल्पपदार्थानामज्ञातत्वेन
सार्वज्ञ्याभावात् । एवं ज्ञानलक्षणया अस्वीकारे गुराभि चन्दनमिति
ज्ञाने सौरभस्य भाने कथं स्यात् । यद्यपि सामान्यलक्षणयापि सौरभभानं
संभवति तथापि सौरभत्वस्य भानं ज्ञानलक्षणया । एवं यत्र धूमत्वेन
धूलिपटलं जातं तत्र धूलिपटलस्यानुव्यवसाये भानं ज्ञानलक्षणया ॥

योगजो द्विविधः प्राक्तो युक्तयुञ्जानभेदतः ॥ ६५ ॥

योगाभ्यासजनितो धर्मविशेषः श्रुतिपुराणादिप्रतिपाद्य इत्यर्थः । युक्तयुञ्जान-
भेदत इति युक्तयुञ्जानरूपयोगिद्वैविध्याद्धर्मस्यापि द्वैविध्याभिति भावः ॥ ६५ ॥

युक्तस्य सर्वदा भानं चिन्तासहकृतोऽपरः

युक्तस्य तावद्योगजनधर्मसद्व्यायेन मनसा आकाशपरमाण्वादिनि-
खिलपदार्थगोचरं ज्ञानं सर्वदैव भवितुमर्हति । द्वितीयस्य चिन्ता-
विशेषोऽपि सहकारीति ॥ इति श्री विश्वनाथ पञ्चानन-

भट्टाचार्यविरचितायां मिद्धान्तमुक्तावल्यां प्रत्यक्षखण्डम् ॥

भाह-एवमिति । कथं स्यादिति सौरभस्य चक्षुर्मात्राभावाद्ग्राह्यमभ्यन्वस्य
च तदानीमभावादिति भावः । सौरभत्वभानमिति स्वरूपतः सौरभत्वस्य
भानमित्यर्थः । ज्ञानलक्षणया ज्ञानलक्षणधर्मवैयर्थ्ये । तदस्ति सौरभस्यैव
धर्मान्तगत्यागृहीतवया सामान्यलक्षणया तदज्ञानसम्भवादिति भावः । सौरभ-
त्वस्यपि यथाकथंचि सामान्यलक्षणया भानेऽप्याह-एवं यद्येति ज्ञानलक्षणया
ज्ञानलक्षणधर्मवैयर्थ्ये । तत्र धूमत्वज्ञानरूपसामान्यलक्षणयाः स्वधर्मव्यवस्थानु-
सम्बन्धेन धूलिपटलेऽभावाद्दूतिपटले धूमभ्रमानन्तर्गतेन धूमं जानन्मन्यनुव्यव-
साये धूलिपटलस्य भानं ज्ञानलक्षणां विना न सम्भवेदिति भावः ॥ ६५ ॥

सर्वदैव ध्यानाद्यभावेऽर्थाव्यर्थे । द्वितीयस्य इत्यन्वयः । इति शब्दः ॥

इति श्रीपण्डितश्रीगोविंदरामनृनुवर्गाधगविगचितायां मुक्तावल्यान्वया-
र्थदीपिकायां प्रत्यक्षखण्डम् ॥

अनुमितिं व्युत्पादयति-

व्यापारस्तु परामर्शः करणं व्याप्तिधीर्भवेत् ॥६६॥

अनुमायां ज्ञायमानं लिङ्गं तु करणं नहि ।

अनुमायामनुमितौ व्याप्तिज्ञानं करणम् । परामर्शो व्यापारः । तथा हि । येन पुरुषेण महानसादौ धूमे वह्निर्व्याप्तिर्गृहीता पश्चात्स एव पुरुषः क्वचित्पर्वतादावविच्छिन्नमूलां धूमलेखां पश्यति । तदनन्तरं धूमो वह्निव्याप्य इत्येवं रूपं व्याप्तिस्मरणं भवति । पश्चाच्च वह्निव्याप्य-धूमवानपमिति ज्ञानं भवति स एव परामर्श इत्युच्यते । तदनन्तरं पर्वतो वह्निमानिति ज्ञानम् । तदेवानुमितिः । अत्र प्राचीनास्तु

सप्रत्युपजीव्योपजीवकभावसंगत्वात्तुमानस्वण्ड प्रारभ्यते अनुमिति-मिति । करणे निर्दिष्ट एव व्यापारे जिज्ञासोदयान्मूले पश्चान्निर्दिष्टमपि करणं प्रथमं दर्शयति व्याप्तिज्ञानमिति । परामर्शः लिङ्गपरामर्श इत्यर्थस्तेन परामर्शपदवाच्यस्य ज्ञानमात्रस्यानुमित्यहेतुत्वेऽपि न क्षतिः । लिङ्गपरामर्श इत्यस्य च लीनमर्थं गमयतीति व्युत्पत्त्या व्याप्तिविशिष्टपञ्चधर्मतानि-शिष्टहेतुर्लिङ्गं तस्य परामर्शस्तथा च विषयतासम्बन्धेन तद्विशिष्टं ज्ञानं व्यापार इति परामर्शो व्यापार इत्यस्यार्थो बोध्यः । परामर्शो व्याप्तिज्ञानजन्यत्वे सन्य-नुमितिजनकत्वरूपव्यापारत्वमुपपादयति तथाहीत्यादिना । अविच्छिन्न-मूलां धूमरेखामिति यादृशधूमे वह्निव्याप्तिः पूर्वं महानसादौ गृहिता तादृ-शधूमरेखामित्यर्थः । व्याप्तिस्मरणं तस्य भवतीति धूमदर्शनेन सस्कार-स्येद्ब्रह्मत्वादितिभावः । स एवेति तथा च स्मरणात्मकव्याप्तिज्ञानस्य सर्वत्र सत्त्वाद्युपमिन्नजन्यत्वे सति व्याप्तिज्ञानजन्यानुमितिजनकत्वात्परामर्शो व्यापार इति सिद्धम् । अनुमितिं प्रति लिङ्गपरामर्शस्य कारणत्वं परामृद्यमानलिङ्गस्य वेत्तव्यं त्रिनिगमनाभावानुभवेऽपि हेतुत्वं सिद्धयति, तत्र विषयविधया हेतु-जन्यत्वे सति हेतुजन्यानुमितिजनकत्वसम्भवात्परामर्शस्य व्यापारत्वं व्याप-र्यत्कारणत्वाच्च लिङ्गस्यानुमितिकरणव्यभिचादायवता प्राचीनानां मतं दर्श-

व्याप्यत्वेन ज्ञायमानं लिङ्गमनुमितिकरणमिति वदन्ति, तद्वृत्त्याति
ज्ञायमानमिति ।

अनागतादिलिङ्गेन न स्यादनुमितिस्तदा ॥ ६७ ॥

लिङ्गस्यानुमित्यकरणत्वे युक्तिमाह—अनागतादीति । ययनुमितौ
लिङ्गं करणं स्यात्तदाऽनागतेन विनष्टेन वा लिङ्गेन अनुमितिर्न स्याद-
नुमितिकरणस्य लिङ्गस्य तदानीमभावात् ॥ ६६ ॥ ६७ ॥

व्याप्यस्य पक्षवृत्तित्वधीः परामर्श उच्यते ।

व्याप्यस्येति । व्याप्तिविशिष्टस्य पक्षेण सह वैशिष्ट्यावगाहि-
ज्ञानमनुमितिजनकम् । तच्च व्याप्यः पक्षे इति ज्ञानं पक्षो व्याप्यवानिति
ज्ञानं वा । अनुमितिस्तु पक्षे व्याप्य इति ज्ञानापक्षे साध्यभित्पाकारिका,
पक्षो व्याप्यवानिति ज्ञानान्यक्षः साध्यवानित्याकारिका । द्विविधाऽपि परा-
मर्शात्पक्षः साध्यवानिन्येवानुमितिरित्यन्ये । ननु बहिर्व्याप्यधूमवान्पूर्वत
इति ज्ञानं विनापि यत्र पूर्वतो धूमवानिति प्रत्यक्षं ततो धूमो बहि-
व्याप्य इति स्मरणम्, तत्र ज्ञानद्वयादेवानुमितिदर्शनाद्व्याप्तिविशिष्टवैशि-

दृष्ट्यावगोहिज्ञानं न सर्वत्र कारणं किंतु व्याप्यतावच्छेदकप्रकारकपक्षधर्म-
 ताज्ञानत्वेनैव कारणत्वस्यावश्यकत्वात्, तत्र विशिष्टैशिशिष्टज्ञानकल्पने
 गौरवाच्चेति चेन्न, व्याप्यतावच्छेदकाज्ञानेऽपि बहिर्व्याप्यवानिति ज्ञाना-
 दनुमित्युत्पत्तेर्लाघवाच्च व्याप्तिप्रकारकपक्षधर्मताज्ञानत्वेनैव हेतुत्वम् ।
 किंच धूमवान्पर्वत इति ज्ञानादनुमित्यापत्तिः, व्याप्यतावच्छेदकीभूत-
 धूमत्वप्रकारकपक्षधर्मताज्ञानस्य सत्त्वात् । न च तदानीं गृहमाणव्या-
 प्यतावच्छेदकप्रकारकपक्षधर्मताज्ञानस्य हेतुत्वमिति वाच्यं, चंद्रस्य
 व्याप्तिग्रहे मैत्रस्य पक्षधर्मताज्ञानादनुमितिः स्यादिति । यदि तु
 तत्पुरूपीयगृहमाणव्याप्यतावच्छेदकप्रकारकं तत्पुरूपीयपक्षधर्मताज्ञानं

वच्छिन्नं प्रति कारणतावच्छेदकमिति भावः । ननु तदनुमितिं प्रति किम-
 वच्छेदकमत आह किन्त्विति । व्याप्यतेति व्याप्यताया अवच्छेदकः प्रकारो
 परिमन्नेधभूतं यत्पक्षसम्बन्धिनिपयकं ज्ञान तस्य भावस्तेनेत्यर्थः । आवश्य-
 कत्वादिति व्याप्यतावच्छेदकप्रकारकपक्षधर्मताज्ञानत्वस्योभयमतसिद्धनियतपूर्व-
 र्गीतावच्छेदकताकन्यादिन्यर्थः । ननु ज्ञानद्वयस्थलेऽपि विशिष्टज्ञानं कल्प्य-
 तमत आह तत्रेति यत्र ज्ञानद्वयानन्तरमनुमितेरनुभवमिद्वत्त्वं तत्रेत्यर्थः ।
 व्याप्यतावच्छेदकाज्ञानेऽपि व्याप्यतावच्छेदकप्रकारकनिर्णयाभावेऽपीत्यर्थः । बाहि-
 र्व्याप्यत्वान्बह्यभाववदवृत्तिमिति न्यर्थः । ननु व्याप्यतावच्छेदकप्रकारकत्वमप्यस्ये-
 केत्यत आह लाघवाच्चेति व्याप्यतावच्छेदककारेणैव व्याप्तिप्रकारकत्वस्यावच्छेदका-
 घटितत्वेन लघुत्वादिमिति भावः । नन्वनन्वस्यलेषु व्याप्तिप्रकारकपक्षधर्मताज्ञानक-
 ल्पनापेक्षया अवच्छेदकत्वघटितकारणताकल्पनेऽपि न गौरवमत आह किं चेति ।
 गृहमाणोति वर्तमानकालीनज्ञानविषयीभूता या व्याप्यता तादृशव्याप्यताया
 अवच्छेदकः प्रकारो यस्मिन्नेधभूतं यत्पक्षधर्मताज्ञानं तस्येत्यर्थः । तथा च
 धूमो बहिःस्याप्य इति ज्ञानाभावदशाया व्याप्यताया गृहमाणत्वाभावाच्च धूमवान्प-

तत्पुरुषीयानुमितौ हेतुरित्युच्यते, तदाऽनन्तकार्यकारणभावः । मन्त्रे तु समवायसंबन्धेन व्याप्तिप्रकारकपक्षधर्मताज्ञानं समवायसंबन्धेनानुमितौ जनयतीति नानन्तकार्यकारणभावः । यदि तु व्याप्तिप्रकारकज्ञानं पक्षधर्मताज्ञानं च स्वतन्त्रं कारणमित्युच्यते, तदा कार्यकारणभावद्वयं, बहिर्व्याप्यो धूम आलोकवान् पर्वत इति ज्ञानादप्यनुमित्यापत्तिः स्यात् । इत्थं च यत्र ज्ञानद्वयं तथापि विशिष्टज्ञानं कल्पनीयं फलमुखगौरवस्यादोषत्वात् ॥

र्थत इति ज्ञानादप्यनुमित्यापत्तिरितिभावः । अनन्तकार्यकारणभाव इति अनन्तपुरुषप्रतिवेनानन्तत्वादिभिर्भाषः । ननु तथापि मने तत्पुरुषीयव्याप्तिप्रकारकपक्षधर्मताज्ञानं तत्पुरुषीयानुमितौ हेतुरित्यत्र च क्तव्यमप्यर्था देवदत्तव्याप्तिप्रकारकपक्षधर्मताज्ञानाद्यद्गतस्याप्यनुमितिः स्यादिति तुल्यमेवेत्यत आह मम त्विति । नानन्तकार्यकारणभाव इति अत्र च क्तव्येन कार्यतावच्छेदककारणतवच्छेदकसंबन्धप्रदेशेनैव पृथोक्तदोषवरणात् तत्र त पुरुषीयत्वनिवेश इति भावः । स्वतन्त्रमिति व्याप्तिप्रकारकज्ञानत्वेन व्याप्तिप्रकारकं ज्ञानं पक्षधर्मताज्ञानत्वेन पक्षधर्मताज्ञानं च यद्वादादौ दण्डचक्रञ्जीवरादिवदित्यर्थः । तथा च चतस्रस्य व्याप्तिप्रदे मैत्रस्य पक्षधर्मताज्ञानात् मैत्रेऽनुमित्यापत्तिः, स्वतन्त्रेण कारणाभूतस्य व्याप्तिप्रकारकज्ञानस्य मैत्रेऽभावान् । नापि चैत्रे तदापत्तिः, चैत्रेऽनुमितिकरणाभूतस्य पक्षधर्मताज्ञानस्याभावादिति तत्पुरुषीयत्वनिवेशेन नानन्तकार्यकारणभाव इति भावः । कार्यकारणभावद्वयमिति तथा च गौरवमितिभावः । ननु तथापि मने व्याप्तिप्रकारकपक्षधर्मताज्ञानत्वेन पक्षधर्मताव्याप्तिप्रकारकज्ञानत्वेन वा कारणत्वमित्यत्र विनिगमनाभावात्कार्यकारणभावद्वयमेवेत्यत आह बहिर्व्याप्य इति । इत्थं च पृथोक्तपुत्रता व्याप्तिप्रकारकपक्षधर्मताज्ञानत्वेन हेतुत्वे सिद्धे च । विशिष्टज्ञानं व्याप्तिप्रकारकपक्षधर्मताज्ञानमित्यर्थः । ननु ज्ञानद्वयस्थले विशिष्टज्ञानकल्पने कल्पनागौरवं स्यादत आह फलमुखगौरवस्येति फलकार्यकारणभावस्तन्मुक्तं नदर्शानं यद्गौरवं वाप्यद्वेयवदित्यर्थः ।

व्याप्तिः साध्यवदन्यस्मिन्नसम्बन्ध उदाहृतः ॥६८॥

व्याप्तौ नाम व्याप्त्याश्रयः, तत्र का व्याप्तिरित्यत आह व्याप्ति-
रिति । साध्यवदन्येति । वह्निमान् धूमादित्यादौ साध्यो वह्निः साध्य-
वान्महानसादिः तदन्यो जलहृदादि तदवृत्तित्वं धूमस्येति लक्षणसम्-
बन्धः । धूमवान् वह्नेरित्यादौ साध्यवदन्यस्मिन्स्तप्तायःपिण्डादौ वह्नेः
सत्त्वात्तात्त्विक्याप्तिः । अत्र येन संबन्धेन साध्यं तेनैव संबन्धेन साध्य-
वान्वोध्यः । अन्यथा समवायसंबन्धेन वह्निमान्वह्नेरवयवस्तदन्यो महानसा-
दिस्तत्र धूमस्य विद्यमानत्वादव्याप्तिसङ्गात् । साध्यवदन्यश्च साध्यवच्च, व-
च्छिन्नप्रतियोगिताकभेदवन्वोध्यःतेन यत्किञ्चिद्वह्निमतो महानसादेर्भिन्ने
पर्वतादौ धूमस्य सत्त्वेऽपि न क्षतिः।येन संबन्धेन हेतुता तेनैव संबन्धेन

परादर्शिनिरूपणान्तर व्याप्तियानरूपणे उपोद्धान् सङ्गतिं दर्शयति व्याप्त्यो
नामेति मूलेऽसम्बन्धो नाम वृत्तित्वाभावस्तथा च साध्यवदन्यनिरूपितवृत्ति-
त्वाभाव इति मूलेऽन्तं व्याप्तिलक्षण लक्षणे प्रतिपादयति मुक्तावत्या वह्निमान्
धूमादित्यादिना । तदवृत्तित्वं धूमस्येति जलहृदवृत्तित्वं मीनाडा वृत्ति-
त्वाभावो धूमस्येत्यर्थः । अलक्ष्ये लक्षणासरे प्रणिपादयति धूमवान्वह्नेरिति ।
येन सम्बन्धेन साध्यमित्यस्याग्रे अनुमित्या विरधीक्रियत इति पूर्णार्थः ।
बोध्य इति तथा च साध्यतावच्छेदकसम्बन्धेन साध्यवदन्यनिरूपितवृत्तित्वा-
भाव इति लक्षणं बोध्यमित्यर्थः । अन्यथा येन केनचित्सम्बन्धेन
साध्यवच्यविवक्षण इत्यर्थः । साध्यवच्च, वच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदवन्वो-
ध्य इति साध्यतावच्छेदकसम्बन्धेन साध्यवच्यवच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदवन्नि-
रूपितवृत्तित्वाभाव इति लक्षणं बोध्यमित्यर्थः । तेन भेदे साध्यवचा-
वच्छिन्नप्रतियोगिताकविवक्षणेनेत्यर्थः । भिन्ने पर्वतादौ तद्वह्निमान्नेति भेदः
यति पर्वतादवित्यर्थः । न क्षतिः नाव्याप्तिः । साध्यवच्यवच्छिन्नप्रतियो-
गिताकभेदः प्रकृते वह्निमान्नेति प्रतीतिमाप्तिको भेदस्तस्य च पर्वतेऽ-
सत्त्वादिति भावः । तेनैव सम्बन्धेन साध्यवदन्यावृत्तित्वं बोध्यमिति

हेतुतावच्छेदकसंबन्धेन समवायेन वृत्तेरप्रसिद्धत्वादव्याप्तिश्चात आह —
अथवा हेतुमन्निष्ठविरहाप्रतियोगिना ।

साध्येन हेतोरैकाधिकरण्यं व्याप्तिरुच्यते ॥ ६९ ॥

हेतुमति निष्ठा वृत्तिर्यस्य सं तथा विरहोऽभावः, तथा च हेत्व-
धिकरणवृत्तिर्योऽभावः तदप्रतियोगिना साध्येन सह हेतोः सामान्य-
धिकरण्यं व्याप्तिरुच्यते । अत्र यद्यपि वद्विमान् धूमादिस्पादौ हेत्व-
धिकरणपर्वतादिवृत्त्यभावप्रतियोगित्वं तत्तद्द्रव्यादेरस्तत्तदव्याप्तिः । न च
समानाधिकरणवद्विधूमयोरेव व्याप्तिरिति वाच्यं, तत्तद्द्रव्यादेरप्युभया-
भावसत्त्वादेकसत्त्वेऽपि द्वयं नास्तीति प्रतीतिः । गुणवान् द्रव्यत्वादि-
त्यादावव्याप्तिश्च, तथापि प्रतियोगितानवच्छेदकं यत्साध्यतावच्छेदकं
तदवच्छिन्नसामानाधिकरण्यं व्याप्तिरिति वाच्यम् । ननु रूपसव्याप्य-
वृत्तिरिति । तत्तद्द्रव्यादेरिति चालम्बन्यायेन पर्वते महानसीयत्वोपलक्षि-
तवहेस्तद्व्यक्तिरेनाभावो महानसे च पर्वतीयत्वोपलक्षितवहेस्तद्व्यक्तिरेनाभाव
इत्येवं हेतुमन्निष्ठोऽभावस्तत्तद्द्रव्यभावस्तत्तत्प्रतियोगित्वं ब्रह्मं वर्तते इति पर्वते। वद्वि-
मान्धूमदिव्यायनेकव्यक्तिमाय्यन्वेऽव्याप्तिरिति भावः । समानाधि करणवद्विधूमयो-
रेवेति पर्वतीयधूमे पर्वतीयवद्वैर्महानसीयधूमे च महानसीयवद्वैर्व्याप्तिः स्वीक्रियते,
न तु धूमरसवच्छिन्ने वद्वित्वावच्छिन्नस्यैत्यर्थः । तथा च महानसीयत्वोपलक्षित-
वहेस्तद्व्यक्तिरेन पर्वतेऽभावसत्त्वेऽपि न पूर्वोक्ताव्याप्तिः सम्भवति, पर्वते
पर्वतीयवद्वैरभावस्य कथंचिदप्यसत्त्वादिनिभावः । ननु पर्वतीयवद्वैव्यक्तेश्च
सत्त्वे कथं तत्तद्द्रव्यैरप्युभयाभावमन्त्रं प्रतिपाद्यत इत्यत आह एकसत्त्वेऽपीति ।
तथा च पर्वतीयत्वोपलक्षितवद्वैव्यक्तेश्च मत्त्वेऽनुभयाभावस्यापि तत्र
सत्त्वे विशेषाभाव एवेति भावः । ननु वैशिष्ट्यव्यामज्जृतिधर्मनिवाच्छिन्नपानेयो-
गिताकथनानावस्य विशेषणान्नाव्यापित्वा आह गुणवानिति । अव्याप्तिश्चेति
हेतुमति जले जलान्यवृत्तिगुणानां तत्तद्द्रव्यादेरेन, एवं जलवृत्तिगुणानां हेतु-
धिकरणवृत्तिव्यादीं तत्तद्द्रव्यैरेन नोपलक्षितवद्वैरधिकरणवृत्त्यभावप्रतियोगित्वा-

जातिमद्रूपं पृथिवीत्वादित्यादौ साध्यतावच्छेदिका रूपत्वव्याप्यजातय-
 स्तःसां च शुक्लत्वादिजानीनां नीलघटादिवृत्त्यभ्यवप्रतियोगितावच्छे-
 दकत्वमस्तीत्यव्याप्तिरिति चेन्न, तत्र परंपरया रूपत्वव्याप्यजातित्वस्यैव
 साध्यतावच्छेदकत्वात् । नहि तादृशधर्मावच्छिन्नाभावः क्वापि पृथिव्याम-
 स्ति । रूपत्वव्याप्यजातिमात्रास्तीति बुद्ध्यापत्तेः । एवं दण्ड्यादिसाध्ये
 परंपरासंबद्धं दण्डत्वादिकमेव साध्यतावच्छेदकं तत्र मनियोगितानव-
 च्छेदकामिति । साध्यादिभेदेन व्याप्तेर्भेदात्, दृशस्यले साध्यतावच्छेदकता-
 भावात्साध्यस्येतिभावः । इति वाच्यमिति तथा च गुणादिरूपसाध्यस्य
 हेत्वधिकरणवृत्तितशब्दवक्तित्वात्पिच्छकप्रतियोगिताकाभावप्रतियोगित्वेऽपि साध्यता-
 वच्छेदकस्य गुणत्वादेर्न तादृशाभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वमिति न गुणवा-
 न्द्रव्यत्वादिभ्यादव्याप्तिरितिभावः । एवमुभयभावाभ्यापि प्रतियोगितावच्छेदक-
 मुभयत्व साध्यतावच्छेदकं च बद्धिर्न प्रतियोगितानवच्छेदकमेवेति न तदा-
 द्याप्यव्याप्तिरितिदिक् । तथा च हेतुमन्निष्ठाभावप्रतियोगितानवच्छेदकं यस्मा-
 द्यतावच्छेदकं तदवच्छिन्नमाव्यसामानाधिकरण्यं व्याप्तिरिति व्याप्तिरक्षण जातं ।
 तत्र शङ्कते नन्विति नीलघटादिवृत्त्यभ्यवप्रतियोगित्वमिति हेत्वधिकरणाभूते
 नीलघटे शुक्लरूपं नास्ति परंतुरूपं नास्ति, रक्तघटे च नीलरूपं नास्तीत्येवं
 शुक्लाद्यभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वमेव साध्यतावच्छेदकानामित्यव्याप्तिरित्यर्थः ।
 तत्र रूपत्वव्याप्यजातिमत्त्वानियत्र । परम्परया स्वाश्रयसमवायेन तथा च
 शुक्लत्वादीनां हेत्वधिकरणाभूतनीलघटादिवृत्त्यभ्यवप्रतियोगितावच्छेदकत्वेऽपि
 साध्यतावच्छेदकस्य रूपत्वव्याप्यजातित्वस्य तु न तादृशाभावप्रतियोगिताव-
 च्छेदकत्वमिति नाऽप्याप्तिरितिभावः । तादृशधर्मावच्छिन्नाभाव उक्तपरम्परास-
 म्बन्धेन जातित्वावच्छिन्नाभाव इत्यर्थः । बुद्ध्यापत्तेरिति यदि तादृशोऽ-
 भावः पृथिव्यां भेदेत्तदा पृथिव्या रूपत्वव्याप्यजातिमात्रास्तीति प्रतीतिः स्यात्,
 वस्तुतः रूपं नास्तीति बुद्ध्यापत्तिः स्यादित्यत्रैव तात्पर्यमिति बोध्यम् ।
 साध्यादीनादिना साधनादिपरिग्रह । तादृशस्यले विशिष्टसाध्यतावच्छेदकस्यले ।

वच्छेदकं प्रतियोगितावच्छेदकतानवच्छेदकमित्येव लक्षणघटकमित्यपि
 वदन्ति । हेत्वधिकरणं च हेतुतावच्छेदकविशिष्टाधिकरणं वाच्यं, तेन
 द्रव्यं गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्त्वदित्यादौ शुद्धसत्ताधिकरणगुणादिनि-
 ष्टाभावप्रतियोगित्वेऽपि द्रव्यत्वस्य नाव्याप्तिः । एवं हेतुताव-
 च्छेदकसंबन्धेन हेत्वधिकरणं बोध्यम् । तेन समवायेन धूमा-
 धिकरणतद्रव्यवनिष्ठाभावप्रतियोगित्वेऽपि वह्नेर्नाव्याप्तिः । अभावश्च
 प्रतियोगिव्यधिकरणो बोध्यः । तेन कपिसंयोगी एतद्दृष्टक्षणादित्यत्र मूला-
 वच्छेदेनैव एतद्दृष्टक्षणादिकपिसंयोगाभावप्रतियोगित्वेऽपि कपिसंयोगस्य
 नाव्याप्तिः । न च प्रतियोगिव्यधिकरणत्वं यदि प्रतियोग्यनाधिकरण-

लक्षणघटकमिति हेतुवनिष्ठाभावप्रतियोगितावच्छेदकतानवच्छेदकं यस्माद्यता-
 वच्छेदकतावच्छेदक तद्विशिष्टावच्छिन्नमाध्यसामानाधिकरण्यमेव विशिष्टसाध्यता-
 वच्छेदकसंबन्धे व्याप्तिर्बन्धेतिभावः । पूर्वोक्तरीत्याैव निर्वाहे तत्रैतादृशव्याप्ति-
 ज्ञानस्य कारणत्वं नोचितं कारणतावच्छेदकार्वाहिट्त्वस्वरसः वदन्तीत्यनेन
 सूचितो बोध्यः । हेतुतावच्छेदकविशिष्टाधिकरणमिति हेतुताव-
 च्छेदकावच्छिन्नहेत्वधिकरणवृत्त्यभावप्रतियोगितानवच्छेदकं यस्माद्यतावच्छेदकं
 तदवच्छिन्नसाध्यसामानाधिकरण्यं व्याप्तिरित्येवं लक्षणं कर्तव्यमित्यर्थः ।
 तेन हेतुतावच्छेदकावच्छिन्नहेत्वधिकरणविवक्षणेन । शुद्धसत्ताधिकरणेत्यादि
 हेतोरिगुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्त्वस्य विशिष्टं शुद्धात्तातिरिच्यत इतिन्यायेन सत्ततोऽ-
 नतिरिक्तत्वादितिभावः नाव्याप्तिरिति हेतुतावच्छेदकविशिष्टस्य विशिष्टसत्त्वस्या-
 धिकरणं न गुणादिकं, गुणादौ विशिष्टसत्त्व नाम्नीति प्रतीत्यनापत्तेः, किंतु द्रव्य-
 मेव, तद्द्रव्यभावप्रतियोगित्वं न द्रव्यस्येति नाव्याप्तिरित्यर्थः । हेतुतावच्छे-
 दकसम्बन्धेनेति हेतुतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नहेतुतावच्छेदकावच्छिन्नहेत्वधिक-
 कारणवृत्त्यभावप्रतियोगितानवच्छेदकं यस्माद्यतावच्छेदकं तदवच्छिन्नसाध्यसामा-
 नाधिकरण्यं व्याप्तिरित्येवं लक्षणं बोध्यमित्यर्थः । कपिसंयोगस्य नाव्याप्ति-
 रिति मूलावच्छेदेन कपिसंयोगाभासस्य प्रतियोगिव्यधिकरणत्वाभावादितिभावः ।

वृत्तित्वं तदा तथैवाव्याप्तिः । प्रतियोगिनः कपिसंयोगस्यानधिकरणे गुणादौ वर्तमानो योऽभावस्तस्यैव वृक्षेऽपि मूलावच्छेदेन सच्चात् । यदि तु प्रतियोग्याधिकरणावृत्तित्वं तदा संयोगी सत्त्वादित्यादावतिव्याप्तिः । सत्ताधिकरणे गुणादौ यः संयोगाभावस्तस्य प्रतियोग्याधिकरणद्रव्यवृत्तित्वादिति वाच्यम्, हेत्वधिकरणे प्रतियोग्यनाधिकरणवृत्तित्वविशिष्टस्य विवक्षितत्वात्, स्वप्रतियोग्यनाधिकरणीभूतहेत्वधिकरणवृत्त्यभाव इति निष्कर्षः । प्रतियोग्यनाधिकरणत्वं प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नानाधिकरणत्वं वाच्यम् । तेन विशिष्टसत्तावान् जातेरित्यादौ जात्यधिकरणगुणादौ विशिष्टसत्ताभावप्रतियोगिसत्ताधिकरणत्वेऽपि न

प्रतियोगिव्यधिकरणपदस्य प्रतियोग्यनाधिकरणवृत्तित्वमर्थः प्रतियोग्याधिकरणावृत्तित्वं वेति विकल्प्याय दूषणमाह—तथैवेति यथा प्रतियोगिव्यधिकरणपदानेऽव्याप्तिस्तथा तद्दानेऽपीत्यर्थः तस्यैवेति अधिकरणभेदेनाभावभेदस्यानभ्युपगमादिति भावः । द्वितीये दूषणमाह यदि त्विति प्रतियोग्याधिकरणावृत्तित्वं प्रतियोग्यधिकरणवृत्तिभेदत्वं प्रतियोग्यधिकरणद्रव्यवृत्तित्वादिति प्रतियोग्यधिकरणद्रव्यवृत्तित्वेन संयोगाभावस्य लक्षणघटकत्वं न सम्भवतीति न संयोगाभावे हेत्वधिकरणे धर्तुं शक्यते, किं तु घटाद्यभावस्तत्प्रतियोगित्वं च घटादेरप्रतियोगित्वं च संयोगस्यैव संयोगी सत्त्वादित्यादावतिव्याप्तिरिति भावः । इति निष्कर्ष इति स्वप्रतियोग्यनाधिकरणहेतुतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नहेतुतावच्छेदकावच्छिन्ने हेत्वधिकरणवृत्त्यभावप्रतियोगितानवच्छेदकं यत्साध्यसावच्छेदकं तदवच्छिन्नसाध्यसामानाधिकरण्यं व्याप्तिरिति व्याप्तिलक्षणानिष्कर्ष इत्यर्थः । सत्ताधिकरणत्वेऽपीति तथा च विशिष्टसत्ताभावो न प्रतियोगिव्यधिकरण इति नासौ धर्तुं शक्यते, किंत्वग्याभास एव, तस्य च तत्प्रतियोगितानवच्छेदकमेव विशिष्टसत्तात्वमित्यतिव्याप्तिः । प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोग्यनाधिकरणत्वविवक्षणे तु विशिष्टसत्ताभावस्यापि लक्षणघटकत्वसम्भवात् क्षतिर्नास्तिव्याप्तिः । एवमप्येऽपि न क्षतिरित्यस्य नास्ति-

क्षतिः। एवं साध्यतावच्छेदकसंबन्धेन प्रतियोग्यनधिकरणत्वं बोध्यम्। तेन ज्ञानवान् द्रव्यत्वादित्यादौ द्रव्यत्वाधिकरणग्रन्थे विषयतासंबन्धेन ज्ञानाधिकरणत्वेऽपि न क्षतिः। इत्थं च बह्निमान् धूमादित्यादौ धूमाधिकरणे समवायेन बह्निविरहसत्त्वेऽपि न क्षतिः। ननु प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नस्य यस्य कस्यचित्प्रतियोगिनोऽनधिकरणत्वं तत्सामान्यस्य वा यत्किञ्चित्प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नानाधिकरणत्वं वा विनाक्षितम्। आद्ये कपिसंयोगी एतद्द्रव्यत्वादित्यादौ तथैवाव्याप्तिः कपिसंयोगाभावस्य

व्याप्तिरित्यर्थो बोध्यः। ननुप्रतिष्ठितेनलाघवात्प्रतियोगितावच्छेदकसम्बन्धेन प्रतिशोन्यनधिकरणवमंत्रोपयता तावत्तत्र ज्ञानवान्सत्त्वादिन्यादावतिव्याप्तिवारणसम्भवादित्यत आह इत्थं चेति साध्यतावच्छेदकसम्बन्धेन प्रतियोग्यनधिकरणविवक्षणे चेत्यर्थः। बह्निविरहसत्त्वेऽपीति तथा च प्रतियोगितावच्छेदकसम्बन्धेन प्रतियोग्यनधिकरणत्वविवक्षणे समवायेन बह्व्यभावस्यापि लक्षणघटकत्वेन धर्तुं शक्यत्वाद्बह्निमान्धूमादित्यत्राव्याप्तिः स्यात्। साध्यतावच्छेदकसम्बन्धेन प्रतियोग्यनधिकरणत्वविवक्षणे तु न समवायेन बह्व्यभावो धर्तुं शक्यते तस्य साध्यतावच्छेदकसम्बन्धेन संयोगेन प्रतियोगिसमानाधिकरणत्वादिति नाव्याप्तिरिति भावः। तथा च साध्यतावच्छेदकसम्बन्धेन प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोग्यनधिकरणहेतुतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नहेतुतावच्छेदकावच्छिन्नहेतवधिकरणवृत्त्यभावप्रतियोगितानवच्छेदकं यत्साध्यतावच्छेदकं तदवच्छिन्नसाध्यसामानाधिकरण्यं व्याप्तिरिति व्याप्तिलक्षणं जातं। तत्र शङ्कते नन्विति यत्किञ्चित्प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नानाधिकरणत्वमिति अत्र यत्किञ्चित्पदं प्रतियोगितावच्छेदकेत्यनेनान्वयी तथा च यत्किञ्चित्प्रतियोगितावच्छेदकं तदवच्छिन्नस्य आनधिकरणत्वमित्यर्थः। आद्ये प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नस्य यस्य कस्यचित्प्रतियोगिनोऽनधिकरणत्वविवक्षण इत्यर्थः। सत्येवेति हेतवधिकरणे प्रतियोग्यनधिकरणत्वविवक्षणेऽपि न निस्तार इति भावः। तदेव स्पष्टयति—कपिसंयोगाभावेत्यादिना। तदनधिकरणं वृष्ट

प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नो वृक्षावृत्तिकपिसंयोगोऽपि भवति तदनाधिकरणं वृक्ष इति । द्वितीये तु प्रतियोगिव्यधिकरणाभावाप्रसिद्धिः सर्वस्यैवाभावस्य पूर्वक्षणवृत्तित्वविशिष्टस्वाभावात्मकप्रतियोगिसमानाधिकरणत्वात् । न च बद्धिमान् धूमादित्पादौ घटाभावादेः पूर्वक्षणवृत्तित्वविशिष्टस्वाभावात्मकप्रतियोग्यधिकरणत्वं यद्यपि पर्वतादेस्तथापि साध्यतावच्छेदकसंबन्धेन तत्प्रतियोग्यनधिकरणत्वमस्त्येवेति कथं प्रतियोगिव्यधिकरणाभावाप्रसिद्धिरितिवाच्यम्, घटाभावे यो बद्धयभाबस्तस्य घटाभावात्मकतया घटाभावस्य बद्धिरपि प्रतियोगी तदधिकरणं

इति तथा च कपिसंयोगाभावस्यापि लक्षणघटकत्वेन वृक्षे मूलावच्छेदेन घटुं शक्यत्वात्तत्प्रतियोगितावच्छेदकमेव साध्यतावच्छेदक कपिसंयोगत्वमित्यव्याप्तिस्तदवस्थेतिभावः । द्वितीये प्रतियोगितावच्छेदकत्वच्छिन्नसामान्यस्यानाधिकरणत्वाविवक्षणा इत्यर्थः । पूर्वक्षणवृत्तित्वविशिष्टेति पूर्वक्षणवृत्तित्वविशिष्टस्य स्वस्य घटाभावादेर्योऽभावस्तदात्मकप्रतियोगिसमानाधिकरणत्वादित्यर्थः । अथमाशयः पूर्वक्षणवृत्तित्वविशिष्टघटाभावाभावाभावो घटाभावस्वरूप एव प्रथमाभावसमनियतत्वेन तृतीयाभावस्य प्रथमाभावस्वरूपत्वान् । तथा च घटाभावस्य घट इव पूर्वक्षणवृत्तित्वविशिष्ट घटाभावाभावोऽपि प्रतियोगी, तस्य च घटाभावाधिकरणेऽप्युक्तक्षणावच्छेदेन सत्त्वात्प्रतियोगिव्यधिकरणेभावाप्रसिद्धिरिति, तथा च व्याप्तिलक्षणासम्भव इति भावः । न चान्यन्ताभावाभावस्य प्रथमाभावप्रतियोगीस्वरूपत्वेन पूर्वक्षणवृत्तित्वविशिष्टघटाभावाभावोऽपि घटत्वरूप एवेति वाच्यं, यतो न सर्वैवात्यन्ताभावाभावः प्रथमाभावप्रतियोगित्वरूप एव, किंतु यत्र प्रथमाभावप्रतियोगिसमनियतत्वं । प्रवृत्ते तु पूर्वक्षणवृत्तित्वविशिष्टघटाभावाभावस्य पूर्वक्षणं मित्राय घटाभावाधिकरणादी सर्वत्रापि विद्यमानत्वेन समनियतत्वाभावात् तस्य घटस्वरूपत्वमित्यन्यत्र विस्तरः । घटाभावात्मकतयेति अग्न्याधिकरणकाभावात् तदावनेनाधिकरणानिरिक्तत्वादिति भावः । ननु घटाभावबद्धयभावादेरपि बद्धिमनि घटन्यदेशे बहिरास्ति,

क्षतिः। एवं साध्यतावच्छेदकसम्बन्धेन प्रतियोग्यनधिकरणत्वं बोध्यम्। तेन
 ज्ञानवान् द्रव्यत्वादित्यादौ द्रव्यत्वाधिकरणघटादेर्विषयतासम्बन्धेन ज्ञा-
 नाधिकरणत्वेऽपि न क्षतिः। इत्थं च वह्निमान् धूमादित्यादौ धूमाधि-
 करणे समवायेन वह्निविरहसत्त्वेऽपि न क्षतिः। ननु प्रतियोगितावच्छे-
 दकावच्छिन्नस्य यस्य कस्यचित्प्रतियोगिनोऽनधिकरणत्वं तत्सामान्यस्य
 वा यत्किञ्चित्प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नानाधिकरणत्वं वा विवक्षितम्।
 आद्ये कपिसंयोगी एतद्वृक्षत्वादित्यादौ तथैवाव्याप्तिः कपिसंयोगाभावस्य

व्याप्तिरित्यर्थो बोध्यः। ननुपस्थितिकृतत्वग्रहणप्रतियोगितावच्छेदकसम्बन्धेन
 प्रतियोग्यनधिकरण समबोध्यता तावदेव ज्ञानवान्सखादित्यादावभिव्यक्तिवारणसम्भ-
 वादित्यत आह इत्थं चेति साम्यतावच्छेदकसम्बन्धेन प्रतियोग्यनधिकरणवि-
 वक्षणे चेत्यर्थः। वह्निविरहसत्त्वेऽपीति तथा च प्रतियोगितावच्छेदकसम्ब-
 न्धेन प्रतियोग्यनधिकरणत्वविवक्षणे समवायेन वह्नयभावस्यापि लक्षणघटकत्वेन
 धर्तुं शक्यत्वाद्वाह्निमान्धूमादित्यत्राव्याप्तिः स्यात्। साध्यतावच्छेदकसम्बन्धेन
 प्रतियोग्यनधिकरणत्वविवक्षणे तु न समवायेन वह्नयभावो धर्तुं शक्यते
 तस्य साध्यतावच्छेदकसम्बन्धेन संयोगेन प्रतियोगिसमानाधिकरणत्वादिति
 नाध्याप्तिरितिभावः। तथा च साध्यतावच्छेदकसम्बन्धेन प्रतियोगितावच्छे-
 दकावच्छिन्नप्रतियोग्यनधिकरणहेतुतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नहेतुतावच्छेदकावच्छि-
 न्नेत्वधिकरणवृत्त्यभावप्रतियोगितानवच्छेदकं यन्साध्यतावच्छेदकं तदवच्छिन्न
 साध्यसामानाधिकरण्यं व्याप्तिरिति व्याप्तिरक्षणं जातं। तत्र शङ्कते
 नन्विति यत्किञ्चित्प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नानाधिकरणत्वमिति अत्र
 यत्किञ्चित्पदं प्रतियोगितावच्छेदकेत्येनेनान्यथी तथा च यत्किञ्चित्प्रति-
 योगितावच्छेदकं तदवच्छिन्नस्य ज्ञानधिकरणत्वमित्यर्थः। आद्ये प्रतियोगिता-
 वच्छेदकावच्छिन्नस्य यस्य कस्यचित्प्रतियोगिनोऽनधिकरणत्वविवक्षण इत्यर्थः।
 तथैवेति हेत्वधिकरणे प्रतियोग्यनधिकरणत्वविवक्षणेऽपि न निस्तार इति
 भावः। तदेव स्पष्टयति—कपिसंयोगाभावेत्यादिना। तदनधिकरणं वृक्ष

प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नो वृक्षावृत्तिकपिसंयोगोऽपि भवति तदधि-
करणं वृक्ष इति । द्वितीये तु प्रतियोगिव्यधिकरणाभावाप्रसिद्धिः सर्वस्यै-
वाभावस्य पूर्वक्षणवृत्तित्वविशिष्टस्वाभावात्मकप्रतियोगिसमानाधिकरण-
त्वात् । न च वह्निमान् धूमादित्यादौ घटाभावादेः पूर्वक्षणवृत्तित्व-
विशिष्टस्वाभावात्मकप्रतियोग्यधिकरणत्वं यद्यपि पर्वतादेस्तथापि सा-
ध्यतावच्छेदकसंबन्धेन तत्प्रतियोग्यनधिकरणत्वमस्त्येवेति कथं प्रति-
योगिव्यधिकरणाभावाप्रसिद्धिरिति वाच्यम्, घटाभावे यो वह्न्यभार-
स्तस्य घटाभावात्मकतया घटाभावस्य वह्निरपि प्रतियोगी तदधिकरणं

इति तथा च कपिसंयोगाभावस्यापि लक्षणवृत्तत्वेन वृक्षे मूलावच्छेदेन
घट्टुं शक्यत्वात्तत्प्रतियोगितावच्छेदकमेव साध्यतावच्छेदक कपिसंयोगत्वमित्यं-
व्याप्तिस्तदवस्थेति भावः । द्वितीये प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नतामान्यस्यान-
धिकरणत्वाविरक्षण इत्यर्थः । पूर्वक्षणवृत्तित्वविशिष्टेति पूर्वक्षणवृत्तित्वविशि-
ष्टस्य स्वस्य घटाभावादेर्योऽभावस्तदात्मकप्रतियोगिसमानाधिकरणत्वादेत्यर्थः ।
अयमाशयः पूर्वक्षणवृत्तित्वविशिष्टघटाभावाभावाभावो घटाभावस्वरूप एव प्रथमा-
भावसमनियतत्वेन तृतीयाभावस्य प्रथमाभावस्वरूपत्वान् । तथा च घटा-
भावस्य घट इव पूर्वक्षणवृत्तित्वविशिष्ट घटाभावाभावोऽपि प्रतियोगी, तस्य
च घटाभावाधिकरणेऽप्युक्तक्षणावच्छेदेन सर्वत्रप्रतियोगिव्यधिकरणाभावाप्र-
सिद्धिरिति, तथा च व्याप्तिलक्षणस्यासम्भवं इति भावः । न चत्यन्ताभावा-
भावस्य प्रथमाभावप्रतियोगीस्वरूपत्वेन पूर्वक्षणवृत्तित्वविशिष्टघटाभावाभावोऽपि
घटस्वरूप एवेति वाच्यं, यतो न सर्वत्रैवात्यन्ताभावाभावः प्रथमाभावप्रति-
योगीस्वरूप एव, किंतु यत्र प्रथमाभावप्रतियोगिसमनियतसंबन्धेन । प्रवृत्ते
तु पूर्वक्षणवृत्तित्वविशिष्टघटाभावाभावस्य पूर्वक्षणे विहाय घटाभावाधिकरणादौ
सर्वत्रापि विद्यमानत्वेन समनियतत्वमात्रान्न तस्य घटस्वरूपत्वमित्यन्वय-
विस्तरः ।
घटाभावात्मकतयेति अभावाधिकरणकभावस्य लाघवेनाधिकरणानतिरिक्तत्वा-
दिति भावः । ननु घटाभाववद्भवभावयोरेक्ये वह्निनि घटशून्यदेशे वह्निर्नास्ति,

च, पर्वतादिरित्येवं क्रमेण प्रतियोगिव्यधिकरणस्याप्रसिद्धत्वात् । यदि च घटाभावाद् वैद्व्यभावादिभिन्न इत्युच्यते तथापि धूमाभाववान् वैद्व्यभावादित्यादावव्याप्तिः । तत्र साध्यतावच्छेदकसंबन्धः स्वरूपसंबन्धः, तेन संबन्धेन सर्वस्यैवाभावस्य पूर्वक्षणवृत्तित्वविविष्टस्वाभावात्मकप्रतियोग्याधिकरणत्वं हेत्वधिकरणस्येति । तृतीये तु कपिसंयोगाभाववान् आत्मत्वादित्यादावव्याप्तिः । तत्रात्मवृत्तिकापिसंयोगाभावाभावः कपिसंयोगस्तस्य च गुणत्वात्प्रतियोगितावच्छेदकं गुणसामान्याभावत्वमपि तदवच्छिन्नानधिकरणत्वं हेत्वधिकरणस्यात्मन इति । मैवम् । यादृशप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नानधिकरणत्वं हेतुमतस्तादृशप्रतियोगितानवच्छेदकत्वस्य विवक्षितत्वात् । ननु कालो घटवान् कालपरिमाणादित्यत्र प्रतियोगिव्यधिकरणाभावाप्रसिद्धिः, हेत्वधिकरणस्य महाकालस्य जगदाधारतया सर्वेषामभावानां साध्यतावच्छेदकसंबन्धेन कालिकविशेषणतया प्रतियोग्याधिकरणत्वात् । अत्र केचित् । महाकाल-

एवं घटवति वह्निशून्यदेशे च घटो नास्तीति प्रतीतिः स्यादित्यत आह—
भिन्न इत्युच्यते इति । पूर्वक्षणवृत्तित्वविशिष्टस्वाभावेति पूर्वक्षणवृत्तित्व-
विशिष्टं यत्स्वं घटाभावादि तदभावात्मकेत्यर्थः । तथा चाभावसाध्यकस्थलेऽ-
व्याप्तिरिति भावः । तृतीये यद्विकचित्प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगि-
व्यधिकरणत्वविवक्षणे । सांप्रदायिकमते द्रव्ये संयोगसामान्याभावस्यानङ्गी-
कारात्—कपीति तस्य कपिसंयोगाभावाभावस्य तत्प्रतियोगिताव-
च्छेदकं कपिसंयोगाभावाभावप्रतियोगितावच्छेदकमित्यर्थः । तदवच्छि-
न्नानधिकरणत्वं गुणसामान्याभावत्वावच्छिन्नानधिकरणमित्यर्थः । यादृशेति
यादृश्याः प्रतियोगिताया अवच्छेदकावच्छिन्नानधिकरणत्वं हेतुमतस्तादृशप्रतियोगि-
ताया अनवच्छेदकत्वस्य विवक्षितत्वाद्प्रतियोगिपदेन विवक्षितत्वादित्यर्थः ।
तथा च कपिसंयोगाभाववानाम्त्वादित्यादां गुणसामान्याभावत्वावच्छिन्नप्रतियो-
गितया एव यादृशप्रतियोगितापदेनोपादातुं शक्यतया तदनवच्छेदकत्वस्य

भेदविशिष्टघटाभावस्तत्र प्रतियोगिव्याधिकरणो महाकालस्य घटाधारत्वे ऽपि महाकालभेदविशिष्टघटानाधारत्वात् । महाकाले महाकालभेदाभावात् । वस्तुतस्तु प्रतियोगितावच्छेदकसंबन्धेन प्रतियोग्यनधिकरणीभूतहेत्वधिकरणदृश्यभाववर्तीतयेगितासामान्ये यत्संबंधावच्छिन्नत्वयद्गर्भावच्छिन्नत्वोभयाभावम्नेन संबन्धेन तद्गर्भावच्छिन्नस्य तद्हेतुव्यापकत्वं बोध्यम् । व्यापकसामानाधिकरण्यं च व्याप्तिः । इत्थं च कालो घटवान् कालपरिमाणादित्यादौ संयोगसंबन्धेन यो घटाभावस्तत्प्रतियोगिनो घटस्यानाधिकरणे हेत्वाधिकरणे महाकाले वर्तमानः स एव संयोगेन घटाभावस्तस्य प्रतियोगितायां कालिकसंबन्धावच्छिन्नत्वघटव्यावच्छिन्नत्वोभयाभावसत्त्वान्नाव्याप्तिः । धूमवान् वहेः, इत्यादावतिव्याप्तिवारणाय सामान्यपदमुपात्तम् । ननु प्रमेयवह्निमान् धूमादित्यादौ प्रमेयवह्नित्वावच्छिन्नत्वमप्रसिद्धं गुरुधर्मस्यानवच्छेदकत्वादिति चेन्न, कम्बुग्रीवादिमाम्नास्तीति प्रतीत्या कम्बुग्रीवादिमत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताविषयीकरणेन गुरुधर्मस्याप्यवच्छेदकत्वस्वीकारादिति संक्षेपः ॥६९॥

कपिसंयोगाभाववे सत्त्वान्नाव्याप्तिरितिभाव । ननु विशेषणतासंबन्धेन महाकाले महाकालभेदासत्त्वेऽपि कालिकसंबन्धेन तत्र महाकालभेदाविशिष्टघटसत्त्वे बाधकाभाव इत्यत आह वस्तुतस्त्विति । पर्वतो वह्निमान्धूमादिन्यत्र प्रतियोगितावच्छेदकसंबन्धेन संयोगेन प्रतियोगिनो घटादेरनाधिकरणं यद्वेत्वधिकरणं पर्वतादिः तद्दृश्यभावप्रतियोगिताया संयोगसम्बन्धावच्छिन्नत्ववह्नित्वावच्छिन्नत्वोभयाभावम्नेन संबन्धेन नाम संयोगसंबन्धेन तद्गर्भावच्छिन्नस्य नाम वह्निवावच्छिन्नस्य तद्हेतुव्यापकत्वं नाम धूमव्यापकत्व । व्यापकसामानाधिकरण्यं च व्याप्तिरितिभाव । कालो घटव्याकालपरिमाणादित्यत्रावच्छिन्नवत्येति इत्थं चेत्यादिना । संक्षेप इति यदि च कम्बुग्रीवादिमत्प्रतियोगिताकाभाव एव कम्बुग्रीवादिमाम्नास्तीति प्रतीतेर्विषयो न तु कम्बुग्रीवादिमत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगितास्त्वमपीदृश्यते तदा यदि क्वचिद्घटव्यापि भूतव्यदा कम्बुग्रीवादिमाम्नास्तीति प्रतीतिः स्यादित्यादिकं मनसि निधायाह—संक्षेप इति ६९

पक्षवृत्तित्वमित्यत्र पक्षत्वं किं तदाह ।

सिपाधयिपया शून्या सिद्धिर्यत्र न विद्यते ।

स पक्षस्तत्र वृत्तित्वज्ञानादनुमितिर्भवेत् ॥ ७० ॥

सिपाधयिपाविरहविशिष्टसिद्धयभावः पक्षता तद्वान्पक्ष इत्यर्थः । सिपाधयिपामात्रं न पक्षता विनापि सिपाधयिपां घनगर्जितेन मेघानुमानात् । अत एव साध्यसंदेहोऽपि न पक्षता विनापि संदेहं तदनुमानात् । सिद्धौ सत्यामपि सिपाधयिपासत्त्वेऽनुमितिर्भवत्येव । अतः सिपाधयिपाविरहविशिष्टत्वं सिद्धौ विशेषणम् । तथा च यत्र सिद्धिर्नास्ति तत्र सिपाधयिपायां सत्यामसत्यामपि पक्षता । यत्र च सिपाधयिपाऽस्ति तत्र सिद्धौ सत्यामसत्यामपि पक्षता । यत्र सिद्धिरस्ति सिपाधयिपा च नास्ति तत्र न पक्षता, सिपाधयिपाविरह-

पक्षतानिरूपणे सङ्गतिं दर्शयति पक्षवृत्तित्वमित्यत्रेति तथा चोपोद्घातमङ्गत्या पक्षतानिरूपणमितिभावः । मूलाक्तं पक्षतालक्षणं स्पष्टयति सिपाधयिपयेति सिपाधयिपा नामानुमिस्ता, तस्या विरहोऽभावस्तद्विशिष्टायाः सिद्धेः साध्यनिश्चयस्याभावः पक्षतेत्यर्थः । पक्षतालक्षणे सिद्धयभावपदप्रवेशस्य प्रयोजनं दर्शयति सिपाधयिपामात्रमित्यादिना मेघानुमानान्मेघानुमितरित्यर्थः । तथा च सिपाधयिपामात्रस्य पक्षतात्वे घनगर्जितेन मेघानुमितस्थलेऽव्याप्तिः स्यादितिभावः । अत एव वक्ष्यमाणद्रूपणादेव तदनुमानात् मेघानुमानात् । सिपाधयिपाविरहरूपविशेषणस्य प्रयोजनमाह सिद्धौ सत्यामिति । अत इति तत्र पक्षतासिद्धयर्थमित्यर्थः । तत्र सिपाधयिपायां सत्यामसत्यामपीति, मन्वानुभयाभावप्रायुक्तविशिष्टाभावस्यासत्यां च विशेष्याभावप्रायुक्तस्योक्तविशिष्टाभावस्य सत्त्वादितिभावः । सिद्धौ सत्यामसत्यां चेति सत्यां विशेषणाभावप्रायुक्तस्यासत्यां त्रुभयाभावप्रायुक्तस्य विशिष्टाभावस्य सत्त्वादितिभावः । अनुमितिकारणीभूतपरामर्शस्य सत्त्वे सिद्धिरूपप्रातिबन्धकसत्त्वे च दद्यनुमिस्ता वर्तेत तदा तस्य उच्येजकत्वं वक्तव्यं, तदेव न सम्भवतीत्या-

विशिष्टसिद्धेः सत्त्वात् । ननु यत्र परामर्शानन्तरं सिद्धिस्ततः सिपा-
धयिषा तत्रासिपाधयिषाकाले परामर्शनाशानुमितेः यत्र सि-
द्धिपरामर्शासिपाधयिषाः क्रमेण भवन्ति तत्र सिपाधयिषाकाले सिद्धे-
र्नाशात्प्रतिबन्धकाभावेवानुमितिः । यत्र सिपाधयिषासिद्धिपरामर्शाः
सन्ति तत्र परामर्शकाले सिपाधयिषैव नास्ति । एवमन्यत्रापि सिद्धि-
काले परामर्शकाले च न सिपाधयिषा, योग्यविभुविशेषगुणानां
यौगपद्यनिषेधात्, तत्कथं सिपाधयिषाविरहविशिष्टत्वं सिद्धेर्विशेषण-
मिति चेन्न, यत्र बद्धिव्याप्यधूमवान् पर्वतो बद्धिमानिति प्रत्यक्षं स्मरणं
वा, ततः सिपाधयिषा तत्र पक्षतासंपत्तये तद्विशेषणस्यावश्यकत्वात् ।
अत्रेदं बोध्यम् । यादृशयादृशसिपाधयिषासत्त्वे सिद्धिसत्त्वे यद्विद्वत्कानुमि-
तिस्तादृशतादृशसिपाधयिषाविरहविशिष्टसिद्धयभावस्ताद्विद्वत्कानुमितौ

शङ्कते ननु यत्रेति क्रमेणाव्यवधानेन । एवमन्यत्रापि यत्र परामर्श-
सिपाधयिषामिद्वयः, एवं सिद्धिसिपाधयिषापरामर्शः । एव सिपाधयिषापरामर्श-
सिद्धयश्चेत्यर्थः । ननु सिद्धिकाले परामर्शकाले वा यत्रानुमिन्मा तत्र पक्षता-
संपादनार्थवानुमित्ताविरहविशिष्टत्व सिद्धौ विशेषणमत आह—सिद्धिकाले
परामर्शकाले चेति सिद्धिक्षणे परामर्शक्षणे च नानुमित्तेत्यर्थः । उभयत्रैव
हेतुं दर्शयति योग्यविभुविशेषगुणानां यौगपद्यनिषेधादिति । तत्कथमिति
प्रयोजनाभावात् देयमितिभावः । तद्विशेषणस्य सिपाधयिषाविरहविशिष्टत्वस्य-
विशेषणस्य । यादृशयादृशेति घटानुमितिर्जायतामितीच्छन्त वेऽपि पर्वतो बद्धिमा-
निति सिद्धयस्तदेव बद्धिमानित्यनुमित्युत्पत्तेः पर्वतो बद्धिमानिति सिद्धिम-
त्वेऽपि घटानुमितिर्जायतामितीच्छन्त्याहपर्वतो बद्धिमानित्यनुमित्यापत्तिरत उक्तं
सिद्धिसत्त्व इति । यद्विद्वत्कानुमितिरित्यस्याप्रेऽनुभवसिद्धेति पूर्णायम् । तथा
च यादृशयादृशसिपाधयिषासत्त्वे सिद्धिसत्त्वे च यद्विद्वत्कानुमितिर्जायतामितीच्छन्त्याह
तादृशतादृशेच्छव्यक्तीनां तत्तद्व्यक्तित्वेन तद्विद्वत्कानुमित्यावृत्तेजकत्वमितिभावः

पक्षता । तेन सिद्धिपरामर्शसत्त्वेऽपि यत्किञ्चिज्ज्ञानं मे जायतामिति च्छाया-
मपि नानुमितिः । वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतो वह्निमानिति प्रत्यक्षसत्त्वे प्रत्य-
क्षातिरिक्तं वह्निज्ञानं जायतामितीच्छायां तु भवत्येव । एवं धूमपरा-
मर्शसत्त्वे आलोकेन वह्निमनुमिनुयामितीच्छायामपि नानुमितिः । सिपा-
घयिपाविरहकाले यादृशसिद्धिसत्त्वे नानुमितिस्तादृशी सिद्धिर्विशि-
ष्यैव तत्तदनुमितौ प्रतिबन्धिका वक्तव्या । तेन पर्वतस्तेजस्वी
पाषाणमयो वह्निमानिति ज्ञानसत्त्वेऽप्यनुमितेर्न विरोधः । परंतु
पक्षतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन साध्यसिद्धावपि तद्वच्छेदेनानु-

। तेनेति । तत्तदिच्छेदवर्तमानां तत्तद्व्यक्तिस्त्वेनेत्तेजकस्त्वेनेत्यर्थः । नानुमिति-
रिति नानुमित्यापत्तिरित्यर्थः । यत्किञ्चिज्ज्ञानं जायतामितीच्छायास्तद्व्यक्तिस्त्वे-
नेत्तेजकत्वानभ्युपगमादितिभावः । ननु तत्तद्व्यक्तिस्त्वेनेत्तेजकत्वकल्पनापेक्षया
छायावदानुमितित्वप्रकारकेच्छेदस्त्वेनानुगतरूपेणैवेत्तेजकत्वं वक्तव्यमित्यत आह
वह्निव्याप्येति । प्रत्यक्षसत्त्वं इत्यस्याग्रे शाब्दसामग्र्यभावे चेति पूरणीयम्
शाब्दसामग्रीसत्त्वे तु शाब्दबोधेनैव प्रत्यक्षातिरिक्तं ज्ञानं जायतामितीच्छायाविषय-
सिद्धिसम्भवात् भवत्येवमनुमितिशित्तेशेषः । तथा चानुमितित्वप्रकारकेच्छा-
स्त्वेनेत्तेजकत्वे तत्रानुमितिर्न स्यात्प्रत्यक्षातिरिक्तं ज्ञानं जायतामितीच्छाया अनु-
मितित्वप्रकारकत्वाभावादितिभावः । तद्विद्वत्स्वप्रवेशस्य फलमाह एव-
मित्यादिना धूमपरामर्शसत्त्वे वह्निव्याप्यधूमवान्पर्वतो वह्निमानिति परामर्शसत्त्व
इत्यर्थः । नानुमितिरिति इच्छायास्तत्तद्व्यक्तिस्त्वेनेत्तेजकतया धूमपरामर्शकाली-
नाया आलोकेन वह्निमनुमिनुयामितीच्छायास्त्वेनेत्तेजकत्वादितिभावः । विशि-
ष्यैवेति पर्वतश्चावच्छिन्नोद्दिश्यतामिरूपितवह्नित्वावच्छिन्नविधेयताशास्त्रानुमितित्वा-
वच्छिन्नं प्रति पर्वतश्चावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितवह्नित्वावच्छिन्नप्रकारताशास्त्रनि-
श्चयत्वेन प्रतिबन्धकता वक्तव्येत्यर्थः । तत्प्रयोजनमाह-तेनेति । अनुमिते-
पर्वतो वह्निमानित्यनुमितेरित्यर्थः । न विरोध इति पर्वतस्तेजस्वीत्यादि सिद्धे-
पर्वतत्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितवह्नित्वावच्छिन्नप्रकारताशास्त्रिवाभावादितिभावः ।

मितेर्दर्शनात्पक्षतावच्छेदकावच्छेदेनानुमितिं प्रति पक्षतावच्छेदकावच्छे-
देन साध्यासिद्धिरेव प्रतिबन्धिका, पक्षतावच्छेदकसामानाधिकरण्येनानु-
मितिं प्रति तु सिद्धिमात्रं विरोधि । इदं तु बोध्यम् । यत्रायं पुरुषो
न वेति संशयानन्तरं पुरुषत्वव्याप्यकरादिभान् अपमिति ज्ञानं नत्रास-
त्यामनुमित्तार्था पुरुषस्य प्रत्यक्षं भवति न त्वनुमित्तिरतोऽनुमित्साविरह-
विशिष्टसमानविषयकप्रत्यक्षसामग्री कामिनीजिज्ञासादिवत्स्वातन्त्र्येण प्र-
तिबन्धिका । एवं परामर्शानन्तरं विनापि प्रत्यक्षेच्छां पक्षदेः प्रत्य-
क्षानुत्पत्तेः प्रत्यक्षेच्छाविरहविशिष्टानुमित्तिसामग्री मित्रविषयकप्रत्यक्षे
प्रतिबन्धिका ॥ ७० ॥

अनुमितेर्दर्शनादिति अयं पर्वतो बद्धमानित्यादिभिरिद्विमन्त्रेऽपि पर्वतो बद्धि-
मानित्याद्यनुमित्तेऽनुभवसिद्धत्वादित्यर्थः । पक्षतावच्छेदकावच्छेदेनानुमितिं
प्रतीति पर्वतो बद्धिमानित्याद्यनुमितिं प्रतीत्यर्थः । पक्षतावच्छेदकावच्छे-
देन साध्यासिद्धिरेवेति पर्वतो बद्धिमानित्याद्याकारिका सिद्धिरेवेत्यर्थः ।
एवकारेण च पक्षतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन सिद्धिव्यवच्छेदः । पक्षताव-
च्छेदकसामानाधिकरण्येनानुमितिं प्रति त्विति अप पर्वतो बद्धिमानि-
त्याद्यनुमितिं प्रतीत्यर्थः । सिद्धिमात्रमिति पक्षविशेषकमान्यप्रकारकनि-
श्चयत्वेन विरोधित्वमित्यर्थः । स्वातन्त्र्येणेति यथा कामिनीजिज्ञासा स्वा-
तन्त्र्येण प्रतिबन्धिका भवत्येवं पूर्वोक्ता प्रत्यक्षसामग्र्यपि स्वतन्त्रतयैव प्रति-
बन्धिका, न तु पक्षताकृतिप्रतिबन्धनेत्यर्थः । नन्वनुमितिं प्रति प्रत्यक्षसामग्र्याः
स्वातन्त्र्येण प्रतिबन्धकत्वे मित्रविषयेऽपि प्रत्यक्षसामग्रीकालेऽनुमित्तिर्न
स्यात्त आह एवमिति । अनुमित्तिसामग्रीति अनुमित्तिसामग्र्येव प्रति-
बन्धकेत्यर्थः । न तु मित्रविषये प्रत्यक्षसामग्र्यनुमित्तौ प्रतिबन्धिकेतिभावः ।
तथा च प्रत्यक्षसामग्र्या समानविषयकानुमित्तावेव प्रतिबन्धकत्वमिति न पूर्वो-
क्तानुमित्तनुत्पत्तेरिति शम् ॥ ७० ॥ इति पक्षता निरूपणम् ॥

हेतुप्रसङ्गाद्धेतुत्वभासान्विमनते—

अनैकान्तो विरुद्धश्चाप्यसिद्धः प्रतिपक्षितः ।

कालात्ययापदिष्टश्च हेत्वाभासास्तु पञ्चधा ॥ ७१ ॥

आद्यः साधारणस्तु स्यादसाधारणकोऽपरः ।

तथैवानुपसंहारी त्रिधानैकान्तिको भवेत् ॥ ७२ ॥

तल्लक्षणं तु यद्विषयकत्वेन ज्ञानस्यानुमितिविरोधित्वं, तच्चम् । तथा-
हि व्यभिचाराद्विषयकत्वेन ज्ञानस्यानुमितिविरोधित्वात्ते दोषाः॥ यद्वि-
षयकत्वं च यादृशविशिष्टविषयकत्वं बोध्यम् । तेन चाध्वमस्यानुमिति-

हेत्वाभासनिरूपणे प्रसङ्गमङ्गतिं दर्शयति हेतुप्रसङ्गादिति तत्रनिर्णय-
विजयलक्षणैककार्यकारिण्यमप्यत्र सङ्गनिर्वोच्या । तद्वर्मान्तरधर्मप्रकारकज्ञानवि-
षयकेश्च प्रति तद्वर्मान्तरेण हेतुत्वात् हेत्वाभासस्वरूपमाधारणधर्मज्ञानं
विना विभागोऽनृचिन्न इत्यत आह—तल्लक्षणं त्विति हेतोराभासा दोषा इति
व्युत्पत्त्या दोषलक्षणं स्मृत्यर्थः । अत्र यद्यपि मूले दुष्टहेतूनां विभजना-
देतुवदाभासन्त इति व्युत्पत्त्या हेत्वाभासपदस्य दुष्टहेतुपत्त्वाद् दुष्टहेतुलक्ष-
णमेव वक्तव्यं तथापि दोषज्ञाने जाने दोषवचनरूपदुष्टलक्षणस्य ज्ञातुं शक्य-
त्वान्न दोष इति ध्येयम् । यद्विषयकत्वेनेति यो विषयो यस्य स यद्विषयक-
स्तस्य भावस्तत्त्वं तेन, तथा च ज्ञाननिष्ठं यद्विषयकत्वमनुमितिप्रतिबन्धक-
तावच्छेदकं तत्त्वं दोषत्वमित्यर्थः । ह्रदो वह्निमानित्पत्र वह्नयभाववद्द्रुद्विष-
यकत्वने ज्ञानस्य ह्रदो वह्नयभाववानितिज्ञानस्यानुमितिविरोधित्वात् ह्रदो वह्नि-
मानित्पत्रमितिविरोधित्वं भवतीति वह्नयभाववान्ह्रदो दोष इत्येवं सर्वत्र लक्षण-
समन्वयो बोध्यः । लक्ष्ये लक्षणमेव ग्राहयति तथाहीति ते व्यभिचारादयः
ननु वह्नयभावप्रकारकवर्षतविशेषकनिर्णयत्वेन वह्नयभाववान्पर्वत इति भ्रम-
स्यापि पर्वतविशेषकवह्नयभावप्रकारकानुमितिविरोधित्वमस्तीति वह्नयभावेऽति-
म्यासिः स्यादत आह यद्विषयकत्वं चेति एतद्विलक्षणप्रेयाजनमाह—तेनेति ।

दित्यादौ पक्षे बाधभ्रमस्य साध्याभावविषयकत्वेनानुमितिविरोधित्वाङ्गान-
नरूपसंबन्धेन तद्वत्त्वस्यापि सत्त्वात्सद्भेदोत्तरापि बाधितत्वापत्तिरिति
वाच्यं, तत्र ज्ञानस्य संबन्धत्वाकल्पनात् । अत्र सत्प्रतिपक्षित
इति व्यवहारेण तत्कल्पनात् । तत्र बाधित इति व्यवहाराभावा
दित्याहुः । अनुमितिविरोधित्वं च अनुमितितत्करणान्यतरविरोधि-
त्वम् । तेन व्यभिचारिणि नाव्याप्तिः दोषज्ञानं च यद्वेतुविषयकं
तद्वेतुकानुमितौ प्रतिबन्धकं तेनैकद्वेतौ व्यभिचारग्रहे हेत्वन्तरेणानुमि-
त्युत्पत्तेस्तदभावाग्रनवगाहित्वाच्च व्यभिचारज्ञानस्याप्रकृतानुमितिविरो-
धित्वाभावेऽपि न क्षतिरिति संक्षेपः । यादृशपक्षसाध्यहेतौ यावन्तो
दोषास्तावदन्यान्यत्वं तत्र हेत्वाभासत्वम् । पञ्चत्वकथनं तु तत्संभव-

मितिविरोधित्वादित्यर्थः । तद्वत्त्वस्यापि साध्याभाववत्त्वस्यापि । सद्भेदोत्तरापि
पर्यतपक्षकवह्निसाध्यकवृत्तादिहेतोरपीत्यर्थः । तत्र बाधभ्रमकालीने धूमादि-
सद्भेदौ । ननु सत्प्रतिपक्षभ्रमदशायां ज्ञानस्य सम्बन्धत्वं कल्प्यते
बाधभ्रमदशायां तु न कल्प्यत इत्यत्र किं विनिगमकमित्यत आह अत्रेति
। सत्प्रतिपक्षभ्रमकालीने सद्भेदौ तत्कल्पनात् ज्ञानस्य सम्बन्धत्वकल्पना-
दित्यर्थः । तत्र बाधभ्रमकालीने सद्भेदौ । एतादृशव्यवहारयोः स्या-
नुभवमात्रसाक्षिकत्वमित्यस्वरस आहुरित्यनेन सूचितो बाधभ्रमः । अनुमिति-
विरोधित्वमित्यस्यानुमितितत्करणान्यतरविरोधित्वविवक्षायाः फलमाह—तेनेत्या-
दिना । ननु पर्वतवृत्तिकान्चनमयत्वाभावनिषेधकत्वेन पर्वते काञ्चनमयत्वं
नास्तीति ज्ञानस्य काञ्चनमयपर्वतो बाधमानित्यनुमितिविरोधित्वत्पर्यतो वह्नि-
मान्वृत्तादित्यादावपि पर्वतादेः काञ्चनमयत्वाभावो हेत्वाभासः स्यादतस्तद्व-
र्मावच्छिन्नपक्षकतद्वर्मावच्छिन्नसाध्यकतद्वर्मावच्छिन्नहेतुकानुमितितत्कारणज्ञाना-
न्यतरविरोधित्वमवश्यं लक्षणे निषेधानीय, एवं च सति निर्वह्निः पर्वतो वह्नि-
मानित्वाद् न कोऽपि हेत्वाभासः स्यात्तादृशानुमितेरप्रतिषेधत्वात् आह—यादृश-
साध्येति तथा च तादृशानुमितेरप्रतिषेधावपि न श्रुतिः सम्भवस्थलेति

स्यलाभिप्रायेण । एवं च साधारणाग्रन्यतमत्वमनैकान्तिकत्वम् । साधारणः साध्यवदन्यवृत्तिहेतुः । तेन च व्याप्तिग्रहप्रतिबन्धः क्रियते । असाधारणः साध्यासमानाधिकरणो हेतुः । तेन साध्यसमानाधिकरण्यग्रहः प्रतिबध्यते । तथा शब्दे नित्यः शब्दत्वादित्यादावसाधारण्यं, शब्देऽनित्यः शब्दत्वादित्यादौ त्वसाधारण्यभ्रमः । अन्ये तु सपक्षावृत्तिरसाधारणः । सपक्षश्च निश्चितसाध्यवान् । इत्थं च शब्देऽनित्यः शब्दत्वादित्यादौ यदा पक्षे साध्यनिश्चयस्तदा नासाधारण्यं तत्र हेतुनिश्चयादिति वदन्ति । अनुपसंहारो चात्यन्ताभावामतियोगिसाध्यत्वादि । अनेन च व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानप्रतिबन्धः क्रियते । विरुद्धस्तु साध्यव्यापकीभूताभावप्रतियोगी । अयं साध्याभावग्रहसामग्रीत्वेन

शार्ङ्गान्वयान्तेहादित्यादौ पञ्चहेत्याभामसम्भव इति भावः । हेत्वाभासलक्षणमुक्त्वा मूले प्राचीनाभिप्रायेण वक्ष्यमाणन्यपनैकान्तिकादिलक्षणानि नवीनाभिप्रायेगाह—एवामिति । साधारणाग्रन्यतमत्वामिति साधारणाभिन्नत्वे सत्यसाधारणाभिन्नत्वे सत्यनुपसंहारिभिन्नो यस्तद्विन्नत्वमस्यर्थः । नन्वेतस्य कथं हेत्वाभासत्वमत आह—तेन चेति क्रियत इति व्यातिघटकीभूतसाध्यवदन्यवृत्तिहेतुशो साध्यवदन्यवृत्तिहेतुज्ञानस्य प्रतिबन्धकत्वादिति भावः । साध्यसमानाधिकरण्यग्रह इति व्यातिघटकीभूत इति शेषः । प्राचीनमतमाह अन्ये त्विति असिद्धत्वात्सपक्षं प्रकटयति सपक्षश्चेति असाधारणस्यानित्यदोषतां दर्शयति इत्थं चेति असाधारण्यघटकीभूतस्य सपक्षत्वस्य निश्चयघटकत्वे चेत्पर्यः । तत्र निश्चितसाध्यवति पक्षे । अत्र निश्चितसाध्यवदन्यवृत्तिहेतुज्ञानस्य साध्यसमानाधिकरण्यज्ञाने प्रतिबन्धकत्वाभावेन दूषकतात्वीजस्याभावात् साधारणस्य हेत्वाभासत्वानुपपत्तिरित्यस्वरसो वदन्तीत्यनेन सूचितो श्रोद्धान्यः व्यतिरेकव्याप्तिग्रहप्रतिबन्धः क्रियत इति तथा च साधारणसाधारणानुपसंहारिणां व्याप्तिज्ञानप्रतिबन्धकतात्वरूपरूपरूपातीजस्यैक्यादेकेहेत्वाभासत्वमिति बोध्यम् । साध्यव्यापकीभूताभावेति

प्रतिबन्धकः । सत्प्रतिपक्षे तु प्रतिहेतुः साध्याभावसाधकः - । अत्र तु हेतुरेक एवेति विशेषः । साध्यभावसाधक एव हेतुः साध्यसाधकत्वेनोपन्यस्त इति अशक्तिविशेषोपस्थापरत्वाच्च विशेषः । सत्प्रतिपक्षः साध्याभावव्याप्यवान्पक्षः । अगृहीताप्रामाण्यकसाध्यव्याप्यवत्त्वोपस्थितिकालीनागृहीताप्रामाण्यकसाध्याभावव्याप्यवत्त्वोपस्थितिर्विषयस्तथेत्यन्ये । अत्र च परस्पराभावव्याप्यवत्त्वज्ञानापरस्परानुमितिप्रतिबन्धः फलम् । अत्र केचित् । यथा घटाभावव्याप्यवत्त्वज्ञाने विद्यमानेऽपि घटचतुःसंयोगे सति घटवत्तासाध्यव्यापकीभूतो योऽभावस्तदतिशयोकीत्यर्थः । यथा शब्दे नित्यः कार्यरतादित्यत्र नान्य नित्यत्वं तद्व्यपकीभूताभन कार्यशभास्तत्प्रतियोगी कार्यत्वमिति लक्षणसमन्वयः । साध्याभावग्रहसामग्रीत्वेनेति । ननु यदि विरुद्धः साध्याभावसामग्रीत्वेन प्रतिबन्धकस्तदा साध्याभावसाधका सत्प्रतिपक्षादिरुद्धस्य भेदो न स्यादुभयोरपि दूषकतात्राजस्यैवनादत आह सत्प्रतिपक्ष इति । प्रतिहेतुः द्वितीयो हेतुरित्यर्थः । ननु यदि दूषकतात्राजस्यैवनेऽपि हेतुभेदभेदप्रयुक्त एव विरुद्धसत्प्रतिपक्षयोर्भेदस्यदन्त्यव्याप्तिमता हेतुन्तरेण यत्रानुमितिप्रतिरोधस्तत्र सत्प्रतिपक्षत्वं, यत्र च व्यतिरेकव्याप्तिमता हतुना व्याप्तिप्रतिरोधस्तत्र तु हेत्याभासान्तर एवाततो भेदकान्तरमाह साध्याभावोति तथा चाशक्तिमूचकत्वेव सत्प्रतिपक्षाद्विरोधभेदसाधक दूषकतात्राजमितिभावः । प्राचीनमते सत्प्रतिपक्षलक्षणमाह अगृहीतेति अगृहीताप्रामाण्यकसाध्यव्याप्यवत्त्वोपस्थितेः कालीना या अगृहीताप्रामाण्यकसाध्याभावव्याप्यवत्त्वोपस्थितिस्तस्या विषय इत्यर्थः । नित्यत्वव्याप्यशब्दत्ववान् शब्द इति ज्ञानकाले नित्यताभावानिन्यत्वव्याप्यकार्यत्ववान्शब्द इति ज्ञानविषयावाच्छब्दः सत्प्रतिपक्षः ज्ञानरूपसम्बन्धेन तद्वत्वाच्च पूर्वोक्तं हेतुद्वय सत्प्रतिपक्षितमित्येवं लक्षणसमन्वयः । सत्प्रतिपक्षस्य दूषकतात्राज दर्शयति अत्र चेति । रत्नकोशकारमत दूषयितुमुपन्यस्यति अत्र केचिदिति । अनुमितिर्भवत्येवेति

ज्ञानं जायते । यथा च शङ्खे सत्यपि पीतत्वाभायव्याप्यशङ्खत्ववत्ता-
 ज्ञाने सति पित्तादिदोषे पीतः शङ्ख इति धीर्जायते । एवं कोटिद्वि-
 यव्याप्यदर्शनेऽपि कोटिद्वयस्य प्रत्यक्षरूपः संशयो भवति । तथा
 सत्प्रतिपक्षस्थले संशयरूपानुमितिर्भवत्येव । यत्र चैककोटिव्याप्यदर्शनं
 तत्राधिकबलतया द्वितीयकोटिभानप्रतिबन्धान्न संशयः । फलबलेन
 चाधिकबलसमबलभावः कल्प्यत इति वदन्ति । तत्र । तदभावव्याप्य-
 वत्ताज्ञाने सति तदुपनीतभानविशेषशब्दबोधेरेनुदयाल्लौकिकसंनिकर्षा-
 जन्यदोषविशेषाजन्यज्ञानमात्रे तस्य प्रतिबन्धकता लाघवात् । न तूप-
 नीतभानविशेषे शब्दबोधे च पृथक्प्रतिबन्धकता गौरवात् । तथा
 च प्रतिबन्धकसत्त्वात्कथमनुमितिः । नहि लौकिकसन्निकर्षस्थले प्रत्यक्ष-
 मिव सत्प्रतिपक्षस्थले संशयाकारानुमितिः प्रामाणिकी, येनानुमिति-
 भिन्नत्वेनापि विशेषणीयम् । यत्र च कोटिद्वयव्याप्यवत्ताज्ञानं तत्रो-
 भयत्राप्राप्याज्ञानात्संशयो नान्यथाऽऽह्येताप्राप्याप्यकस्यैव विरोधि-
 ज्ञानस्य प्रतिबन्धकत्वादिति । अलिङ्गित्वात्प्रयासिद्ध्याद्यन्यतमत्वम्,

आश्रयासिद्धिः पक्षे पक्षतावच्छेदकस्याभावः । यत्र च काञ्चनमयः पर्वतो वह्निमानिति साध्यते तत्र पर्वतो न काञ्चनमय इतिज्ञानं विद्यमाने काञ्चनमये पर्वते परामर्शप्रतिबन्धः फलम् । स्वरूपासिद्धिस्तु पक्षे व्याप्यत्वाभिमतस्य हेतोरभावः । अत्र च ह्येते द्रव्यं धूमादित्यादौ पक्षे व्याप्यत्वाभिमतस्य हेतोरभावे ज्ञाते पक्षे साध्यव्याप्यहेतुमत्ताज्ञानरूपस्य परामर्शस्य प्रतिबन्धः फलम् । साध्याप्रसिद्धिरपि व्याप्यत्वासिद्धिः । सा च साध्ये साध्यतावच्छेदकस्याभावः तथा च काञ्चनमयवह्निमानित्यादौ साध्ये साध्यतावच्छेदकाभावे ज्ञाते साध्यतावच्छेदकविशिष्टसाध्यव्याप्यवत्ताज्ञानरूपपरामर्शप्रतिबन्धः फलम् । एवं हेतौ हेतुतावच्छेदकाभावः साधनाप्रसिद्धिः । यथा च काञ्चनमयधूमादित्यादौ, अत्र हेतुतावच्छेदकविशिष्टहेतुर्ज्ञानाभावात्तद्धेतुकव्याप्तिज्ञानादेरभावः फलम् । एवं वह्निमान् नीलधूमादित्यादौ गुल्मया नीलधूमत्वं हेतुतानवच्छेदकमपि व्याप्यत्वासिद्धिरित्यपि वदन्ति । बाधस्तु पक्षे साध्याभावादिः । एतस्यानुमितिप्रतिबन्धः फलम् । तद्धर्मिकतदभावनिश्चयो लौकिकसंनिकर्षाजन्यदोषविशेषाजन्यतद्धर्मि-

दर्शयति आश्रयासिद्धिरित्यादिना । साध्याप्रसिद्धिपादीनामाधिक्यं निराकरोति साध्याप्रसिद्ध्यादपस्तित्वात् । केपाचिन्मतमाह-एवं वह्निमानित्यादिना नीलधूमत्वावच्छेदेनापि नीलधूमे वह्निव्याप्तिसत्त्वात्कथं व्याप्यत्वासिद्धिरित्यस्वरसः वदन्तीत्यनेन सूचितो बोद्धव्यः । साध्याभावादित्यादिना साध्याभावविशिष्टपक्षादेः परिग्रहः । तद्धर्मिकतदभावनिश्चय इति अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितानाहर्षितद्वर्मिकतदभावनिश्चय इत्यर्थः । भूतलादौ घटाभावादिज्ञानसत्त्वेऽपि घटचक्षुःसंयोगाद्घटादिविशिष्टबुद्ध्युदयादाह-लौकिकसन्निकर्षाजन्येति । शंखो न पीत इति निश्चयसत्त्वेऽपि पित्तदोषापीनः शंख इति भ्रमेदयात्तत्र व्यभिचारवारणादाह-दोषविशेषेति । दोषसामान्यजन्यत्वनिश्चये तु भ्रमसामान्यवबाधाप्रतिबन्धस्वार्पाचिरतो विशेषेति । पक्षः साध्यवान्न ज्ञेति संशयस्य पक्षः

बाधज्ञानस्य व्यभिचारज्ञानादेर्भेदात् । किं च यत्र परामर्शानन्तरं बाध-
बुद्धिस्तत्र व्यभिचारज्ञानादेरकिञ्चित्करत्वाद्बाधस्यानुमितिप्रतिबन्धकत्वं
वाच्यम् । एवं यत्रोत्पत्तिक्षणवच्छिन्ने घटादौ गन्धव्याप्यपृथिवीत्व-
वत्ताज्ञानं तत्र बाधस्यैव प्रतिबन्धकत्वं वाच्यम् । न च पक्षे घटे
गन्धसत्त्वात्कथं बाध इति वाच्यं, पक्षतावच्छेदकदेशकालावच्छेदेनानु-
मितेरनुभवसिद्धत्वादिति । बाधसत्प्रतिपक्षभिन्ना ये हेत्वाभासास्तव्याप्या
अपि तन्मध्य एवान्तर्भवन्ति । अन्यथा हेत्वाभासाधिक्यप्रसङ्गात् ।
बाधव्याप्यसत्प्रतिपक्षस्तु भिन्न एव, स्वतन्त्रेच्छेन मुनिना पृथगुप-
देशात् । सत्प्रतिपक्षव्याप्यस्तु न प्रतिबन्धक इति प्रघट्टकार्थः ॥७१॥७२॥
यः सपक्षे विपक्षे च भवेत्साधारणस्तु सः ।

यः सपक्ष इति । सपक्षविपक्षवृत्तिः साधारण इत्यर्थः । सपक्षो
निश्चितसाध्यवान् । विपक्षः साध्याभाववान् । विरुद्धवारणाय सपक्ष-
वृत्तितमुक्तम् । वस्तुतो विपक्षवृत्तितमेव वाच्यम्, विरुद्धस्य साधा-
हेत्वाभासान्तरत्वमितिभावः । ननु बाधज्ञानस्यापि व्यभिचारादिविषयकत्वमेवास्त्व-
त्यत आह—किं चेति । अकिञ्चित्करत्वादिति व्यभिचारज्ञानस्यानुमिति
प्रत्यप्रतिबन्धकत्वेन व्याप्तिज्ञानादेश्च पूर्वमुत्पन्नत्वात्परामर्शानन्तरमुत्पन्नस्य
व्यभिचारज्ञानस्याकिञ्चित्करत्वमिति तत्र बाधबुद्धिरेव प्रतिबन्धिकेति भावः ।
व्यभिचारव्यसङ्कर्णमपि बाधं दर्शयति—एवमिति । बाधस्यैवेति तत्र
व्यभिचारस्य स्वरूपासिद्धेत्वाभावादितिभावः । बाधतद्वाप्येति बाधः पक्षे सा-
ध्याभावादितिद्वेषात्पः सत्प्रतिपक्षस्तद्धिन्ना ये व्यभिचारादयस्तद्वेषाप्यानामपि
सत्रैवान्तर्भाव इत्यर्थः । व्यभिचारादेरिव व्यभिचारव्याप्यस्यापि व्याप्तिज्ञानप्र-
तिबन्धकज्ञानविषयत्वान्न तस्यातिरिक्तहेत्वाभासत्वमितिभावः । नन्वेवं सत्प्र-
तिपक्षस्यापि बाध एवान्तर्भावः स्यादत आह—स्वतन्त्रेच्छेत्स्येति । न
प्रतिबन्धक इति साध्याभावव्याप्यव्याप्यवत्ताज्ञानस्यानुमितिं प्रति विरोधित्वे
मानाभावादिति भावः । प्रघट्टकार्थः समुदायार्थ इत्यर्थः ॥ ७१-७२ ॥.

रणत्वेऽपि दूषकताबीजस्य भिन्नतया तस्य पार्थक्यात् ॥

यस्तूभयस्माद्द्रव्यावृत्तः स चासाधारणो मतः ॥७३॥

यस्तूभयस्मादिति । सपक्षविपक्षव्यावृत्त इत्यर्थः । सपक्षः साध्य-
वक्षया निश्चितः । विपक्षः साध्यशून्यतया निश्चितः । शब्दोऽनित्यः
शब्दत्वादित्यादौ यदा शब्दोऽनित्यत्वसन्देहस्तदा सपक्षत्वं घटादीनामेव,
तद्द्रव्यावृत्तं च शब्दत्वमिति तदा तदसाधारणम् । यदा तु शब्दो-
ऽनित्यत्वनिश्चयस्तदा नासाधारणः । इदं च प्राचां मतम् । नवीन-
मतं तु पूर्वमुक्तम् ॥ ७३ ॥

तथैवानुपसंहारी केवलान्वयिपक्षकः ।

तथैवेति । केवलान्वयिपक्षक इति । केवलान्वयिधर्मावच्छिन्न-
पक्षक इत्यर्थः । सर्वमभिधेयं प्रमेयत्वादित्यादौ सर्वस्यैव पक्षत्वात्सा-
मानाधिकरण्यग्रहस्थलान्तराभावात्प्रामाण्यमितिः । इदं तु न सम्यक्, पक्षक-
देशे सहचारग्रहेऽपि क्षतेरभावात् । अस्तु वा सहचाराग्रहस्तावताप्य-

दूषकताबीजस्य भिन्नयेति साधारणस्य साध्याभाववददृष्टित्वांशग्रहे
विह्वलस्य च सामानाधिकरण्यांशग्रहे प्रतिबन्धकत्वादितिमात्रः । पूर्वमुक्त-
मिति साधारणः साध्यासमानाधिकरणो हेतुरित्यादिनोक्तमित्यर्थः ॥ ७३ ॥

केवलान्वयिपक्षक इत्यत्र पक्षता साध्यसंशयरूपा विवक्षितेति बोद्ध-
व्यम् । क्षतेरभावादिति सर्वान्वावच्छेदेन साध्यसंशयेऽपि घटत्वावच्छेदेन
साध्यनिश्चयस्य सम्भवादिति भावः । तस्य सहचाराग्रहस्येत्यर्थः । तस्य
स्वरूपत एव विरोधिनेन तद्गुणत्वानुमितिविरोधित्वस्वीकारे प्रयोजनाभावा-

गवयादिपदानां तु शक्तिधीरुपमा फलम् ॥ ८० ॥

यत्रारण्यकेन केनचिद्भ्रामीण मत्स्युक्त गोसदृशो गवयपदवाच्य इति । पश्चाद्भ्रामीणेन कचिदरण्यादौ गवयो दृष्टस्तत्र गोसादृश्यज्ञान यज्जात तदुपमितिकरणम् । तदनन्तरं गोसदृशो गवयपदवाच्य, इत्य तिदेशवाक्यार्थस्मरणं यज्जायते तदेव व्यापारः । तदनन्तरं तत्र गवयो गवयपदवाच्य इति ज्ञानं यज्जायते तदुपमिति, न त्वयं गवयपदवाच्य इत्युपमिति; गवयान्तरे शक्तिग्रहाभावमसङ्गात् ॥७९ ॥८० ॥

॥ इति श्रीविश्वनाथन्यायपञ्चानन भट्टाचार्यविरचितायां
सिद्धान्तमुक्तावल्यामुपमानखण्डम् ॥

शाब्दबोधमकारं दर्शयति—

पदज्ञानं तु करणं, द्वारं तत्र पदार्थधीः।

शाब्दबोधः फलं तत्र शक्तिधीः सहकारिणी ॥८१॥

पदज्ञानं त्विति । न तु ज्ञायमानं पद करणं, तदभावेऽपि मौनिष्ठ्योक्तादौ शाब्दबोधात् । पदार्थधीरिति । पदजन्यपदार्थस्मरणं

शक्तिग्रहाभावमसङ्गादिति इदन्त्यानच्छिन्ने शक्तिज्ञानस्वीकारे तु गवयपदवाच्ये च नम्य शाब्दबोधभावात्प्रमङ्ग स्यादिति भावः ।

इति श्रीपण्डितगोविन्दरामसूनुवशीधरशर्मविरचितायामन्वयार्थटी-
विकायामुपमानखण्डः समाप्तः ।

अथ शब्दखण्डः

उपजांब्योपजीनकभासगन्या शब्दखण्ड प्रारभ्यते शाब्दबोधमकारं दर्शयतीति पदज्ञानं त्रिति मूळस्थस्य तु शब्दस्यैवकारार्थकत्वं स्पष्टयति नात्विति । तदभावेऽपि पदाभावेऽप्यर्थः । मौनिष्ठ्योक्तादिना यत्रादिना अकारादिबोधक-
विजातीयहस्तक्रियादे परिग्रहः । पदजन्यपदार्थस्मरणमिति पदज्ञानजन्यपदार्थ-

व्य.प.रः । अन्यथा पदज्ञानवतः प्रत्यक्षादिना पदार्थोपस्थितावपि
शाब्दबोधोपपत्तेः । तत्रापि वृत्त्या पदजन्यत्वं बोध्यम् । अन्यथा घटादि-
पदात्सम्बन्धसंबन्धेनाकांशस्मरणे जाते आकांशस्यापि शाब्दबोधोपपत्तेः ।
वृत्तिश्च शक्तिलक्षणान्यतरः संबन्धः । अत्रैव शक्तिज्ञानस्योपयोगः ।
पूर्व. शक्तिग्रहाभावे पदज्ञानेऽपि तत्संबन्धेन स्मरणानुपपत्तेः । पदज्ञान-
स्य च एकसंबन्धिज्ञानविधयार्थस्मारकत्वम् । शक्तिश्च पदेन सह
पदार्थस्य संबन्धः । स चास्माच्छब्दाद्यमर्थो बोद्धव्य इतीश्वरेच्छा-

स्मरणमित्यर्थः । अन्यथा पदार्थज्ञानमात्रस्य व्यापारत्वे तत्रापि पदजन्यपदार्थो-
पस्थितावपि । अत्रैव पदजन्यपदार्थोपस्थितोवैव । अयमाशयः पदपदार्थयोर्वृत्तिरूप-
सम्बन्धज्ञाने सत्त्वेनैतदस्मन्निज्ञानमपरसंबन्धिस्मारकमितिरीत्या पदार्थोपस्थितिः
संभवति हस्तिहस्तिपकयोः सम्बन्धज्ञानं स येव हस्तिपकदर्शनेऽपि हस्ति-
स्मरणवन्नतु पदज्ञानमात्रे इति सम्बन्धज्ञानस्य सम्बन्धिज्ञानसहकारित्व-
मावश्यकमिति ॥ पदपदार्थयोः सम्बन्धरूपायाः शक्तेः स्वरूप दर्शयति
शक्तिश्चेति । स चेति नन्वीश्वरस्यानेकेच्छाकारूपने गौरवाद् घटपदाद्
घटो बोद्धव्यः पटपदापटो बोद्धव्य इत्यादिसमूहालम्बनरूपैकेच्छाव्याक्तिरेव
सिद्धान्तसिद्धा, तथाच घटपदबोध्यत्वकारकेश्वरेच्छाया घटपदशक्तित्वस्वी-
कारे तस्या विशेष्यतासम्बन्धेन पटेऽपि सत्त्वाद् घटपदस्य पटेऽपि शक्ति-
रस्तीयतिप्रसंगः स्यादिति चेन्न, घटपदजन्यबोधविषयतावावच्छिन्नप्रकारतानिरूपि-
तविशेष्यतासम्बन्धेनेश्वरेच्छाया एव घटपदशक्तिवस्वीकारात्, तथा च घट-
पदजन्यबोधविषयतावावच्छिन्नप्रकारता निरूपितविशेष्यतासम्बन्धेनेश्वरेच्छावत्त्वस्य
घटपदशक्तित्वस्वीकारात् पटादावतिप्रसङ्गः संभवति घटपदजन्यबोधविषयता-
त्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितविशेष्यतायाः पटादावभावादप्यथा तद्भावति तदप्र-
कारकत्वेनेश्वरेच्छाया विसंवादितापत्तेः, एवमप्यत्रापि बोध्यं । न चैवमपि
गङ्गादिपदातीतादिवोधस्यापि सम्भवाद् गङ्गादिपदजन्यबोधविषयतावावच्छि-
न्नप्रकारतानिरूपितविशेष्यतासम्बन्धेनेश्वरेच्छावत्त्वं तीरादावप्यवश्यं स्वीकर्त-

रूपः । आधुनिके नाम्नि शक्तिरस्त्येव । एकादशेऽहनि पिता नाम
 कुर्वादितीश्वरेच्छायाः सत्त्वात् । आधुनिकसङ्केतिते तु न शक्तिरिति
 संभवायः । नव्यास्तु ईश्वरेच्छा न शक्तिः, किंत्विच्छैव तेनाधुनि-
 कसंकेतितेऽपि शक्तिरस्त्येवेत्याहुः । शक्तिग्रहस्तु व्याकरणादितः । तथा
 हि शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोनाप्तवाक्याद्व्यवहारतश्च ।

वाक्यस्य शेषाद्विद्वेतेर्वदन्ति सांनिध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ॥

धातुप्रकृतिप्रत्ययादीनां शक्तिग्रहो व्याकरणाद्भवति । क्वचित्सति

व्यमन्यथा गङ्गादिपदात्तोरदिवोधोऽपि न स्याद्गवादिच्छां विना तदनुपपत्तेः,
 एव च सति लक्षणाच्छेदापत्तिः स्यात्तीरादेरपि शक्त्यैव बोधसम्भवादिदि
 वाच्यं, गङ्गापदवाच्यत्वव्यवहाराभावेनेश्वरेच्छायां विषयतया गङ्गापदजन्यबोधो
 भवतु तीर विषयतावद्भवतेतदपत्ता स्वीक्रियते न तु गङ्गापदजन्यबोध-
 विषयो भवतु तीरमित्याकारतापीति न गङ्गापदजन्यबोधविषयतात्वावाच्छन्नप्र-
 कारतानिरूपितविशेषतासम्बन्धेन भगवादिच्छायास्तीरादावस्तित्वमस्तीति न
 लक्षणाच्छेदापत्तिः, लक्षणां विना तीरबोधस्यासंभवादित्यन्यत्र विस्तरः आधु-
 निके नाम्नि आधुनिकैः पित्रादिभिः संकेतिते देवदत्तादिनाम्नि, ईश्वरेच्छायाः
 सत्त्वादिति एकादशाहकालीनापिपुञ्जरितशब्दजन्यबोधविषयः पित्रादिसङ्केतितवि-
 शेष्यो भवत्वित्येतन्सामान्यरूपेणेश्वरेच्छायाः सत्त्वादित्यर्थः । आधुनिकसङ्केतिते
 नदीवह्न्यादिपदे । नव्याधुनिकसङ्केतिते नद्यादिपदे शक्त्यर्थाकारे नद्यादिपदा-
 च्छाब्दबोधो न स्यादिन्यासमिप्रायवतां नवीनानां मतमाह—नव्यास्त्विति ॥
 धातुप्रकृतिप्रत्ययादीनामिति धातुरूपायाः प्रकृतेः प्रत्ययादीनाञ्चेत्यर्थः, पाचक
 इत्यादिप्रातिपदिकानामपि व्याकरणाच्छक्तिग्रहः पचधातोः पाकार्यकस्य तदुत्तर
 ण्वुल्लप्रत्ययस्य कर्तृत्वार्थकस्य व्याकरणेऽभिधानान् गवादिरूढिपदानां तु कोशा-
 दित एव शक्तिग्रहः, अत एव धातुप्रकृतिरित्येतस्य धातुरूपा प्रकृति-
 रित्येतदेवार्थो युक्तः अन्यथा प्रकृतीत्येतस्योपादानं व्यर्थमेव स्यात् पाच-
 कादिप्रातिपदिकपदानां धातुरूपप्रत्ययरूपावयवयोः शक्त्यैव निर्वाहात्-

बाधके त्यज्यतेऽपि । यथा वैयाकरणैराख्यातस्य कर्त्तारि शक्तिरुच्यते ।
 चैत्रः पचतीत्यादौ कर्त्ता सह चैत्रस्याभेदान्वयः । तच्च गौरवाच्यज्यते,
 किंतु कृतौ शक्तिर्वाच्यत्वात् । कृतिश्चैत्रदौ प्रकारीभूय भासते ॥ न
 च कर्तुरनाभिधानाच्चैत्रादिपदानन्तरं तृतीया स्यादिति वाच्यं, कर्म-
 संख्यानाभिधानस्य तत्र तन्त्रत्वात् । सख्याभिधानयोग्यश्च कर्मत्वायन-
 वरुद्धः प्रथमान्तपदोपस्थाप्यः । कर्मत्वादीत्यस्येतरविशेषणत्वतात्पर्या-

स्यात्तु व्याकरणेनेकश्रेण्या प्रहसंभवात्. गवादिपदाना तु व्यकरणेन
 शक्तिनिश्चयाभावादिति धर्तो इकृतिवप्रदर्शनं तु द्रष्टव्यतो वैलक्षण्य-
 योतनार्थमेवेत्यवधेयम् । न्यायवादिनि अत्यन्तरं कृतौ शक्तिर्भोकारे किञ्चि-
 दनवच्छिन्नस्वकस्य कृतिवत्राने शक्यतावच्छेदकत्वे लक्ष्यं कर्त्तारि शक्ति-
 र्भोकारे तु कृतिवविशिष्टानमन्तकृतीनां शक्यतावच्छेदकत्वव्यपने गौरव,
 अत्यन्तपदोपस्थाप्यतिरिक्तपदार्थानां किञ्चिद्धर्मकारकत्वेन ग.संभवादितिभाव ।
 प्रकारीभूयभासत इति तथा च तण्डुलकर्मकणकानुकूलकृतिर्भश्चैत्र इति
 तण्डुलं पचति चैत्र इत्येतरस्य बोध इत्यर्थः । तृतीया स्यादिति अन-
 भिहित इत्यधिकारिणेण कर्त्तृकरणयोस्तृतीयेत्यनेनानभिहितकर्त्तारि तृतीयाभिधा-
 नादिति भावः । तत्र तृतीयायां तन्त्रत्वाप्रयोजकत्वादित्यर्थः । ननु चैत्र-
 इतण्डुले पचतीत्यत्र चैत्रगतसख्यैवाख्यातेनाभिधीयते न तु तण्डुलगतसख्या-
 पोष्यत्र नियामकं किञ्चिद्धक्तव्यमन्यथा चैत्रेण पच्यते तण्डुल उपादावपि चैत्र-
 गतसंख्याया अभिधानसंभवाच्चैत्रपदोत्तरं तृतीया न न्यादि-याशङ्क्याह-
 मसंख्याभिधानेति कर्मत्वायनवरुद्धेति कर्मत्वानवनवरुद्धत्वं सति प्रथमा-
 न्वपदोपस्थाप्यत्वमेव सख्याभिधानयोग्यत्वमित्यर्थः । ननेव चैत्र इव मैत्रो
 गच्छतीत्यत्राख्यातेनेकायाः संख्याया चैत्रेऽप्येन्द्रयः न्यासस्य कर्मत्वानन-
 वरुद्धत्वात्प्रथमान्तपदोपस्थाप्यत्वोच्यते आह—कर्मत्वादित्यस्येति इतरावि-
 शेषणेति वस्तुतस्त्रितरस्यात्राविवाक्षितत्वं तथाच विशेषणत्वेन तात्पर्याविप-
 पत्त्ये सति प्रथमान्तपदोपस्थाप्यत्वं संख्याभिधानयोग्यत्वमितिकर्मत्वानवनवरुद्धः

विषय-वर्षः । तेन चैत्र इव मैत्रो गच्छतीत्यादौ न चैत्रे संख्यान्वयः । यत्र कर्मादौ न विशेषणत्वे तात्पर्यं तद्धारणाय प्रथमान्तोति । यद्वा धात्वर्थान्तिरिक्ताविशेषणत्व प्रथमद्वयः । तेन चैत्र इव मैत्रो गच्छतीत्यत्र चैत्रदेवार्ण । स्तोत्रपक्षतीत्यादौ स्तोत्रोदेवार्णायच द्वितीयद्वय । तस्य द्वितीयान्तोपस्थाप्यत्वाद्धारणामिति । एवं व्यापारेऽपि न शक्तिर्गौरवात् ।

प्रथमान्तोपस्थाय इत्यन्वयार्थं शब्द इत्यर्थः । न चैत्रे संख्यान्वय इति चैत्रस्य उक्तार्थे नशब्दे विशेषणत्वेति भावः । नच विशेषणत्र प्रकारता इत्यत्र तत्राच खत्र उच्यते अथ येन यत्र शाब्दोपस्थाप्य शाब्दोपस्थाप्य चैत्रेऽपि सख्या-प्रयापित्वस्तदप्रथमोऽप्युक्तं तात्पर्याविषयेति । अत्र यद्यप्यन्य-योग्यवच्छेदार्थकं विशेष्यसङ्घर्षसङ्घर्ष चैत्रस्य विशेषणत्वचैत्र एव पक्षतीत्यादौ चैत्रे संख्या-प्रयोगसिद्धे सम्भवति तथापि अत्र विशेषणत्वेन तात्पर्या-विषये सतीत्यस्य मुख्यविशेष्यत्वाभावे मति विशेषणेन तात्पर्याविषयादि-क्षेत्रे सतीत्यर्थो बोध्यः । तथाच चैत्र एव गच्छतीत्यादौ चैत्रस्यैवकारार्थेऽन्यस्मि-विशेषणत्वेऽपि मुख्यविशेष्यत्वात्स्यापि तत्र सञ्ज्ञा मया-प्रयानुपपातिरित्यस्य प्रमाणात् ॥ न विशेषणत्वे तान्पर्यं न विशेषणत्वमात्रं तात्पर्यामि यर्थमन्वयाच्च यत्र सङ्घर्षसङ्घर्षसङ्घर्षसङ्घर्ष इति चोच्ये तत्र सङ्घर्षेऽपि सङ्घर्षव्ययगणाय प्रमाणात् चोच्येति भावः । नच सङ्घर्ष पक्षत्वस्य यदोक्तशब्दे तात्पर्यं तदा तच्छब्देऽपि मया-प्रयानुपपातिरिति प्रथमात्पक्षोपस्थाप्यत्वम-पार्थक्येति च चैत्रेण सुष्यत इत्यादौ धात्वर्थम्यापादौ मया-प्रयानु-णाय प्रमाणात्पक्षोपस्थायत्वात्प्रयानुपस्थानं । द्वितीयद्वयस्य प्रकारतरेण प्र-योजनं दर्शयितुमन्वयाद्वितीयद्वयार्थमाह यदोति । तस्य स्तोत्रपक्षे यथ द्वि-तीयान्तोपस्थाप्यत्वात्प्रथमान्तोपस्थानं पक्षत्वमात्रादित्यर्थः । नकारमामायस्य-व्यापारार्थ इति मीमांसकमतं दृष्यति एव व्यापारेऽपीति । गौरवादिति तज्ज-यत्वे मति तज्ज-यत्वनकत्वस्य व्यापारस्य कृति प्रजायेश्वर्या शक्य-तावच्छेदकत्वकल्पने गौरवादिति भावः । सत्त्वरेशसंयोगानुसूल्यक्रियाप्रयो-

रथो गच्छतीत्यादौ तु स्वव्यापारे आश्रयत्वे वा लक्षणा । जानातीत्यादौ तु आश्रयत्वे, नश्यतीत्यादौ प्रतियोगिन्ने निरूढलक्षणा ॥ उपमानाद्यथा शक्तिग्रहस्तथोक्तम् ॥ एवं कोशादपि शक्तिग्रहः साति बाधके क्वचित्प्रयज्यते । यथा नीलादिपदानां नीलरूपादौ नीलादिविशिष्टे च शक्तिः कोशेन व्युत्पादिता तथापि लाघवाच्चीत्यादावेव शक्तिः, नीलादिरूपविशिष्टे तु लक्षणेति ॥ एवमासवाक्यदपि यथा कोकिलः पिरुपदवाच्य इत्यादिशब्दानपिकादिपदशक्तिग्रहः ॥ एवं व्यवहारादपि । यथा प्रयोजकवृद्धेन घटमानयेत्युक्तम् । तच्चरुत्वा प्रयोज्यवृद्धेन घट आनीतः । तद्वधार्य पार्श्वस्थो बालो घटानयनरूपं कार्यं घटमानयेतिशब्दप्रयोज्यमित्यवधारयति । ततश्च घटं नय गामानयेत्यादावावापोद्वापाभ्यां घटादिपदानां कार्यान्वितघटादौ शक्तिं दृह्णाति । इत्थं च भूतले नीलो घट इत्यादिशब्दान् शब्दबोधः । घटादिपदानां कार्यान्वितघटादिवोधे सामर्थ्यावधारणात्, कार्यताबोध प्रति च लिङादीनां सामर्थ्यात्तद-

रथ इत्येवमेव रथो गच्छतीत्यस्य बोधः नतु नादशक्तिरानुबूयाश्चादिस-
युक्तस्त्वादिमयोगवान् रथ इत्याकारकोऽधीन्यामिप्रायवर्ता नवीनाना मतमाश्रि-
त्यह-आश्रयत्वे वेति निरूढलक्षणाऽनादिमङ्केतसिद्धा लक्षणा । तथोक्तमिति
उपमाननिरूपणानसर इति दोषः । कोशेन व्युत्पादितेति गुणे शुक्लादयः
पुंसि गुणिलिङ्गास्तु नश्यतीति कोशेन प्रतिपादिनेत्यर्थः । लाघवादिति नीला-
दिमत्त्वोपक्षमा. नीलवजातेर्लघुतया शक्यतावच्छेदकत्वकत्पनमिति भावः ।
तच्चरुत्वा घटमानयेति वाक्यं श्रुत्येवार्थः आवापोद्वापाभ्यां नयनानयनाभ्यां
घटादिपदानां कार्यान्वितघटादौ शक्तिं दृह्णातीति साक्षात्परपरया वा
कार्यवान्विनविपयकशाब्दावावच्छिन्न प्रति पदत्वेन कारणत्वमित्येव कार्य-
कारणभाव गृह्णातीत्यर्थः । नन्वेवं स्वजन्यकार्यबोधस्थितिद्वारा कार्यताबोधकालि-
ङ्गादिपदाभावात्कोशादितः शक्तिग्रहो न स्यादिति प्रमाकराक्षेप तन्मतद्रूपणेन
दुर्मन्त्रे - तन्मतमुपन्यसति इत्थं चेत्यादिना ॥ तदभावात् सादृशबोध इति

भावात्त शब्दबोधः इत्यपि केचित् । तत्र । मयमतः कार्यान्वितघटादौ शक्यत्वधारणेऽपि लाघवेन पश्चात्तस्य परित्यागौचित्यात् । अतः एव 'चैत्र-पुत्रस्ते जातः कन्या ते गर्भिणी जाता' इत्यादौ मूलप्रसाद-मुखमालिन्याभ्यां मुखदुःखे अनुमाय तत्कारणत्वेन परिशेषाच्छब्दबोधं निर्णीय तद्धेतुतया नं शब्दप्रवधारयति । तथा च व्यभिचारात्कार्यान्विते न शक्तिः । न च तत्र तं पश्येत्यादि शब्दान्तरमध्याहार्यं मानाभावात् । चैत्र ! पुत्रस्ते जातो मृतधेत्यादौ तदभावाच्च । इत्थं च लाघवावन्वित-घटेऽपि शक्तिं त्यक्त्वा घटपदस्य घटमात्रे शक्तिप्रवधारयति ॥ एवं वाक्यशेषादपि शक्तिग्रहः । यथा यवनयश्चरुर्भवतीत्यत्र यवपदस्य दीर्घ-गुरूविशेषे आर्याणां प्रयोगः कर्तौ च म्लेच्छानाम्, तत्र हि, अ-थान्या ओषधयो म्लायन्तेऽथैते मोदमानास्तिष्ठन्ति, इति वाक्यशेषा-दीर्घशूके शक्तिर्निर्णीयते, कर्तौ तु शक्तिप्रमात्प्रयोगः, नानाशक्ति-

घटादिपदेषु कार्यत्वस्मारकशक्त्यभावेन घटादिपदानां कार्यत्वान्वितानुभवं प्रति हेतुत्वेऽपि भूतले नीले घट इत्यादितो न शाब्दबोधः स्यात् स्मारक-शक्त्या कार्यत्वेष्वपस्थापकलिङ्गादिपदाभावादिति भावः ॥ लाघवेनेति कार्य-त्वान्वितघटशब्दवापेक्षया घटशब्दत्वस्य कार्यताप्रच्छेदकत्वे लाघवेनेत्यर्थः अत एव कार्यत्वान्वितशुद्धघटादिविषयकबोधं प्रति पदानां हेतुत्वादेव तत्कारणत्वेन मुखदुःखयोः कारणत्वेन तद्धेतुतया तादृशशब्दबोधहेतुतया नं शब्दं चैत्र पुत्रस्ते जात इत्यादि शब्दं अवधारयति । निश्चिन्तेर्नीत्यर्थः । व्यभिचारादिति घटादिपदैः कार्यान्वितस्यैव बोधो जन्यत इति नियमे व्यभिचारादित्यर्थः । अध्याहार्यामिति तथाच तत्रापि लोढादिजन्यकार्यबोध-स्थितेः सत्त्वेन न तादृशानियमे व्यभिचार इति भावः । तदभावाच्चेति कार्यता-बोधकपदाध्याहाराभावाच्चित्यर्थः । महत्तत्प्रक्षेपपूर्वकं स्वमतमुपसंहरति इत्थंचेति । च्छावद्यादिति कार्यान्वितघटे शक्तिरूपत्वापेक्षया घटमात्रे शक्तिरूपत्वे लाघवादित्यर्थः । शक्तिर्निर्णीयते यवपदस्येति शेषः । नन्वस्तुभवत्रापि यवपदस्य

कल्पने गौरवात् । हर्यादिपदे तु विनिगमकाभावात्नानाशक्तिकल्पनम् ॥
 एवं विवरणादपि शक्तिग्रहः । विवरणं तु तत्समानार्थपदान्तरेण तद-
 र्थकथनम् । यथा घटोऽस्तीत्यस्य कलशोऽस्तीत्यनेन विवरणाद्धटप-
 दस्य कलशे शक्तिग्रहः । एवं पचनीत्यस्य पाकं करोतीत्यनेन वि-
 वरणादाख्यातस्य यतनार्थकत्वं कल्प्यते ॥ एवं प्रसिद्धपदसंनिध्या-
 दपि शक्तिग्रहः । यथा इह महकारतरौ मधुरं पिको रीतीत्यादौ
 पिकपदस्य कोकिले शक्तिग्रह इति । तत्र जातावेव शक्तिर्न तु
 व्यक्तौ, व्यभिचारादानन्त्याच्च । व्यक्तिं विना च जातिभानस्यासंभ-
 वाद्द्वयत्तेरपि भानमिति केचित्, तत्र । शक्तिं विना व्यक्तिभानानु-

शक्तिः प्राक्काभावादिन्यत आह—नानाशक्तिकल्पने इति । नन्वेव तर्हि हर्यादिपद-
 ऽपि नानाशक्तिकल्पनं न स्यादत आह—हर्यादिपदे त्विति विनिगमकाभावा-
 दिति अत्र तु वाक्यशेषैश्च विनिगमकत्वादिनि प्रसिद्धार्थकपदस्येत्यर्थः । अत्र
 विवरणस्य प्रसिद्धपदसमभिव्याहारस्य चानुमानविधया शक्तिप्राप्तकत्वमिति बोध्यम्
 संप्रति प्रसङ्गात् जातपादिविधिष्टे शक्तिं व्यवस्थापयितुं जातावेव शक्तीत्यादिरूपं
 भीमांसकमतं निराकरणायोपपादयति जातावेवेति जतिविधिष्टे
 शक्तिस्वीकारे नानप्रहृतविशेषणा वृद्धिर्विशेष्यमुपसक्तामतीति-वायाज्जातावपि
 शक्तिग्रहस्यावश्यकत्वात्प्रायेण जातावेव शक्तिरिति भावः ॥ ननु यस्यां
 कस्यांचिद्व्यक्ती शक्तिं सर्वासु वेति विकल्प्याद्ये दूषणमाह व्याभि-
 चारादिति द्वितीयेऽप्याह—भानन्याच्चेति । असंपन्न्यादिति जानिभानक-
 नामप्रथा एव व्यक्तिभासकन्यादिति भावः । शक्तिं विनोति शब्दबोधं इति
 पदजन्यपदार्थोपरिधतेः कारणत्वेन शक्तिं विना व्यक्तिभानसम्भवादिति भावः ।
 ननु घटपदान्त्वमवायसम्बन्धेनाकाशस्मरणे जाते आकाशस्यापि शब्दबोधस्य
 पदजन्यपदार्थोपरिधितावपि वृत्तिरूपसम्बन्धेनैव पदजन्यत्वं विवक्षितं वृत्तिश्च
 शक्तिरक्षणान्तरसम्बन्धरूपा तथाच व्यक्तौ शक्तिरूपसम्बन्धाभावेऽपि लक्षण-
 रूपस्य नस्य सत्यान्न शक्तिं विना व्यक्तिभानस्यानुपपत्तिरित्यत आह—न चेत्यादि

पपत्तेः । न च व्यक्तौ लक्षणा, अनुपपत्तिप्रतिसन्धानं विनापि व्यक्ति-
 बोधात् । न च व्यक्तिशक्तावानन्त्यं, सरुलव्यक्तोभेकस्या एव श-
 क्तेः स्वीकारात् । न चाननुगमः, गोत्वाद्गोवानुगमकत्वात् । किंच
 गौः शक्तेति शक्तिग्रहो यदि तदा व्यक्तौ शक्तिः, यदि तु गोत्वं
 शक्यमिति शक्तिग्रहस्तदा गोत्वप्रकारकपदार्थस्मरणं शब्दबोधश्च
 न स्यात् । समानप्रकारकत्वेन शक्तिज्ञानस्य पदार्थस्मरणं शब्दबोधं
 प्रति च हेतुवान् ॥ किं च गोत्वे यदि शक्तिस्तदा गोत्वत्वं
 शक्यतावच्छेदकं वाच्यम् ॥ गोत्वत्वं तु गवितरासमवेतत्वे
 सति सरुलगोसमवेतत्वम् । तथा च गोव्यक्तानां शक्यतावच्छेदकेऽनु-
 प्रवेशात्तत्रैव गौग्वम् । तस्मात्तत्तज्जात्याकृतिविशिष्टतत्तद्रूप्यक्तिबोधानु-
 पपत्त्या कल्प्यमाना शक्तिर्जात्याकृतिविशिष्टव्यक्तौ विश्रम्यतीति ॥ शक्तं
 पदं, तच्चतुर्विधम्, कचियौगिकं कचिद्रुद्रं कचयौगिकरू-
 द्रम् । तथाहि । यत्रावयवार्थ एव बुध्यते तयौगिकं । यथा पाचकादिपदम् ।
 यत्रावयवशक्तिनैरपेक्ष्येण समुदायशक्तिमात्रेण बुध्यते तद्रुद्रम्, यथा
 गोमण्डलादिपदम् । यत्र तु अवयवशक्तिविषये समुदायशक्तिरप्यस्ति
 तयौगिकरुद्रम् । यथा पङ्कजादिपदम् । तथाहि । पङ्कजपदमवयवशक्त्या

अनुपपत्तिसंधानं विना अवयवयानुपपत्तिप्रतिसंधानं विनयेथ स्वमतेऽपि
 पूर्वोक्तदूषणमाशङ्क्य निषेधेति नचेत्यादिना । एकस्या एवेति ईश्वरेत्याख्याया
 स्तस्या एकत्वादेवेत्यर्थः । गोत्वादेरेवेति तथा च गोशब्दबोधे गोत्वविशिष्ट-
 विषयकशक्तिज्ञानेन हेतुगान्धानुगम इति भावः । ननु गोत्वप्रकारकगो-
 विशेष्यकशब्दबोधे प्रति गोत्वशक्तिज्ञानेनेन कारणत्व उक्तं नहि
 सर्वत्र पदजयपदार्थोपस्थितेरेव शब्दबोधं प्रति कारणत्वमस्ति सम्बन्धस्यापि
 शब्दबोधे भानादित्यत आह—किञ्चेति ॥ ननु जातिप्रकारकशब्दबोधेऽप्युच्यते
 तादृशस्मरणप्रकारकत्वं न स्वीक्रियते इत्यत पुनराह—किञ्चेति । समानमुपस-
 दृते—इत्यादिति । शक्त पदमिति । वाच्येति किञ्चिदित्यर्थः प्रथमेऽपि

पङ्कजनिकर्तृत्वरूपमर्थं बोधयति । समुदायशक्त्या च पद्मत्वेन रूपेण पद्मं बोधयति । नच केवलयाऽवयवशक्त्या कुमुदे प्रयोगः स्यादिति वार्ष्णेय, रूढिज्ञानस्य केवलपौगणिकार्थज्ञाने प्रतिबन्धकत्वादिति प्राञ्चः । वस्तुतस्तु समुदायशक्त्युपस्थितपद्मेऽवयवार्थपङ्कजनिकर्तृस्त्वयो भवति सांनिध्यात् । यत्र तु रूढ्यर्थस्य बाधः प्रतिसंधीयते तत्र लक्षणया कुमुदादेर्बोधः । यत्र तु कुमुदत्वेन रूपेण बोधे न तात्पर्यज्ञानं पद्मत्वस्य च बाधस्तत्रावयवशक्तिमात्रेण निर्वाह इत्याहुः । यत्र तु स्थलपद्मादाववयवार्थबाधस्तत्र समुदायशक्त्या पद्मत्वेन रूपेण बोधः । यदि तु स्थलपङ्कजं विजातीयमेव तदा लक्षणयैवेति ॥ यत्रावयवार्थरूढ्यर्थयोः स्वातन्त्र्येण बोधस्तद्यौगिकरूढम् । यथोद्भिदादिपदम् । तत्र हि उद्भेदनकर्ता तरुगुल्मादिरपि बुध्यते यागविशेषोपीति ॥ ८१ ॥

लक्षणा शक्यसंबन्धस्तात्पर्यानुपपत्तितः ।

गङ्गायां घोष इत्यादौ गङ्गापदस्य शक्यार्थे प्रवाहरूपे घोषस्यान्वयानुपपत्तिस्तात्पर्यानुपपत्तिर्वा यत्र प्रतिसंधीयते तत्र लक्षणया तीरस्य बोध इति ॥ सा च शक्यसंबन्धरूपा । तथाहि । प्रवाहरूपशक्यार्थसंबन्धस्य तीरे गृहीतत्वात्तीरस्य स्मरणं, ततः शब्दबोधः । परंतु यत्रान्वयानुपपत्तिलक्षणाबीजं स्यात्तदा यद्विः प्रवेशयेत्यत्र लक्षणा न स्यात्, यद्विषु प्रवेशान्वयस्यानुपपत्तेरभावात्, तत्र च यद्विप्रवेशे भोजनतात्पर्यानुपपत्त्या यद्विधरेषु लक्षणा ॥ एवं काकेभ्यो दधि रक्ष्यतामित्यादौ काकपदस्य दध्युपघातके लक्षणा सर्वतो दधि-

विशेषिविषयकज्ञानस्य प्रतिबन्धकत्व जनकज्ञानविषयकत्वेनेति नियमभङ्गरूपमास्वरस प्राञ्च इत्यनेन सूचितं बोद्धव्यं मणिकृता मतमाह-वस्तुतास्त्विति यौगिकरूढपद दर्शयति-यद्वि त्विति ॥ ८१ ॥

लक्षणा जहत्स्वार्था अजहत्स्वार्था चेति द्विविधा तत्र जहत्स्वार्था दर्शयति-गङ्गायामिति मूढस्य न्यूनतां परिहरति तात्पर्यानुपपत्तिर्वेति । सा च लक्षणा चेत्यर्थः तात्पर्यानुपपत्तेर्लक्षणाबीजत्वे बीजमाह-पदं

रक्षायास्तार्थविपयत्वात् । एवं छत्रिणो यान्तीत्यदौ छत्रिपदस्यै-
कसार्थवाहित्वे लक्षणा । इयमेवाजहत्स्वार्था लक्षणेत्युच्यते एकसा-
र्थवाहिनेन रूपेण छत्रितदन्ययोर्वेधात् ॥ यदि चान्ययानुपपत्तिर्लक्ष-
णावीजं स्यात्तदा कचिद्गङ्गापदस्य तीरे कचिद्धोपपदस्य मत्स्यादौ
लक्षणोति नियमो न स्यात् । इदं तु बोध्यम् । शक्यार्थसंबन्धो यदि
तीरत्वेन रूपेण गृहीतस्तदा तीरत्वेन ती-बोधः । यदि तु गङ्गाती-
रत्वेन रूपेण गृहीतस्तदा तेनैव रूपेण स्मरणम् ॥ अत एव लक्ष्य-
तावच्छेदके न लक्षणा, तत्प्रकारकबोधस्य तत्र लक्षणां विनाप्युप-
पत्तेः । परंतु एवं क्रमेण शक्यतावच्छेदकेऽपि शक्तिर्न स्यात्तत्प्रकार-
कशक्यार्थस्मरणं प्रति तत्पदस्य सामर्थ्यामित्यस्य मृवन्नत्वाद्दिति
विभावनीयम् ॥ यत्र तु शक्यार्थस्य परंपरासंबन्धरूपा लक्षणा सा
लक्षितलक्षणेत्युच्यते । यथा द्विरेफादिपदे रेफद्वयसंबन्धो भ्रमरपदे
ज्ञायते । भ्रमरपदस्य च संबन्धो भ्रमरे ज्ञायते । तत्र लक्षितलक्ष-
णा ॥ किंतु लाक्षणिकं पदं नानुभावंकं लाक्षणिकार्थस्य शब्दबोधे
तु पदान्तरं कारणम् । शक्तिलक्षणान्यतरसंबन्धेनेतरपदार्थान्वितस्व-
शक्यार्थशब्दबोधं प्रति पदानां सामर्थ्यावधारणात् । वाक्ये तु श-

क्ति, अजहत्स्वार्थो दर्शयति-एवमिति एकसार्थवाहित्वे एकसार्थवाहित्वाविशिष्टे
इत्यर्थः ॥ गङ्गाया घोषः इत्यत्र तीरत्वेन तीरबोधे जहत्स्वार्था गङ्गातीर-
त्वेन बोधे त्वजहत्स्वार्थेनेति दर्शयति-इदं तु बोध्यमित्यादिना परन्त्वेवं
लक्ष्यतावच्छेदकप्रकारकबोधस्य तत्र लक्षणां विनापि स्विकारे इत्यर्थः पर-
म्परासंबन्धरूपेति द्विरेफ इत्यत्र स्ववान्यरेफद्वयघटितपदवाच्यत्वरूपेण्यर्थः ।
ननु तच्छब्दबोधे तच्छक्यपदज्ञानत्वेन हेतुत्वाल्लक्षणया शब्दबोधो न स्या-
दत आह-किन्त्विति पदान्तरं महोच्चरितं शक्तं पदमित्यर्थः पदानां साम-
र्थ्यावधारणादिति गङ्गायां घोष इत्यत्र तीरान्वितघोषपदार्थबोधं प्रति घोषप-
दमेव कारणमिति भावः । ननु तव मतेन वाक्ये शक्त्यभावाच्छक्यत्वं

क्तेरभावाच्छक्यसंबन्धरूपा लक्षणाऽपि नास्ति ॥ यत्र गम्भीरायां
 नद्यां घोष इत्युक्तं तत्र नदीपदस्य नदीतीरे लक्षणा । गम्भीरापदा-
 र्थस्य-नद्या सहाभेदेनान्वयः क्वचिदेकदेशान्वयस्यापि स्वीकृतत्वात् ॥
 यदि तत्रैकदेशान्वयोऽपि न स्वीक्रियते तदा नदीपदस्य गम्भीरज-
 दीतीरे लक्षणा गम्भीरापदं तात्पर्यग्रहकम् ॥ बहुव्रीहवप्येवम् ।
 तत्र हि चित्रगुपदादौ यद्येकदेशान्वयः स्वीक्रियते तदा गोपदस्य
 गोस्वामिनि लक्षणा न वि चित्रभेदान्वयः । यदित्वेकदेशान्वयो न
 स्वीक्रियते तदा गोपदस्य चित्रगोस्वामिनि लक्षणा चित्रपदं तात्पर्य-
 ग्राहकम् ॥ एवमारूढवानरो वृक्ष इत्यत्र वानरपदस्य वानरारोहणकर्माणे
 लक्षणा, आरूढपदं तात्पर्यग्राहकम् । एवमन्यत्रापि बोध्यम् ॥ त-पु-
 र्वे तु पूर्वपदे लक्षणा । तथाहि । राजपुरुषादिपदे राजपदार्थेन पुरु-
 षादिपदार्थस्य साक्षान्नान्वयो निपातातिरिक्तनामार्थयोर्भेदेनान्वयबोध-
 स्याद्युत्पन्नत्वात् । अन्यथा-राजा पुरुष इत्यत्रापि तथान्वयबोधः
 स्यात् । घटो न पटः इत्यादौ घटपटाभ्यां नञः साक्षादेवान्वयान्नि-
 पातातिरिक्तेति । नीलो घट इत्यादौ नामार्थयोर्भेदसंबन्धेनान्वयान्ने-
 टेनेति ॥ न च राजपुरुष इत्यादौ लुप्तविभक्तेः स्मरणं कल्पयामिति

भ्रंशरूपा लक्षणापि न स्यादिति भीमासकाक्षेयामिष्टापत्या वारयति-वाक्ये
 न्वित्यादिना । ननु वाक्यलक्षणाया अस्वीकारे गभीरायां नद्यां घोष इत्यत्र
 का गतिरित्यत आह-यत्र गभीरायां भविति । क्वचिदिति देवदत्तस्य गुरुकुल-
 मिलत्रेण्यर्थः, पदभेदेन व्युत्पत्तिभेदात्तादृशस्थले पदार्थः पदार्थेनान्वेति न
 तु पदार्थैकदेशेनेति व्युत्पत्तेरकल्पनादिनि भावः । पदार्थस्य पदार्थैकदेशे
 अभेदेनैवान्वयबोधस्याव्युत्पन्नत्वं ननु भेदनापीति न देवदत्तस्य गुरुकुल
 मिति दृष्टान्तसाभ्यतेत्यत आह-यदीति निपातातिरिक्तेति निपातपदमव्य-
 यस्याव्युत्पन्नत्वं बोद्धव्यम् । अन्यथा निपातातिरिक्तनामार्थयोरेपि भेदे-
 नान्वयबोधस्य स्वीकारे, व्युत्पत्तिप्रतिष्ठस्य निपातातिरिक्तत्वस्य कल्पयामि-

वाच्यम्, अस्मृतविभक्तोरपि ततो बोधोदयात् । तस्माद्राजपदादौ
 राजसंबन्धिनि लक्षणा । तस्य च पुरुषेण सहाभेदान्वयः । द्वन्द्वे तु
 धवखादिरौ छिन्धीत्यादौ धवः खदिरश्च विभक्त्यर्थद्वित्वप्रकारेण बु-
 ध्यते । तत्र न लक्षणा ॥ न च साहित्ये लक्षणेति वाच्यं, साहि-
 त्यशून्ययोरपि द्वन्द्वदर्शनात् । न चैकक्रियान्वयित्वरूपं साहित्यम-
 स्तीति वाच्यं, क्रियाभेदेऽपि धवखादिरौ पश्य छिन्धीत्यादौ तदर्श-
 नात्साहित्यस्याननुभवाच्च । अत एव राजपुरोहितौ मायुज्यकामौ
 यजेयातामित्यत्र लक्षणाभावाद्द्वन्द्व आश्रीयते तस्मात्साहित्यं नार्थः किंतु
 वास्तवभेदो यत्र तत्र द्वन्द्वः ॥ न च नीलघटयोरभेद इत्यादौ क-
 थमिति वाच्यं, तथा नीलपदस्य नीलत्वे घटपदस्य घटत्वे लक्षणा,
 अभेद इत्यस्य चाश्रयाभेद इत्यर्थात् । समाहारद्वन्द्वे तु यदि स-
 माहारोऽप्यनुभूयत इत्युच्यते तदाऽहिनकुलमित्यादौ परपदेऽहिन-
 कुलसमाहारे लक्षणा पूर्वपदं तु तात्पर्यग्राहकम् ॥ न च भेरी-
 मृदङ्गं वदयेत्यत्र कथं समाहारस्यान्वयः, अपेक्षाबुद्धिविशेषरू-
 पस्य तस्य वादनासंभवादिति वाच्यं, परंपरासंबन्धेन तदन्वयात् ।
 एवं पञ्चमूलीत्यादावपि । परे तु अहिनकुलमित्यादौ अहिनकुलश्च

पदे न घट इत्यादि । ततो बोधोदयादिति राजपुरुष इत्यतो बोधो-
 दयादित्यर्थः, अभेदान्वय इति तथाच राजसम्बन्धाभिन्नः पुरुष इति
 राजपुरुष इत्येतस्य शाब्दबोधो भवतीत्यर्थः । द्वन्द्वे तु इतरेतरद्वन्द्वे क्वित्य-
 र्थेस्तेनाहिनकुलमित्यादिद्वन्द्वे उत्तरपदस्याहिनकुलसमुदायलक्षणायाः स्वीकार-
 ऽपि न क्षतिः । विभक्त्यर्थद्वित्वप्रकारेणेति विभक्त्यर्थे कर्मत्वे प्रकार-
 त्वेन भासत इत्यर्थः । मीमांसक शङ्कते साहित्य लक्षणेति साहित्याश्रये
 लक्षणेत्त्वर्थः, साहित्यशून्ययोरपि सहवृत्तित्वरूपसाहित्यशून्ययोरपीत्यर्थः,
 कर्मधारयाद् द्वन्द्वस्य भेदं दर्शयति-किन्निवति, नवीनमतमाह-परिव्रति, ननु यदि
 समाहारानुबुध्यते तदैकत्वस्य कुत्रान्वय इत्यत आह-प्रत्येकमिति, पितरौ श्व-

बुध्यते मत्वेकमेकत्वान्वयः, समाहारसंज्ञा च यत्रैकत्वं नपुंसकत्वं च द्वन्द्वश्च प्राणितूर्येत्यादिमूत्रेणोक्तं तत्रैव, अन्यत्रैकवचनमसाध्वित्याहुः । पितरौ श्वशुरावित्यादौ पितृपदे जनकदम्पत्योः श्वशुरपदे स्त्रीजनकदम्पत्योर्लक्षणा, एवमन्यत्रापि । घटा इत्यादौ न लक्षणा घटत्वेन रूपेण नानाघटोपस्थितिसंभवात् । कर्मधारयस्थले तु, नीलोपलपित्याद्,वेभद्रसंबन्धेन नीलपदार्थ उत्पलपदार्थे प्रकारः । तत्र च न लक्षणा, अत एव निपादस्थपतिं याजयेदित्यत्र न तत्पुरुषो लक्षणापत्तेः, किंतु कर्मधारयो लक्षणाभावात् । न च निपादस्य संकरजातिविशेषस्य वेदानधिकारायाजनासंभव इति वाच्यं, निपादस्य विशाप्रयुक्तेस्तत एव कल्पनात् । लाघवेन मुख्यार्थस्यान्वये तदनुपपत्त्या कल्पनायाः फलमुखगौरवतयाऽदोषत्वादिति ॥ उपकुम्भमर्धपिप्पलीत्यादौ परपदे तत्संबन्धिनि लक्षणा पूर्वपदार्थप्रधानतया चान्वयबोध इति । इत्थं च समासे न क्वापि शक्तिः पदशक्त्यैव निर्वाहादिति ॥

आसत्तियोग्यताकांक्षा तात्पर्यज्ञानमिष्यते ॥ ८२ ॥
कारणं संनिधानं तु पदस्यासात्तिरुच्यते ।

आसत्तिरित्यादि । आसत्तिज्ञानं योग्यताज्ञानमाकाङ्क्षाज्ञानं तात्पर्यज्ञानं च शाब्दबोधे कारणम् । तत्रासात्तिपदार्थमाह । संनिधानं त्विति । यत्पदार्थेन यत्पदार्थस्यान्वयोऽपेक्षितस्तयोस्व्यवधानेनोपस्थितिः शाब्दबोधे कारणम् । तेन ' गिरिर्भुक्तमग्निमान्देवदत्तेन ' इत्यादौ न शाब्दबोधः । ' नीलो घटो द्रव्यं पटः ' इत्यादावासात्तिभ्रमाच्छब्दबोधः । आसात्तिभ्रमाच्छब्दभ्रमाभावेऽपि न क्षतिः । ननु यत्र लक्ष्मी

श्वशुरावित्यादाविति निर्वाहकदेश्चल इत्यर्थः । अत एव कर्मधारये लक्षणाभावादेवेत्यर्थः । पदशक्त्यैवैति समासघटकीभूतपदशक्तिर्लक्षणाभ्यामिव निर्वाहादित्यर्थः ॥

शाब्दभ्रमाभावेऽपि न क्षतिः । आसत्तिभ्रमस्य न शाब्दभ्रमप्रयोजकश्च

सृष्टयतीत्यादिपदाध्याहारं विना चतुर्थ्यनुपपत्तेः पदाध्याहार आवश्यकः
पदार्थे तत्र तद्वत्ता योग्यता परिकीर्तिता ॥ ८३ ॥

एकपदार्थेऽपरपदार्थसंबन्धो योग्यतेत्यर्थः । तज्ज्ञानाभावाच्च व-
द्विना सिञ्चतीत्यादौ न शाब्दबोधः । नन्वेतस्या योग्यताया ज्ञानं
शाब्दबोधात्मावसर्वत्र न संभवति वाक्यार्थस्यापूर्वत्वादिति चेन्न, तत्त-
न्यदार्थस्मरणे सति क्वचित्संशयरूपस्य क्वचिन्निश्चयरूपस्यापि योग्य-
ताया ज्ञानस्य संभवात् । नव्यास्तु, योग्यताया ज्ञानं न शाब्दज्ञाने
कारणम् । वद्विना सिञ्चतीत्यादौ सेके बहिकरणत्वाभावरूपाऽयोग्य-
नानिश्चयेन प्रतिबन्धान्न शाब्दबोधः । तदभावनिश्चयस्य लौकिकसंनि-
कर्षाजन्यदोषविशेषाजन्यज्ञानमात्रं प्रतिबन्धकत्वाच्छाब्दबोधं प्रत्यपि
प्रतिबन्धकत्वं सिद्धम् । योग्यताज्ञानविलम्बाच्च शाब्दबोधविलम्बोऽ-
सिद्ध इति वदन्ति ॥ ८२ ॥ ८३ ॥

आकाङ्क्षां निर्वक्ति—

यत्पदेन विना यस्याननुभावकता भवेत् ।

आकाङ्क्षा वक्तुरिच्छा तु तात्पर्यं परिकीर्तितम् ॥ ८४ ॥

येन पदेन विना यत्पदस्यान्वयाननुभावकत्वं तेन पदेन सह
तस्याकाङ्क्षेत्यर्थः । क्रियापदं विना कारकपदं नान्वयबोधं जनय-
तीति तेन तस्याकाङ्क्षा ॥ वस्तुतस्तु क्रियाकारकपदानां संनिधान-
मासत्या चरितार्थम् । परंतु घटकर्मताबोधं प्रति घटपदोत्तरद्वितीया-
रूपाकाङ्क्षाज्ञानं कारणम् । तेन घटः कर्मत्वमानयनं कृतिरित्यादौ

पदार्थवत्त्वं योग्यतेत्युक्तं तच्चायुक्तमनुपयुक्तं चैततो मूलार्थं स्पष्टयति—एकप-
दार्थं इत्यादिना अपूर्वत्वादिति सर्वत्र शाब्दबोधापूर्वमनिश्चितत्वादित्यर्थः । क्व-
चित्संशयरूपस्येति सशयनिश्चयसंभारणयोग्यताज्ञानस्य कारणत्वादिति भावः ।
नर्शानमतं दर्शयति—नव्यास्त्विति । ॥ ८२ ८३ ॥

आकाङ्क्षां निर्वक्तीति । तेन पदेन सह तस्येति . तात्पर्यवशेन

न शाब्दबोधः ॥ अयमेति पुत्रो राज्ञः पुरुषोऽपसार्यतामित्यादौ तु पुत्रेण सह राजपदस्य तात्पर्यग्रहसत्त्वात्तेनैव सहान्वयबोधः । पुरुषेण सह तात्पर्यग्रहे तु तेन सहान्वयबोधः स्यादेव ॥ तात्पर्यं निर्वक्ति । वक्तुरिच्छेति । यदि तात्पर्यज्ञानं कारणं न स्यात्तदा 'सैन्धवमानय' इत्यादौ क्वचिदश्वस्य क्वचिद्वृषणस्य बोधो न स्यात् न च तात्पर्यग्राहकमकरणादीनां शाब्दबोधे कारणत्वमस्त्विति वाच्यं, तेषामनुगमात् । तात्पर्यज्ञानजनकत्वेन तेषामनुगमे तु तात्पर्यज्ञानमेव लाघवात्कारणमस्तु । इत्थं च वेदस्थलेऽपि तात्पर्यज्ञानार्थमीश्वरः कल्प्यते । न च तत्राध्यापकतात्पर्यज्ञानं कारणमिति वाच्यं, सर्गादावध्यापकाभावात् । न च प्रलय एव नास्तीति कुतः सर्गादिरिति वाच्यं, प्रलयस्यागमेषु प्रतिपाद्यत्वात् । इत्थं च शुकवाक्येऽपीश्वरीयतात्पर्यज्ञानं कारणम् । विसंवादिशुकवाक्ये तु शिक्षयितुरेव तात्पर्यज्ञानं कारणम् । अन्ये तु नानार्थादौ क्वचिदेव तात्पर्यज्ञानं कारणम् । तथा च शुकवाक्ये विनैव तात्पर्यज्ञानं शाब्दबोधः । वेदे त्वनादिमीमांसापरिशोधिततर्करेवार्थविधारणमित्यहुः ॥ ८४ ॥

इति श्रीविश्वनाथन्यायप्रज्ञाननभट्टाचार्यविरचिताया सिद्धान्त-

मुक्तावल्यां शाब्दत्वण्ड समाप्तम् ॥

तत्पदस्येत्यर्थः तात्पर्यं निर्विकीर्तितात्पर्यज्ञानस्य शाब्दबोधकारणत्वे युक्तिर्दर्शयति यदीत्यनात् । लाघवादेति तात्पर्यज्ञानजनकत्वापेक्षया तात्पर्यज्ञानस्य कारणतावच्छेदकत्वे लाघवादिति भावः । इत्थं च तात्पर्यज्ञानस्य शाब्दबोधहेतुत्वे सिद्धे चेत्यर्थः । नर्तनमते दर्शयति अन्योत्पित्यादिना ॥

इति श्रीपंडित-गोविन्दराममुनिवशीघरशम्भर्णा विरचितायां

मुक्तावल्यां चतुर्थोपपत्त्यां चतुर्थोऽध्यायः समाप्तम् ॥

पूर्वमनुभवस्मरणभेदान्बुद्धेर्द्वैविध्यमुक्तम् । तत्रानुभवप्रकारा दर्शिता,
 सुगमतया स्मरणं न दर्शितम् । तत्र हि पूर्वानुभवः कारणम् । अत्र
 केचित् । अनुभवत्वेन न कारणत्वं किंतु ज्ञानत्वेनैव । अन्यथा सकृद-
 नुभवस्थले स्मरणानन्तरं स्मरणं न स्यात्समानप्रकारकस्मरणेन पूर्व-
 संस्कारस्य विनष्टत्वात् । मन्मते तु तेनैव स्मरणेन संस्कारान्तरद्वारा
 स्मरणान्तरं जन्यत इत्याहुस्तत्र । यत्र समूहालम्बनोत्तरं घटपटदीर्घा
 क्रमेण स्मरणमजनिष्ट, सकलविषयकस्मरणं तु नाभूत्तत्र फलस्य
 संस्कारनाशकत्वंत्वाभावात्कालस्य रोगस्य चरमफलस्य वा संस्कार-
 नाशकं वाच्यम् । तथा च न क्रमिकस्मरणानुपपत्तिः ॥ न
 च पुनः पुनः स्मरणाद्दृढतरसंस्कारानुपपत्तिरिति वाच्यं, क्वदित्यु-
 द्बोधकसमवधानस्य दाढ्यर्थपदार्थत्वात् ॥ न च विनिगमनाविरहादेव
 ज्ञानत्वेनापि जनकत्वं स्यादिति वाच्यं, विशेषधर्मेण व्यभिचाराज्ञाने
 सामान्यधर्मेणान्यथासिद्धत्वात् । कथमन्यथा दण्डस्य भ्रमिहार द्रव्य-
 त्वेन रूपेण न कारणत्वम् । न चान्तरालिकस्मरणानां संस्कारनाश-

शब्दाखण्डनिरूपणानन्तरं स्मरणनिवृत्तये अवसरसङ्घति सूचयति पूर्व-
 भित्त्यादिना तत्र हि स्मरणे द्वैविध्यं । अन्यथा अनुभवत्वेन कारणत्वे
 स्मरणं न स्यादिति अनुभवस्य नष्टत्वादिति भावः । नन्वनुभवस्य नाशोऽपि
 तज्जन्यसंस्कारस्य सत्त्वात् किमप्यनुपपन्नमित्यत आह-समानप्रकारकेति ।
 फलस्य स्मरणस्येत्यर्थः । ननु कालस्य कालत्वेन संस्कारनाशकत्वे ह वै-
 संस्कारानां क्षणिकत्वापत्तिरत आह-चरमफलस्येति चरमफले वैजात्यं कल्प-
 यित्वा विजातीयफलत्वेन संस्कारनाशकत्वं कल्पनीयमिति भावः । दाढ्य-
 पदार्थत्वादिति तथा च न पुनः पुनः स्मरणादन्यस्य दृढतरसंस्कारस्यो-
 त्पत्तिः किंतु विद्यमानसंस्कारस्यैव पुन पुनः स्मरणेन क्वदित्युद्बोधकसमव-
 धानं जायते तदेव संस्कारे दृढतरत्वमिति भावः ॥

॥ इति स्मृतिनिरूपणम् ॥

कत्वसंशयाद्व्यभिचारसंशय इति वाच्यम्, अनन्तसंस्कारतन्नाशकल्प-
नापेक्षया लाघवेन चरमस्मरणस्यैव संस्कारनाशकत्वकल्पनेन व्याभि-
चारसंशयाभावात् ॥ इति स्मृतिप्रक्रिया ॥

इदानीं क्रमप्राप्तं मनो निरूपयितुमाह—

साक्षात्कारे सुखादीनां करणं मन उच्यते ।

अयौगपद्याज्ज्ञानानां तस्याणुत्वमिहेष्यते ॥ ८५ ॥

एतेन मनसि प्रमाणं दर्शितम् । तथाहि मुखसाक्षात्कारः स्फ-
रणको जन्यसाक्षात्कारत्वात् चाक्षुषसाक्षात्कारवत् । इत्यनुमानेन
मनसः करणत्वसिद्धिः । न चैवं दुःखादिसाक्षात्काराणामपि कर-
णान्तराणि स्युरिति वाच्यम्, लाघवादेकस्यैव तादृशसकलसाक्षात्का-
रकरणतया सिद्धेः । एवं सुखादीनामसमवायिकारणसयोगाश्रयतया
मनसः सिद्धिर्वोद्धव्या । तत्र मनसाऽणुत्वे प्रमाणमाह । अयौ-
गपद्यादिति । ज्ञानानां चाक्षुषरासनादीनामयौगपद्यमेककालोत्पत्तिर्नास्ती-
त्यनुभवसिद्धम् । तत्र नानेन्द्रियाणां सत्यपि विषयसंनिधाने यसंबन्धादे-
केनेन्द्रियेण ज्ञानमुत्पद्यते यदसंबन्धाच्च परैर्ज्ञानं नोत्पद्यते तन्मनसो वि-
श्रुत्वे चासंनिधानं न संभवतीति न विभु मनः ॥ न च तदानीम-
दृष्टविशेषोद्बोधकविलम्बादेव तज्ज्ञानविलम्ब इति वाच्यं, तथा साति
क्षुरादीनामप्यकल्पनापत्तेः ॥ न च दीर्घशक्नुलीभक्षणादौ नानावधा-
नभाजां च कथमेकदा नानेन्द्रियजन्यज्ञानमिति वाच्यं, मनसाऽति-
लाघवात्त्वस्या नानेन्द्रियसंबन्धानाज्ञानोत्पत्तेः । उपलक्षतपत्रभेदा-

मनसि प्रमाणमिति अनुमानम्पं प्रमाणमित्यर्थः । प्रकृतानुमानस्वरूपं
दर्शयति—तथाहात्यादिना अत्र हेतुनाश्वर्यायमाक्षत्कारं व्यभिचारवारणाय
जन्येति । ननु प्राणस्यैव लाघवात्कारणत्वमगित्यन्यत आह—एवं सुखादीना-
मित्यादि भावकार्षेयस्य सासमवायिकारणत्वात्प्रमित्यमादिति भावः । तथा सतीति
दृष्टसामग्रीसत्येऽप्यदृष्टविलम्बाकार्थविलम्बस्वीकार इत्यर्थः । बौद्धविशेषः शङ्कते

दिव्यौगणप्रत्ययस्य भ्रान्तत्वात् ॥ न च मनसः संकोचाविकाशशालित्वाद्भयोपपत्तिरास्त्विति वाच्यं, नानावयवतन्त्रशादिकल्पने गौरवाद्वाघवान्निखण्डवस्फणुरूपस्यैव मनसः कल्पनादिति संक्षेपः ॥८५॥

॥ इति द्रव्यपदार्थो व्याख्यातः ॥

द्रव्यं निरूप्य गुणान्निरूपयति—

अथ द्रव्याश्रिता ज्ञेया निर्गुणा निष्क्रिया गुणाः ।

गुणत्वजातौ किं मानमिति चेत्, इदम् । द्रव्यकर्मभिन्ने सामान्यवति या कारणता सा किञ्चिद्गुणवच्छिन्ना निखण्डितकारणताया असंभवात् । नहि रूपत्वादिकं सत्ता वा तत्र वच्छेदिका न्यूनान्तिरिक्तदेशवृत्तित्वात् । अतश्चतुर्विंशत्यनुगतं किञ्चिद्द्रव्यं तत्रैव गुणत्वमिति सिद्धम् । द्रव्याश्रिता इति । यद्यपि द्रव्याश्रितत्वं न लक्षणं कर्मादावतिवशात्स तथापि द्रव्यत्वव्यपकृतवच्छेदकसत्ताभिन्नजातिमत्त्वं तदर्थः । भवति हि गुणत्वं द्रव्यत्वव्यापकृतवच्छेदकं तद्वता च गुणानामिति ॥ द्रव्यत्वं कर्मत्वं वा न द्रव्यत्वव्यापकृतावच्छेदकं गगनादौ द्रव्यकर्मणोरभावात् । द्रव्यत्वञ्च सामान्यत्वादिकं वा न जातिरिति तद्व्युदासः ॥ निर्गुणा इति । यद्यपि निर्गुणत्वं कर्मदावपि तथापि सामान्यवच्चै

मनस इत्यादि । उतरयति नानावयवतन्त्राश्रितत्वादि ॥

॥ इति मनो (द्रव्य) निरूपणम् ॥

द्रव्यं निरूप्येति तथा चावसरमहत्या द्रव्यनिरूपणानन्तरं गुणनिरूपणमिति भावः किं मानमिति किंवाच्यः प्रश्ने ननु रूपत्वादिकं सत्ता वा गुणनिष्कारणतावच्छेदिकाभिव्यक्त आह—न हीति । तदर्थं इति द्रव्याश्रिता ज्ञेया इति मूलस्यार्थः इत्यर्थः । द्रव्यत्वव्यापकृतावच्छेदकेत्यस्य प्रयोजनमाह—द्रव्यत्वमित्यादिना तथाच सत्ताभिन्नद्रव्यत्वादिकजातिमादाय न द्रव्यदावतिव्याप्तिरिति भावः । जातिपदस्य कृत्यमाह—द्रव्यत्वत्वमिति । ननु किं नाम मूर्तगुणत्वमित्यत आह—अमूर्तत्विति ॥ ८६ ॥ ८७ ॥ ८८ ॥

सति कर्मान्यत्वे च सति निर्गुणत्वं बोध्यम् । जात्यादीनां न सामान्यत्वं, कर्णो न कर्मान्यत्वं, द्रव्यस्य न निर्गुणत्वमिति तत्र नातिव्याप्तिः । निष्क्रिया इति स्वरूपकथनं न तु लक्षणं गगनादावतिव्याप्तेः ॥

रूपं रसः स्पर्शगन्धौ परत्वमपरत्वकम् ॥ ८६ ॥

द्रवत्वं स्नेहवेगाश्च मता मूर्तगुणा अमी ।

मूर्तगुणा इति । अत्र वेगेन स्थितिस्थापकोऽप्युपलक्षणीयः । अमूर्तेषु न वर्तन्त इत्यर्थः । लक्षणं तु तावदन्यान्यत्वम् । एवमग्रेऽपि ॥

धर्माधर्मौ भावना च शब्दो बुद्ध्यादयोऽपि च ॥ ८७ ॥

एतेऽमूर्तगुणाः सर्वे विद्वद्भिः परिकीर्तिताः ।

अमूर्तगुणा इति । मूर्तेषु न वर्तन्त इत्यर्थः ।

संख्यादयो विभागान्ता उभयेषां गुणा मताः ॥ ८८ ॥

उभयेषामिति । मूर्तामूर्तगुणा इत्यर्थः ॥ ८६-८८ ॥

संयोगश्च विभागश्च संख्या द्वित्वादिकास्तथा ।

द्विपृथक्त्वादयस्तद्भेदेऽनेकाश्रिता गुणाः ॥ ८९ ॥

अनेकाश्रिता इति । संयोगविभागद्वित्वादोनि द्विटत्तीनि । त्रिचतुष्टादिकं त्रिचतुरादिवृत्तोति बोध्यम् ॥ ८९ ॥

अतः शेषगुणाः सर्वे मता एकैकवृत्तयः ।

रूपरसगन्धस्पर्शकल्पपरिमाणैकपृथक्त्वपरत्वापरत्वबुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषमयत्नगुरुत्वद्रवत्वस्नेहसंस्कारादृष्टशब्दा इत्यर्थः ॥

अनेकाश्रिता इति एकैकवृत्तय इति स्वध्रुवप्रतियोगिकान्योन्याभावस्यापकारयन्ताभाव-

मूले एकैकवृत्तय इति स्वाध्रुवप्रतियोगिकान्योन्याभावस्यापकारयन्ताभाव-

बुद्ध्यादिषट्कं स्पर्शान्ताःस्नेहःसांसिद्धिको द्रवः९०॥

अदृष्टभावनाशब्दा अमी वैशेषिका गुणाः

बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषमयत्ना इत्यर्थः । स्पर्शान्ताः रूपरसगन्ध-
स्पर्शा इत्यर्थः । द्रवो द्रवत्वम् । वैशेषिका इति । विशेषा एव वैशे-
पिकाः । स्वार्थे षक् । विशेषगुणा इत्यर्थः ॥

संख्यादिरपरत्वान्तो द्रवः सांसिद्धिकस्तथा ॥९१॥

गुरुत्ववेगो सामान्यगुणा एते प्रकीर्तिताः ।

संख्यादिरिति । संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वप-
रत्वानीत्यर्थः ॥

संख्यादिरपरत्वान्तो द्रवत्वं स्नेह एव च ॥९२॥

एते तु द्वीन्द्रियग्राह्याः-

द्विन्द्रियेति । चक्षुषा त्वचाऽपि ग्रहणयोग्यत्वात् ।

अथ स्पर्शान्तशब्दकाः ।

बाह्यैकेन्द्रियग्राह्याः-

बाह्येति । रूपादीनां चक्षुरादिग्राह्यत्वात् ॥

गुरुत्वादृष्टभावनाः ॥ ९३ ॥

प्रतियोगिन इत्यर्थः । द्रवस्य गुण-वामात्र दाह-द्रवो द्रवत्वमिति । स्वार्थे ष्कार्ति
विनयादिषु पाठाद्विशेषपदस्य विनयादिभ्यो ष्कार्तिभानादिति भावः । विशेष-
गुणा इत्यर्थः इति विशेषगुणवञ्च भावनान्यो यः वायुशक्तिस्पर्शावृत्तिधर्म-
समवायी तदप्यत्रे सति गुरुत्वाजलद्रववन्त्यद्रवत्वमिति ।

भूते सामान्यगुणा इति तत्र सामान्यगुणव नाम स्पर्शान्यत्रे सति
द्रव्यविभाजकोपधिष्यत्यसावच्छेदकसंयोगविभागश्रेयद्रवत्वावृत्तिजातिशून्यगुणत्वमिति

अतीन्द्रिया विभूनां तु यं स्युर्वैशेषिका गुणाः ।

अकारणगुणोत्पन्ना एते तु परिकीर्तिताः ॥९४॥

विभूनामिति । बुद्धिसुखदुःखेन्द्रोद्देशप्रयत्नधर्माधर्मभावेनाशब्दा इत्यर्थः । अकारणेति कारणगुणेन कार्ये ये गुणा उत्पद्यन्ते ते कारणगुणपूर्वका रूपादयो वक्ष्यन्ते । बुद्ध्यादयस्तु न तादृशा आत्मादेः कारणाभावात् ॥ ९०—९४ ॥

अपाकजास्तु स्पर्शान्ता द्रवत्वं च तथाविधम् ।

स्नेहवेगगुरुत्वैकपृथक्त्वपरिमाणकम् ॥९५॥

स्थितिस्थापक इत्येतं स्युः कारणगुणोद्भवाः ।

अपाकजास्त्विति । पाकजरूपादीनां कारणगुणपूर्वकत्वाभावात् अपाकजा इत्युक्तम् । तथाविधमपाकजम् । तथैकत्वमपि बोध्यम् । स्पष्टम् सांयोगश्च विभागश्च वेगश्चेते तु कर्मजाः ॥९६॥

कर्मजा इति । यद्यपि कर्मजत्वं न साधर्म्यं घटादावतिव्याप्तेः, संयोगजसंयोगेऽव्याप्तेश्च । तथापि कर्मजवृत्तिगुणत्वव्याप्यजातिमत्त्वं बोध्यम् । एवमन्यत्राप्युक्तम् ॥ ९५ ॥ ९६ ॥

स्पर्शान्तपरिमाणैकपृथक्त्वं स्नेहशब्दके ।

भवेत्समवायित्वं—

स्पर्शान्तेति । [स्पर्शोऽत्रानुष्णो ग्राह्यः ।] एकपृथक्त्वमित्यत्र त्वप्रत्ययस्य प्रत्येकमन्वयादेकत्वं पृथक्त्वं च ग्राह्यम् । पृथक्त्वपदेन चैकपृ-

एवमन्यत्राप्युक्तामिति अथ प्रादेशिक इत्यादिमूलेन वक्ष्यमाणस्य विभुविशेषगुणादीनां व्याप्यवृत्तिवसाधर्म्यस्यापि कर्मादावतिव्याप्तिवारणायाव्याप्यवृत्तिवृत्तिगुणत्वव्याप्यजातिमत्त्वमेवाधो बोध्य इत्यर्थः ॥ ९० ॥ ९६ ॥

यत्त्वं विवक्षितम् । भवेत्समवायित्वमिति । घटादिरूपरसगन्धस्पर्शाः
कपालादिरूपरसगन्धस्पर्शेभ्यो भवन्ति । एवं कपालादिपरिमाणानीनां
घटादिपरिमाणायसमवायिकारणत्वम् । शब्दस्यापि द्वितीयशब्दं
प्रत्ययसमवायिकारणत्वम् । एवं स्थितिस्थापकैकैकपृथक्त्वयोरपि ज्ञेयम् ॥

-अथ वैशेषिके गुणे ॥९७॥

आत्मनः स्यान्निमित्तत्वम्-

निमित्तत्वमिति । बुद्ध्यादीनामिच्छादिनिमित्तत्वादितिभावः

-उष्णस्पर्शगुरुत्वयोः ।

वेगेऽपि च द्रवत्वे च संयोगादिद्वये तथा ॥ ९८ ॥

द्विधैव कारणत्वं स्याद्

द्विधैवेति । असमवायिकाणत्वं निमित्तकारणत्वं च । तथाहि ।
उष्णस्पर्श उष्णस्पर्शस्यासमवायिकारणं पाकजे निमित्तम् । गुरुत्वं
गुरुत्वपतनयोरसमवायिकारणं प्रतिघते निमित्तम् । वेगो वेगस्पन्दन-
योरसमवायी अभिघते निमित्तम् । द्रवत्वं द्रवस्पन्दनयोरसमवायि
संग्रहे निमित्तम् । भेरीदण्डसंयोगः शब्दे निमित्तम् । भेर्याकाशसंयोगो
ऽसमवायी । वंशदलद्वयविभागः शब्दे निमित्तम् । वंशदलाकाशविभा-
गोऽसमवायीति ।

गुरुत्वं गुरुत्वपतनयोरसमवायीति कशादृष्टिगुरुत्वस्य घटशृङ्गिगुरुत्वं
प्रति कपालादृष्टिपतनं प्रति चासमवायिकारणमित्यर्थः । न च शेषपरिमित-
कशादृष्टेः संचिते घटादावतिरिक्तगुरुत्वस्वीकारे घटादेश्च कपालगतगुरुत्वापेक्षया
द्विगुणं गुरुत्वं प्रतिघते कशादृष्टिगुरुत्वस्य पूर्व विद्यमानत्वेन घटे चानिर्दिक्तस्य
तत्सदृशस्य गुरुत्वम्पोटसोत्सर्गकारादिनि गान्यग, अन्तपवयोविनिष्पृष्टस्य
निम्नताद्वेतुरास्थाकारादिनिदिक् ॥

अतीन्द्रिया विभूनां तु ये स्युर्वैशेषिका गुणाः ।
अकारणगुणोत्पन्ना एते तु परिकीर्तिताः ॥९४॥

विभूनामिति । बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषमयत्नधर्माधर्मभावेनाशब्दा
इत्यर्थः । अकारणेति कारणगुणेन कार्ये ये गुणा उत्पद्यन्ते ते कार-
णगुणपूर्वका रूपादयो वक्ष्यन्ते । बुद्ध्यादयस्तु न तादृशा आत्मादेः
कारणाभावात् ॥ ९०-९४ ॥

अपाकजास्तु स्पर्शान्ता द्रवत्वं च तथाविधम् ।
स्नेहवेगगुहृत्वैकपृथक्त्वपरिमाणकम् ॥९५॥

स्थितिस्थापक इत्येते स्युः कारणगुणोद्भवाः ।

अपाकजास्त्विति । पाकजरूपादीनां कारणगुणपूर्वकत्वाभावात्
अपाकजा इत्युक्तम् । तथाविधमपाकजम् । तथैकत्वमपि बोध्यम् । स्पष्टम्
सांयोगश्च विभागश्च वेगश्चेते तु कर्मजाः ॥९६॥

कर्मजा इति । यद्यपि कर्मजत्वं न साधर्म्यं घटादावतिव्याप्तेः,
संयोगजसंयोगेऽव्याप्तेश्च । तथापि कर्मजवृत्तिगुणत्वव्याप्यजातिमत्त्वं
बोध्यम् । एवमन्यत्राप्युक्तम् ॥ ९५ ॥ ९६ ॥

स्पर्शान्तपरिमाणैकपृथक्त्वं स्नेहशब्दके ।

भवेदसमवायित्वं-

स्पर्शान्तेति । [स्पर्शोऽत्रानुष्णो ग्राहः ।] एकपृथक्त्वमित्यत्र त्वम-
त्ययस्य प्रत्येकमन्यथादेकत्वं पृथक्त्वं च ग्राह्यम् । पृथक्त्वपदेन चैकपृ-

एवमन्यत्राप्युक्तमिति अथ प्रादेशिक इत्यादिमूलेन वक्ष्यमाणस्य
प्रभुविशेषगुणादीनां व्याप्यवृत्तिवत्साधर्म्यस्यापि कर्मादावतिव्याप्तिवारणायाव्या-
प्यवृत्तिवृत्तिगुणव्याप्यजातिमत्त्वमेवार्थो बोध्य इत्यर्थः ॥ ९० ॥ ९६ ॥

धक्त्वं विवक्षितम् । भवेत्समवायिन्त्वमिति । घटादिरूपरसगन्धस्पर्शाः
कपालादिरूपरसगन्धस्पर्शेभ्यो भवन्ति । एवं कपालादिपरिमाणादीनां
घटादिपरिमाणाद्यसमवायिकारणत्वम् । शब्दस्यापि द्वितीयशब्दं
प्रत्यसमवायिकारणत्वम् । एवं स्थितिस्थापकैकपृथक्त्वयोरपि ज्ञेयम् ॥

—अथ वैशेषिके गुणे ॥९७॥

आत्मनः स्यान्निमित्तत्वम्—

निमित्तत्वमिति । बुद्ध्यादीनामिच्छादिनिमित्तत्वादेतिभावः

—उष्णस्पर्शगुरुत्वयोः ।

वेगेऽपि च द्रवत्वे च संयोगादिद्वये तथा ॥ ९८ ॥

द्विधैव कारणत्वं स्याद्

द्विधैवेति । असमवायिकाण्यन्तं निमित्तकारणत्वं च । तथाहि ।
उष्णस्पर्श उष्णस्पर्शस्यासमवायिकारणं पाकजे निमित्तम् । गुरुत्वं
गुरुत्वपतनयोरसमवायिकारणं प्रतिघाते निमित्तम् । वेगो वेगस्पन्दन-
योस्ममवायी अभिघाते निमित्तम् । द्रवत्वं द्रवस्पन्दनयोरसमवायि
संग्रहे निमित्तम् । भेरीटण्डसंयोगः शब्दे निमित्तम् । भेर्याकाशसंयोगो
ऽसमवायी । वृक्षदलद्वयविभागः शब्दे निमित्तम् । वंशदलाकाशविभा-
गोऽसमवायीति ।

गुरुत्वं गुरुत्वपतनयोरसमवायीति कपालदृष्टिगुरुत्वस्य घटदृष्टिगुरुत्वं
प्रति कपालदृष्टिपतनं प्रति चासमवायिकारणमित्यर्थः । न च शेर्यादिनि-
कपालादेः रक्षितो घटादावतीरितगुरुत्वस्पर्शकारे घटादेः कपालगतगुरुत्वपेक्षया
दिगुणं गुरुत्वं प्रतीयेत कपालगुरुत्वस्य पूर्वं विद्यमानत्वेन घटे चानिरीकृत्य
तत्सदृशस्य गुरुत्वस्योत्पत्तिकपालादिनि वागम्यं, अत्रात्रपत्तिनिद्रुगुरुत्वस्य
निम्नताहेतुतास्पर्शकाशादिभेदिक् ॥

अथ प्रादेशिको भवेत् ।

वैशेषिको त्रिभुगुणः संयोगादिद्वयं तथा ॥ ९९ ॥

प्रादेशिकोऽव्याप्यवृत्तिः ॥ ९७ ॥ ९८ ॥ ९९ ॥

चक्षुर्ग्राह्यं भवेद्रूपं द्रव्यादेरूपलम्भकम् ।

चक्षुषः सहकारि स्याच्छुक्लादिकमनेकधा ॥ १०० ॥

चक्षुरिति । रूपत्वजातिस्तु प्रत्यक्षसिद्धा । रूपशब्दोल्लेखिनी प्रतीतिर्नास्तीति चेन्मास्तु रूपशब्दप्रयोगस्तथापि नीलपीतादिष्वनुगतजातिविशेषोऽनुभवसिद्ध एव रूपशब्दाप्रयोगेऽपि नीलो वर्णः पीतो वर्ण इति वर्णविशेषोल्लेखिनी प्रतीतिरस्त्येव । एवं नील-वादि-क-मपि प्रत्यक्षसिद्धम् । न चैकैका एव नीलरूपादिव्यक्तय इत्येक-व्यक्तिवृत्तित्वानीलत्वादिकं न जातिरिति वाच्यं, नीलो नष्टो रक्त उत्पन्न इत्यादिप्रतीतेर्नीलादेरुत्पादविनाशशालितया नानात्वात् । अन्यथा एकनीलनाशे जगदनीलमापयेत् । न च नीलसमवायरक्त-समवाययोरेवोत्पादविनाशविषयकोऽसौ प्रत्यय इति वाच्यं, प्रतीत्या समवायानुल्लेखात् । न च स एवायं नील इति प्रत्ययाल्लाघवाच्चै-क्यमिति वाच्यं, प्रत्यक्षस्य तज्जातीयविषयकत्वात् । सैवेयं गुर्ज-रीतिवत् । लाघवं तु प्रत्यक्षबाधितम् । अन्यथा घटादीनामप्यैक्य-प्रसङ्गात् । उत्पादविनाशबुद्धेः समवायावलम्बनत्वापत्तेरिति । एतेन

। मूले त्रिभुविशेषगुणादीना प्रादेशिकत्वं साधर्म्यमुक्तं तत्र किं नाम प्रादेशिकत्व-मिदं आह-प्रादेशिकोऽव्याप्यवृत्तिरिति स्याधिकरणरूपादच्छेदेन स्वसमाना धिकरणान्यन्ताभावप्रतियोगित्वमित्यर्थस्तेन रूपादौ नातिव्याप्तिः ९७-९८-९९ ॥

अन्यथा नीलादीनामेकव्यक्तित्वे । ननु पूर्वोक्तप्रत्यक्षस्य तज्जातीयवि-षयत्वेऽपि लाघवादेव नीलादीनामेकैकव्यक्तित्वमस्तिवत् आह-लाघवं त्विति । प्रत्यक्षबाधितं नीलो नष्ट. रक्त उत्पन्न इत्यादिप्रत्यक्षबाधितमित्यर्थः । संयोगा-

रसादिकमपि व्याख्यातम् । चक्षुर्मात्रमिति । चक्षुर्मात्रविशेषगुणत्व-
मित्यर्थः । एवमग्रेऽपि । द्रव्यादेरिति । उपलम्भकमुपलब्धिकारणम् ।
इदमेव विवृणोति । चक्षुष इति । द्रव्यगुणकर्मसामान्यानां चाक्षुष-
मत्यक्षं प्रति उद्धतरूपं कारणम् । शुक्लादिकगनेकेष्वेति । तच्च रूपं
शुक्लनीलपीतरक्तहरितकपिशकर्षुरादिभेदादेनेकप्रकारकं भवति । ननु
कथं कर्षुरमतिरिक्तरूपं भवति । इत्थं नीलपीताश्वयवारब्धोऽश्वयी
न तावन्नीरूपोऽप्रत्यक्षप्रसङ्गात् । नापि व्याप्यवृत्तिनीलादिरूपमुत्पद्यते
पीतावच्छेदेनापि नीलोपलब्धिसङ्गात् । नाप्यवाप्यवृत्तिनीलादिक-
मुत्पद्यते व्याप्यवृत्तिजातीयगुणानामव्याप्यवृत्तिवैविरेधात् । तस्मान्नाना-
जातीय रूपैरवयविनि विजातीयं चित्रं रूपमारभ्यते । अत एवैकं चित्रमित्य-
नुभवोऽपि । नानारूपकल्पने गौरवात् । इत्थं च नीलदीनां पीता-
धारम्भे प्रतिबन्धकत्वकल्पनादवयविनि न पीताशुत्पत्तिः । एतेन
स्पर्शोऽपि व्याख्यातः । रसादिकमपि नाव्याप्यवृत्ति किंतु नाना-
जातीयरसवदवयवैरारब्धेष्ववयविनि रसाभवेऽपि न क्षतिः । तत्र रसनया-
ऽवयवरस एव दृश्यते, रसनेन्द्रियदीनां द्रव्यग्रहे सामर्थ्याभावात्,
दावतिव्याभिवारणाय—चक्षुर्मात्रविशेषगुणत्वमिति । एवमग्रेऽपीति रसस्पर्श-
लक्षणेऽप्येव श्लेषोद्वयत्वार्थः ॥ इदमेव द्रव्यादिरूपलम्भकमित्येतदेव ।
कर्षुरादिभेदात् चित्रादिभेदादित्यर्थः । अप्रत्यक्षत्वमत्तंगादिति द्रव्यचक्षुर्मात्रं
प्रति समवायिनोद्धतरूपस्य कारणत्वादिति भावः ॥ नानारूपकल्पने गौरवा-
दिति चित्रमिति प्रतीतिविषयताया अनेकत्र कल्पने गौरवादित्यर्थः । ननु
तथापि चित्ररूपाधिकरणे पटादीं स्वाश्रयसमयेनतत्त्वसम्बन्धेन तत्तुनीलदीनां
सत्वाच्चोत्पत्तातिः कथं न स्वादित्वम आह—इत्थं चेति उक्तत्वात्वेन
चित्ररूपासिद्धौ चेत्यर्थः । एतेन स्पर्शोऽपि व्याख्यात इति कौमलकटिन-
स्पर्शवदवयवामारब्धेष्ववयविनि चित्रस्पर्शोऽपि चित्ररूपोक्तरीत्यादत्तेव इति
भावः । ननु चित्ररसोऽपि व्याख्यात इति कथं नोक्तमित्यत आह—रसा-

अवयविनो नीरसत्वेऽपि क्षतेरभावात् । नव्यास्तु, तत्र व्याप्यप्यवृत्त्येव
नानारूपं, नीलादेः पीतादिप्रतिबन्धकत्वकल्पने गौरवात् ॥ अत एव—

लोहितो यस्तु वर्णन मुखे पुच्छे च पाण्डुरः ।

श्वेतः खुरविपाणाभ्यां स नीलो वृष उच्यते ।

इत्यादिशास्त्रमप्युपपद्यते । न च व्याप्याव्याप्यवृत्तिजातीययो-
र्द्रयोर्विरोधः, मानाभावत् । न च लाघवादेकं रूपम्, अनुभववि-
रोधात् । अन्यथा घटदेरेऽपि लाघवादेक्यं स्यात् । एतेन स्पर्शादि-
कमपि व्याख्यातमिति वदन्ति ॥ १०० ॥

जलादिपरमाणौ तन्नित्यमन्यत्सहेतुकम् ।

जलादीति । जलपरमाणौ तेजःपरमाणौ च रूपं नित्यम् । पृथि-
वीपरमाणुरूपं तु न नित्यं तत्र पाकेन रूपान्तरोत्पत्तेः । नहि घटस्य
पाकानन्तरं तदवयवोऽपक्व उपलभ्यते । नहि रक्तकपालस्य कपा-
लिका नीलावयवा भवति । एवं क्रमेण परमाणावपि पाकसिद्धेः ।
अन्यज्जलतेजःपरमाणुरूपभिन्नं रूपं सहेतुकं जन्यम् ॥

रसं निरूपयति—

रसस्तु रसनाग्राह्यो मधुरादिरनेकधा ॥ १०१ ॥

सहकारी रसज्ञाया नित्यतादि च पूर्ववत् ।

रसस्त्विति । सहकारीति । रसनज्ञाने रसः कारणमित्यर्थः ।
पूर्ववदिति । जलपरमाणौ रसो नित्योऽन्यः सर्वोऽपि रसोऽनित्य इत्यर्थः ॥

गन्धं निरूपयति—

घ्राणग्राह्यो भवेद्गन्धो घ्राणस्यैवोपकारकः ॥ १०२ ॥

घ्राणग्रह्य इति । उपकारक इति । घ्राणजन्यज्ञाने कारणमि-
दिक्रमपीत्यादि ॥ नवीनमतं दर्शयति—नव्यास्त्विति ॥ ९७-९८ ९९-१००

ननु पृथिवीपरमाणौ रूपान्तरोत्पत्तौ किं मानमित्यत आह—न हीति

त्यर्थः । सर्वो गन्धोऽनित्य एव ॥ १०१ ॥ १०२ ॥
सौरभश्चासौरभश्च स द्वेषा परिकीर्तितः ।

स्पर्श निरूपयति—

स्पर्शस्त्वग्निन्द्रियग्राह्यस्त्वचः स्यादुपकारकः ॥१०३॥
स्पर्श इति । उपकारक इति । स्पर्शनप्रत्यक्षे स्पर्शः कारणमित्यर्थः ॥१०३॥
अनुष्णाशीतशीतोष्णभेदात्स त्रिविधो मतः ।
काठिन्यादि क्षितावेव नित्यतादि च पूर्ववत् ॥१०४॥

अनुष्णाशीतेति । पृथिव्यां वायौ च स्पर्शोऽनुष्णाशीतः । जले
शीतः । तेजस्युष्णः । काठिन्येति । कठिनमुकुमारस्पर्शो पृथिव्यामे-
वेत्यर्थः । कठिनत्वादिकं तु न संयोगगतो जातिविशेषः, चक्षु-
र्ग्राह्यत्वापत्तेः । पूर्ववदिति । जलतेजोत्रापुपरमाणुस्पर्शा नित्यास्तद्धि-
क्षास्त्वनित्या इत्यर्थः ॥ १०४ ॥

एतेषां पाकजत्वं तु क्षितौ नान्यत्र कुत्रचित् ।

तत्रापि परमाणौ स्यात्पाको वैशेषिके नये ॥१०५॥

एतेषामिति । एतेषां रूपरसगन्धस्पर्शानाम् । नान्यत्रेति । पृथिव्यां
हि रूपरसगन्धस्पर्शपरावृत्तिरग्निसंयोगादुपलभ्यते । नहि शतथापि
ध्मायमाने जले रूपादिकं परिवर्तते । नीरे सौरभमौष्ण्यं चान्द्र-
व्यतिरेकाभ्यामौषाधिरुमेवेति निर्णयते । पवनपृथिव्योः शीतस्पर्शादि-
वत् । तत्रापि पृथिवीप्रापि मध्ये परमाणावेव रूपादीनि पाक इति
वैशेषिका वदन्ति । तेषामयमाशयः । अवयविनाऽवष्टम्भेष्ववयवेषु
पाको न संभवति परंतु बहिसंयोगेनावयवेषु विनष्टेषु स्वतन्त्रेषु पर-

कठिनत्वमुदुत्वे तु संयोगत्वव्याये जातिविशेषे इति केषाञ्चित्तं दूष-
यति कठिनत्वादिकं निति ॥ १०१-१०२-१०३-१०४ ॥

माणुषु पाकः । पुनश्च परपरमाणुसंयोगाद्द्रव्यशुकादिक्रमेण पुनर्महा-
वयविपर्यन्तमुत्पत्तिः । तेजसामतिशयित्वेगवशात्पूर्वव्यूहनाशो इति
व्यूहान्तरोत्पत्तिश्चेति । अत्र द्वयणुकादिविनाशमारभ्य कतिभिः क्षणैः
पुनरुत्पत्त्या रूपादिमद्भवतीति शिष्यपुद्गिवैशद्यार्थं क्षणप्रक्रिया । तत्र
विभागजविभागानङ्गीकारं नव क्षणा तदङ्गीकारे तु विभागः किञ्चित्सा-
पेक्षो विभागं जनयेत् । निरपेक्षस्य तच्चे कर्मत्वं स्यात् । संयोग-
विभागयोरनपेक्षं कारणं कर्मेति वैशेषिकमूत्रम् । स्वोत्तरोत्पन्नभवान्तरान-
पेक्षत्वं तस्यार्थः । अन्यथा कर्मणाऽप्युत्तरसंयोगोत्पत्तौ पूर्वसंयोगना-
शापेक्षणादव्याप्तिः स्यात् । तत्र यदि द्रव्यारम्भकसंयोगविनाशविशिष्टं
कालमपेक्ष्य विभागजविभागः स्यात्तदा दशक्षणा । अथ द्रव्यनाश-
विशिष्टं कालमपेक्ष्य विभागजविभागः स्यात्तदैकादशक्षणा । तथा हि ।
अथ नवक्षणा वह्निसंयोगात्परमाणौ कर्म । ततः परमाण्वन्तरेण वि-
भागः । तत आरम्भकसंयोगनाशः । ततो द्वयणुकनाशः । १ ।
ततः परमाणौ श्यामादिनाशः । २ । ततो रक्ताशुत्पत्तिः । ३ ।
ततो द्रव्यारम्भानुगुणा क्रिया । ४ । ततो विभागः । ५ । ततः
पूर्वसंयोगनाशः । ६ । तत आरम्भकसंयोगः । ७ । ततो द्वयणुको-
त्पत्तिः । ८ । ततो रक्ताशुत्पत्तिः । ९ । ननु श्यामादिनाशक्षणे रक्तो-
त्पत्तिक्षणे वा परमाणौ द्रव्यारम्भानुगुणा क्रियास्तिवति चेन्न, अग्नि-
संयुक्ते परमाणौ यत्कर्म तद्विनाशमन्तरेण गुणोत्पत्तिमन्तरेण च
परमाणौ क्रियान्तराभावात्कर्मवति कर्मान्तरानुत्पत्तेर्निगुणे द्रव्ये
द्रव्यारम्भानुगुणाक्रियानुपपत्तेश्च । तथापि परमाणौ श्यामादिनिवृत्ति-
समकालं रक्ताशुत्पत्तिः स्यादिति चेन्न, पूर्वरूपादिद्वयंसस्यापि रूपा-
न्तरे हेतुत्वात् । इति नवक्षणा ॥ अथ दशक्षणा । सा च आरम्भक-
संयोगविनाशविशिष्टं कालमपेक्ष्य विभागेन विभागजनने सति स्यात् ।

तच्चे विभागे । अन्यथा सूत्रस्य यथाश्रुतार्थकरत्वे । ननु द्वयणुक-

तथा हि । वह्निसंयोगाद्द्वयशुकारम्भके परमाणौ कर्म । ततो विभागः ।
 तत आरम्भकसंयोगनाशः । ततो द्वयशुकरनाशविभागजविभागौ । १ ।
 ततः श्यामनाशपूर्वसंयोगनाशौ । २ । ततो रक्तोत्पत्त्युत्तरसंयोगौ । ३ ।
 ततो वह्निनोदनजन्यपरमाणु कर्मणो नाशः । ४ । ततोऽष्टवदात्मसं-
 योगाद्रव्यारम्भानुगुणा क्रिया । ५ । ततो विभागः । ६ । ततः पूर्व-
 संयोगनाशः । ७ । तत आरम्भकसंयोगः । ८ । ततो द्वयशुकोत्पत्तिः । ९ ।
 ततो रक्तोत्पत्तिः । १० । अथैकादशक्षणा । वह्निसंयोगात्परमाणौ
 कर्म । ततो विभागः । ततो द्रव्यारम्भकसंयोगनाशः । ततो द्वयशुक-
 नाशः । १ । ततो द्वयशुकरनाशविशिष्टं कालमपेक्ष्य विभागजविभाग-
 श्यामनाशौ । २ । ततः पूर्वसंयोगनाशरक्तोत्पत्तिः । ३ । तत उत्तर-
 संयोगः । ४ । ततो वह्निनोदनजन्यपरमाणुकर्मनाशः । ५ । ततोऽ-
 ष्टवदात्मसंयोगाद्रव्यारम्भानुगुणा क्रिया । ६ । ततो विभागः । ७ ।
 ततः पूर्वसंयोगनाशः । ८ । ततो द्रव्यारम्भकोत्तरसंयोगः । ९ ।
 ततो द्वयशुकोत्पत्तिः । १० । ततो रक्तोत्पत्तिः । ११ इति मध्यमशब्दवे-
 कस्माद्द्विसंयोगान्न रूपनाशोत्पादौ तावत्कालमेकस्यामेरिस्थिरत्वात् ।
 किञ्च नाशक एव यशुत्पादकस्तदा नष्टे रूपादावग्निनाशे नीरूपाथिरं
 परमाणुः स्यात् । उत्पादकश्चेन्नाशकस्तदा रक्तोत्पत्तौ तदग्निनाशे रक्त-
 तरता न स्यात् ॥ अथ परमाण्वन्तरे कर्मचिन्तनात्पञ्चमाद्रिसंयोगेऽपि
 गुणोत्पत्तिः । तथाहि । एकत्र परमाणौ कर्म । ततो विभागः ।
 तत आरम्भकसंयोगनाशपरमाण्वन्तरकर्मणी । ततस्तु द्वयशुकरनाशः ।
 परमाण्वन्तरकर्मजन्यविभाग इत्येकः कालः । १ । ततः श्यामा-
 दिनाशः । विभागाच्च पूर्वसंयोगनाशश्चेत्येकः कालः । २ । ततो

नाशममकालोत्पन्नान्यतरसंयोगार्थेव परमाणौ श्यामनाशकञ्च रक्तोत्पादकञ्च
 चास्तिव्ययत आह किञ्चेति । उत्पादक इति नाशकतावच्छेदकमेव
 चेदुत्पादकतावच्छेदक तदेवार्थः ॥ १-५ ॥

रक्तोत्पत्तिद्रव्यारम्भकसंयोगश्चेत्यकः कालः । ३ । अथ व्यणुको-
त्पत्तिः । ४ । ततो रक्तोत्पत्तिरिति । ५ ॥ पञ्चक्षणा ॥ द्रव्य-
नाशसमकालं परमाण्वन्तरे कर्मचिन्तनात्पष्टे गुणोत्पत्तिः । तथा ।
हि । परमाणुकर्मणा परमाण्वन्तरविभागः । तत आरम्भकसंयोगनाशः ।
अथ व्यणुकनाशपरमाण्वन्तरकर्मणी । १ । अथ श्यामादिनाशः । परमा-
ण्वन्तरकर्मजश्च विभागः । २ । ततो रक्तोत्पत्तिः परमाण्वन्तरे पूर्वसं-
योगनाशश्च । ३ । ततः परमाण्वन्तरसंयोगः । ४ । ततो व्यणुकोत्पत्तिः । ५ ।
अथ रक्तोत्पत्तिरिति ६ पदक्षणा ॥ एवं श्यामनाशक्षणे परमाण्व-
न्तरेण कर्मचिन्तनात्सप्तक्षणा । तथा हि । परमाणौ कर्म ततः
परमाण्वन्तरे विभागः । तत आरम्भकसंयोगनाशः । ततो व्यणु-
कोत्पत्तिः । १ । ततः श्यामादिनाशपरमाण्वन्तरकर्मणी । २ । ततो
रक्तोत्पत्तिः परमाण्वन्तरे कर्मजविभागश्च । ३ । ततः परमाण्वन्तरेण
पूर्वसंयोगनाशः । ४ । ततः परमाण्वन्तरेण संयोगः । ५ । ततो
व्यणुकोत्पत्तिः । ६ । ततो रक्तोत्पत्तिः । ७ इति सप्तक्षणा ॥ एवं
रक्तोत्पत्तिसमकालं परमाण्वन्तरे कर्मचिन्तनादष्टक्षणा । तथाहि पर-
माणौ कर्म । ततः परमाण्वन्तरविभागः । ततः आरम्भकसंयोगनाशः
। ततो द्वयणुकनाशः । १ । ततः श्यामनाशः । २ । ततो रक्तोत्पत्ति-
परमाण्वन्तरकर्मणी । ३ । ततः परमाण्वन्तरकर्मजविभागः । ४ । ततः
परमाण्वन्तरे पूर्वसंयोगनाशः । ५ । ततः परमाण्वन्तरसंयोगः । ६ ।
ततो द्वयणुकोत्पत्तिः । ७ । अथ रक्तोत्पत्तिरित्यष्टक्षणा ॥ १०५ ॥
नैयायिकानां तु नये द्वयणुकादावपीड्यते ।

यदि पूर्वोक्तरीत्या तेज संयोगाद् घटादिरूपस्य प्रथमभ्यूहस्य नाशः
भ्यूहान्तरस्य चोत्पादः स्वीक्रियते तदा सोऽयं घट इत्यादिरूपा प्रायभिज्ञा
न स्यादुत्तरेपन्नपूर्ववयविनोरभेदाभावादिन्याभिप्रायवतां नैयायिकानां मतं दर्श-

नैयायिकानामिति । नैयायिकानां मते द्वयणुक्तादाववयविन्यपि पाको भवति । तेषामयमाशयः । अवयविनां सच्छिद्रत्वाद्दोः मूल्यायवैरन्तःप्रविष्टैरवयवेष्ववष्टेष्वापि पाको न विरुद्धयते । अनन्तावयवितन्नाशरूपने गौरवात् । इत्थं च सोऽयं घट इत्यादिप्रत्यभिज्ञाऽपि संगच्छते । यत्र तु न प्रत्यभिज्ञा तत्रावयविनाशोऽपि स्वीक्रियत इति ॥

संख्यां निरूपयितुमाह—

गणनाव्यवहारे तु हेतुः संख्याभिधीयते ॥१०६॥

गगनेति । गणनाव्यवहारासाधारणकारणं संख्येत्यर्थः ॥१०६॥

नित्येषु नित्यमेकत्वमनित्येऽनित्यमिष्यते ।

द्वित्वादयः परार्धान्ता अपेक्षाबुद्धिजा मताः ॥१०७॥

नित्येष्विति । नित्येषु परमाण्वादिषु एकत्वं नित्यम् । अनित्ये घटादिवैकत्वमनित्यमित्यर्थः । द्वित्वादयो व्यासज्यवृत्तिसंख्या अपेक्षाबुद्धिजन्याः ॥ १०७ ॥

अनेकाश्रयपर्याप्ता एते तु परिकीर्तिताः ।

अपेक्षाबुद्धिनाशाच्च नाशस्तेषां निरूपितः ॥१०८॥

द्वित्वादीनां पर्याप्तिलक्षणः कथन संबन्धोऽनेकाश्रयोऽभ्युपगम्यते । प्रथमपेक्षाबुद्धिः, ततो द्वित्वोत्पत्तिः, ततो विशेषज्ञानं द्वित्वत्वनिर्विकल्पात्मकम् । ततो द्वित्वत्वविशिष्टप्रत्यक्षम्, अपेक्षाबुद्धिनाशश्च । ततो द्वित्वनाश इति । यद्यपि ज्ञानानां द्विक्षणमात्रस्यापित्वं योग्यविभुविशेषगुणानां स्वोच्चारवर्तिगुणनाशयत्वात् । तथाप्यपेक्षाबुद्धेस्त्रिक्षणावस्थायित्वं कल्प्यते अन्यथा निर्विकल्पकालेऽपेक्षाबुद्धिनाशानन्तरं द्वित्वस्यैव नाशः स्यात् न तु द्वित्वमन्यक्षं, तदानीं विषयाभावात् । विद्यमानस्यैव चक्षुरादिना ज्ञानजननोपगमात् । तस्माद्द्वित्वप्रत्यक्षादिकमपेक्षाबुद्धेर्नाशकं कल्प्यते । न चापेक्षाबुद्धिनाशात्कथं द्वित्वनाश इति वाच्यं, कालान्तरे द्वित्वप्रत्यक्षाभावात् । अपेक्षाबुद्धिस्तदुत्पादिका तत्राशाशान्नाश इति कल्पनात् । अत एव तत्पूरुपीयापेक्षाबुद्धिजन्याद्वित्वादिकं तेनैव गृह्यत इति कल्प्यते । न चापेक्षाबुद्धेर्द्वित्वप्रत्यक्षे कारणत्वमस्त्विति वाच्यं, लाघवेन द्वित्वं प्रत्येव कारणत्वस्यैवोचितत्वात् । अतीन्द्रिये

अनेकाश्रय इति उभयाद्याश्रय इत्यर्थः । तथाच पर्याप्तिसम्बन्धेन द्वित्वस्यैकस्मिन्नसत्त्वात्पूर्वोक्तप्रतीत्योः सद्भावस्तद्भावसंभव इति भावः ॥ चतुर्थक्षणेऽपेक्षाबुद्धिनाशात्प्रथमक्षणे द्वित्वादीनां नाशो भवति न तु तृतीयक्षणेऽपेक्षाबुद्धिनाशाच्चतुर्थे द्वित्वनाश इति बोधयितुं भूमिकां रचयति—प्रथममित्यादिना । द्वित्वप्रत्यक्षं द्वित्वत्वविशिष्टं लौकिकप्रत्यक्षमित्यर्थः । अन्यथा अपेक्षाबुद्धेर्द्विक्षणमात्रावस्थायित्वे । लौकिकप्रत्यक्षं प्रति विषयस्य कार्यसहभाधिवेनैव हेतुत्वमिति ज्ञापयितुमाह—विद्यमानस्यैवेति । उपसंहरन्नाह—तस्मादिति । अत एव पूर्वोक्तमुक्त्यापेक्षाबुद्धेर्द्वित्वोत्पादकत्वस्यावश्यकत्वादेव । ननु कालान्तरे द्वित्वप्रत्यक्षकारणाय द्वित्वप्रत्यक्षं प्रत्येवापेक्षाबुद्धेः कारणत्वमस्तु न तु द्वित्वं प्रतीयाशंकते—नचेति । लाघवेनेति द्वित्वप्रत्यक्षत्वापेक्षया द्वित्वस्य कार्यतावच्छेदकत्वे लाघवादिति भावः । ननु व्यणुकगतपरिमाणस्यासमवायिकारणत्वं द्व्यणुकगतत्रित्वसंसर्गस्य सिद्धान्तसिद्धिः परिमाणस्य स्वसमानजातीयोत्कृष्टपरिमाण-

द्वयणुकादावपेक्षाबुद्धिर्योगिनाम् । सर्गादिकालीनपरमाण्वादावीश्वरीयापे-
क्षाबुद्धिर्ब्रह्माण्डान्तरवर्तिर्योगिनामपेक्षाबुद्धिर्बाह्वित्वादिकारणमिति १०८।

अपेक्षबुद्धिः फेत्यत आह—

अनेकैकत्वबुद्धिर्या साऽपेक्षाबुद्धिरिष्यते ।

अनेकेति । अयमेकोऽयमेक इत्याकारिका इत्यर्थः । इदं तु
बोध्यम् । यत्रानियतैकत्वज्ञानं तत्र त्रित्वादिभिन्नं बहुत्वसंख्योत्प-
द्यते यथा सेनावनादाविति कन्दलीकारः । आचार्यास्तु त्रित्वादि-
कमेव बहुत्वं मन्यन्ते । तथा च त्रित्वत्वादिख्यापिका बहुत्वत्व-
जातिर्नातिरिच्यते । सेनावनादावृत्पन्नेऽपि त्रित्वादौ त्रित्वत्वाद्यग्रहो
दोषात् । इत्थं चेत्तौ बहुतरेयं सेनेति प्रतीतिरूपपद्यते । बहुत्वस्य
संख्यानन्तरत्वे तु तत्तारतम्याभावात्प्रपद्येतेत्यवधेयम् ॥

परिमाणं निरूपयति—

जनकत्वेन द्वयणुकपरिमाणस्य तत्रासमवायिकारणरसाभावान्ना च द्वयणुकादा-
वपे द्वित्वोत्पत्तिसम्भवेन नापेक्षाबुद्धेर्द्वित्यं प्रथि कारणव सम्भवति द्वयणुक-
द्वयातीन्द्रियत्वेन तत्रासमवादीनामपेक्षाबुद्धेरनुदयादित्यत आह—अतीन्द्रिये
द्वयणुकादाविति । ननु द्वयणुकादिगतमहाया ईश्वरीयापेक्षाबुद्धिर्जगत्प्रवर्धो-
कारे द्वयणुकादिगतसख्याया नित्यत्वमेव स्याद्वीश्वरीयापेक्षाबुद्धेर्नित्यत्वेन तन्ना-
शात्तन्नाशा इति वक्तुमशक्यत्वादित्यत आह—ब्रह्मांडान्त इति ॥ १०८ ॥

इत्यतः इत्याकाक्षातः । अयमेकोऽयमेक इति तद्व्यक्तिमात्रनिष्ठत्वा-
वच्छिन्नविशेष्यनानिरूपितैकत्वप्रकारत्वात्प्रातिगो बुद्धिरपेक्षाबुद्धिरिति भावः ॥
आचार्या उदयनाचार्याः । ननु यदि बहुत्वसंख्यया त्रित्वादिस्वरूपैव तदा
सेनावनादौ त्रित्वाद्यग्रहो न स्यादित्यत आह—सेनावनादाविति । दोषादिति
नियतानैकत्वज्ञानाभावादित्यर्थः । त्रित्वत्वप्रकारकप्रत्यक्षे नियतानैकत्वज्ञान-
स्य हेतुत्वात्तं विना न त्रित्वत्वप्रकारकं प्रत्यक्षमिति भावः ॥ उपपद्यत इति
त्रित्वापेक्षया चतुष्टादिरूपे बहुत्वे तारतम्यसत्त्वात्तादृशप्रतीतिसम्भवादिति भावः १०९

परिमाणं भवेन्मानव्यवहारस्य कारणम् ॥१०९॥

परिमाणमिति । परिभिन्निव्यवहारासाधारणं कारणं परि-
माणमित्यर्थः ॥ १०९ ॥

अणु दीर्घं महद्ध्रस्वमिति तद्भेद ईरितः ।

तद्यतुर्विधं अणु महद् दीर्घं ह्रस्वं चेति—

अनित्ये तद अनित्यं स्यान्नित्ये नित्यमुदाहृतम् ॥११०॥

संख्यातः परिमाणाच्च प्रचयादपि जायते ।

तत्परिमाणम् । नित्यमित्यत्र परिमाणमित्यनुपज्यते । जा
यत इत्यत्रापि परिमाणमित्यनुवर्तते । अनित्यमिति पूर्वोक्तान्वि-
तम् । तथा चानित्यपरिमाणं संख्याजन्यं परिमाणजन्यं प्रचय-
जन्यं चेत्यर्थः ॥

तत्र संख्याजन्यमुदाहरति—

अनित्यं द्वयणुकादौ तु संख्याजन्यमुदाहृतम् १११

अनित्यमिति । द्वयणुकस्य त्रसरेणोश्च परिमाणं भ्रति परमाणु-
परिमाणं द्वयणुकपरिमाणं वा न कारणं परिमाणस्य स्वसमानजाती-
योत्कृष्टपरिमाणजनकत्वात् । द्वयणुकस्याणुपरिमाणं तु परमाण्वणुत्वा-
पेक्षया नोत्कृष्टम् । त्रसरेणुपरिमाणं तु न सजातीयम् । अतः पर-
माणौ द्वित्वसंख्या द्वयणुकपरिमाणस्य द्वयणुके त्रिन्वसंख्या च त्रसरेणु-
परिमाणस्यासमवायिकारणमित्यर्थः ॥ ११० ॥ १११ ॥

अणु महदित्यादि अत्र यद्यप्यणुत्वह्रस्वत्वयोर्महत्त्वदीर्घत्वयोश्चाभेदः

सम्भवति तथाप्यणुरितिप्रतीतिविषयेऽपि ह्रस्व इति व्यवहाराभावादयं महानिति

प्रतीतिविषयेऽपि दीर्घ इति व्यवहाराभावाच्च ह्रस्वन्दीर्घत्वयोरणुत्वात्पेक्षयाऽ

तिरिक्ततया विभाग इति ध्येयं ॥ संख्याजन्यमिति संख्यामात्रजन्यमि-

त्यर्थः एवमप्येऽपि ॥ ११० ॥ १११ ॥

परिमाणजन्यं परिमाणमुदाहरति—

परिमाणं घटादौ तु परिमाणजमुच्यते ।

प्रचयः शिथिलाख्यो यः संयोगस्तेन जन्यते ॥११२॥

परिमाणं तूलकादौ

परिमाणं घटादाविति । घटादिपरिमाणं कपालादिपरिमाणजन्यम् ॥

प्रचयजन्यमुदाहर्तुं प्रचयं निर्वक्ति प्रचय इति ॥ ११२ ॥

नाशस्त्वाश्रयनाशतः ।

परिमाणं चाश्रयनाशादेव नश्यतीत्याह । नाश इति । अर्थात्परिमाणस्यैव । न चावयविनाशः कथं परिमाणनाशकः सत्यवयवविभिन्नचतुरादिपरमाणुविश्लेषे तदुपचये चावयविनः प्रत्यभिज्ञानेऽपि परिमाणान्तरस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वादिति वाच्यम्, परमाणुविश्लेषे हि द्व्यणुकस्य नाशोऽवश्यमभ्युपेयस्तन्नाशे च त्रसरणुकनाशः एवं क्रमेश महावयविनो नाशस्यावश्यकत्वात् । सति च नाशकेऽनभ्युपगममात्रेण नाशस्यापलपितुमशक्यत्वात् । शरीरादाववयवोपचयेऽसमवायिकारणनाशस्यावश्यकत्वादावयविनाश आवश्यकः । न च पट्टादिविनाशेऽपि तन्त्वन्तरसंयोगात्परिमाणाधिक्यं न स्यादिति वाच्यं, तत्रापि चेमाद्यभिधानेनासमवायिकारणतन्तुसंयोगनाशात्पटनाशस्यावश्यकत्वात् । किंच तन्त्वन्तरस्य तत्पटावयवत्वे पूर्वं तत्पट एव न स्यात्तन्त्वन्तररूपकारणभावात् । तन्त्वन्तरस्यावयवत्वाभावे च न तेन परिमाणाधिक्यं संयुक्तद्रव्यान्तरस्यत् । तस्मात्तत्र तन्त्वन्तरसंयोगे सति पूर्वपटनाशस्ततः पटन्तरोत्परिचित्यवश्यं स्वीकार्यम् । अवयविनः प्रत्यभिज्ञानं तु

अर्थादिति अर्थोत्पादितोपादित्यर्थः । ननु यत्किञ्चिदवयवविश्लेषेऽवयविनाशाभ्युपगमेऽवयविनः प्रत्यभिज्ञानं न स्यादित्यत आह—अवयविनः प्रत्यभिज्ञानं त्विति ।

साजात्येन दीपकालिकादिवत् । न च पूर्वतन्त्र एव तन्त्रन्तरसह-
कारात्पूर्वपटे सत्येव पटान्तरमारभन्तामिति वाच्यं, मूर्तयोः समान-
देशताविरोधाच्च पटद्वयासंभवादेकदा नानाद्रव्यस्य तत्रोपलम्भस्य
बाधितत्वाच्च । तस्मात्पूर्वद्रव्यस्य प्रतिबन्धकस्य विनाशे द्रव्यान्तरोत्पत्ति-
रित्यवश्यमभ्युपेयत्वात् ॥

पृथक्त्वं निरूपयति—

संख्यावत्तु पृथक्त्वं स्यात्पृथक्प्रत्ययकारणम् ॥११३॥

अन्योन्याभावतो नास्य चरितार्थत्वमिष्यते ।

अस्मात्पृथागिदं नेति प्रतीतिर्हि विलक्षणा ॥११४॥

संख्यावादिति । पृथक्प्रत्ययासाधारणं कारणं पृथक्त्वम् । तन्नित्यतादिकं संख्यावत् । तथाहि । नित्येष्वेकत्वं नित्यम् । अनित्येष्वनित्यम् । अनित्यमेकत्वं तु आश्रयाद्वितीयक्षणे चोत्पद्यते आश्रयनाशान्नश्यति । तथैकपृथक्त्वमपि । द्विन्वादिबच्च द्विपृथक्त्वादिकमपीत्यर्थः । नन्वयमस्मात्पृथागित्यादावन्योन्याभावो भासते तत्कथं पृथक्त्वं गुणान्तरं स्वीक्रियते, न चास्तु पृथक्त्वं, न त्वन्योन्याभाव इति वाच्यं. रूपं न घट इति प्रतीत्यनापत्तेः । नहि रूपे घटावधिकं पृथक्त्वं गुणान्तरमस्ति न वा घटे घटावधिकं पृथक्त्वमस्ति येन परंपरासंबन्धः कल्प्यत इत्यत आह । अस्मादिति । ननु शब्दवैलक्षण्यमेव न त्वर्थवैलक्षण्यमिति चेन्न, विनार्थभेदं घटात्पृथगितिबद्धयो

पृथक्त्वं निरूपयतीति । नहि रूपे घटावधिकं पृथक्त्वं गुणान्तरमस्तीति गुणे गुणानंगीकारादिति भावः परंपरासंबन्धः स्वाश्रयाश्रयस्वरूपः संबन्ध इत्यर्थः । न त्वर्थवैलक्षण्यमिति तथा च यथा घटः कलश इत्यादिशब्दवैलक्षण्येऽपि न पदार्थभेदस्तथा पूर्वोक्तप्रतीत्येर्भेदेऽपि

न पट इत्यत्रापि पञ्चमीप्रसङ्गात् । तस्माद्यदर्थयोगे पञ्चमी सांख्यो
नखर्यान्योन्वाभावतो भिन्नो गुणान्तरं कल्पयत इति ॥११३॥११४॥

संयोगं निरूपयति—

अप्राप्तयोस्तु या प्राप्तिः सैव संयोग ईरितः ।

कीर्तितस्त्रिविधस्त्वेष आद्योऽन्यतरकर्मजः ॥ ११५ ॥

अप्राप्तयोरिति । तं विभजते । कीर्तित इति । एष संयोगः ॥११५॥

तथोभयक्रियाजन्यो भवेत्संयोगजोऽपरः ।

आदिमः श्येनशैलादिसंयोगः परिकीर्तितः ॥११६॥

मेपयोः संनिपातो यः स द्वितीय उदाहृतः ।

संनिपातः संयोगः । द्वितीय उभयकर्मजः ॥

कपालतरुसंयोगात्संयोगस्तरुकुम्भयोः ॥ ११७ ॥

तृतीयः स्यात्कर्मजोऽपि द्विधैव परिकीर्तितः ।

अभिघातो नोदनं च शब्दहेतुरिहादिमः ॥११८॥

शब्दाहेतुर्द्वितीयः स्याद्

तृतीय इति । संयोगजसंयोग इत्यर्थः । तृतीयः स्यादिति
पूर्वेणान्वितम् । आदिमः अभिघातः । द्वितीयो नोदनाख्यः संयोग इति ॥

शब्दवैलक्षण्यमेव नार्थवैलक्षण्यमिति भावः । पञ्चमीप्रसङ्गादिति तत्र मतानुसारेण
अन्यारादिति सूत्रेणान्योन्याभावात्तदर्थकपदयोगे पंचमीविधानादिति भावः । भिन्न-
गुणान्तरमिति अन्यारादिसूत्रेण वृथत्तत्राचकपदयोग एव पंचमी विधा-
यते न रान्योन्याभावात्तदर्थकपदयोगेऽपीत्येवमर्थमन्योन्याभावाद्भिन्नं वृथत्वं गु-
णान्तरमिति भावः ॥ ११२ ॥ ११३ ॥ ११४ ॥

संयोगं निरूपयतीति । तं संयोगमित्यर्थः ॥ ११५ ॥

विभक्तप्रत्ययकारणं विभागं निरूपयति—

विभागोऽपि त्रिधा भवेत् ।

एककर्मोद्भवस्त्वाद्यो द्वयकर्मोद्भवोऽपरः ॥ ११९ ॥

विभागजस्तृतीयः स्यात्तृतीयोऽपि द्विधा भवेत् ।

हेतुमात्रविभागोऽद्यो हेत्वहेतुविभागजः ॥ १२० ॥

विभाग इति । एककर्मति । तदुदाहरणं तु इयेनशैलविभागादिकं पूर्ववद्बोध्यम् । तृतीयोऽपि विभागजविभागः, कारणमात्रविभागजन्यः कारणाकारणविभागजन्यश्चेति । अद्यस्तावत् । यत्र कपाले कर्म ततः कपालद्वयविभागः ततो घटारम्भकसंयोगनाशः । ततो घटनाशः । ततस्तेनैव कपालविभागेन सकर्मणः कपालस्याकाशविभागो जन्यते । तत आकाशसंयोगनाशः । तत उत्तरदेशसंयोगः । ततः कर्मनाश इति । न च तेन कर्मणैव फलं देशान्तरविभागो न जन्यत इति वाच्यम्, एकस्य कर्मण आरम्भकसंयोगप्रतिद्वन्द्विविभागजनकत्वस्यानारम्भकसंयोगप्रतिद्वन्द्विविभागजनकत्वस्य च विरोधात् । अन्यथा विरुक्तकमलकुम्भलभङ्गमसङ्गात् । तस्माद् यदीदमनारम्भकसंयोगप्रतिद्वन्द्विविभागं जनयेत्तदारम्भकसंयोगप्रतिद्वन्द्विविभागं न जनयेत् । न च कारणाविभागेनैव द्रव्यनानात्पूर्वं कुतो देशान्तरविभागो न जन्यत इति वाच्यम्, आरम्भक-

पूर्ववदिति संयोगवदित्यर्थः आद्यःकारणमात्रविभागजन्यः आरम्भकसंयोगेत्यादि आरम्भकसंयोगः कपालद्वयसंयोगादिस्तत्प्रतिद्वन्द्विस्तत्राशकः, अनारम्भकसंयोगः कपालाकाशसंयोगादिः अन्यथा आरम्भकसंयोगप्रतिद्वन्द्विविभागजनककर्मणोऽनारम्भकसंयोगप्रतिद्वन्द्विविभागजनककर्मणश्चेत्ये । भङ्गमसंग इति तत्राप्यवच्छेदेनानारम्भकसंयोगप्रतिद्वन्द्विविभागजनककर्मणः सत्त्वात्तेन कर्मणा मृदावच्छिन्नारम्भकसंयोगप्रतिद्वन्द्विविभागोपत्तिसम्भवादिति

संयोगमतिद्वन्द्वविभागवतोऽवयवस्य सति द्रव्ये देशान्तरविभागासंभ-
वात् । द्वितीयस्नावत् । यत्र हस्तक्रियया हस्ततरुविभागस्ततः शरीरे-
ऽपि विभक्तप्रत्ययो भवति तत्र शरीरतरुविभागे हस्तक्रिया न कारणं
व्यधिकरणत्वात् । शरीरे तु क्रिया नास्त्येव अवयविकर्मणो यावद्व्य-
यत्कर्मनियतत्वात् । अतस्तत्र कारणाकारणाविभागेन कार्याकार्यवि-
भागो जन्यत इति । अत एव विभागो गुणान्तरम् । अन्यथा शरीरे
विभक्तप्रत्ययो न स्यात् । अतः संयोगनाशेन विभागो नान्यथासिद्धो
भवति ॥ ११६ ॥—१२० ॥

परापरव्यवहारनिमित्ते परत्वापरत्वे निरूपयति—

परत्वं चापरत्वं च द्विविधं परिकीर्तितम् ।

दैशिकं कालिकं चापि मूर्त एव तु दैशिकम् ॥ १२१ ॥

परत्वं मूर्तसंयोगभूयस्त्वज्ञानतो भवेत् ।

अपरत्वं तदल्पत्वबुद्धितः स्यादिति रितम् ॥ १२२ ॥

परत्वं चेति ॥ दैशिकमिति । दैशिकपरत्वं बहुतरमूर्तसंयोगान्तरि-
तत्वज्ञानादुपपद्यते । एवं तदल्पत्वज्ञानादपरत्वमुपपद्यते । अत्रापि-
न्वार्थं पञ्चम्यपेक्षा । यथा पाटलिपुत्रात्काशीमपेक्ष्य प्रयागः परः ।
पाटलिपुत्रात्कुरुक्षेत्रमपेक्ष्य प्रयागोऽपर इति ॥ १२१ ॥ १२२ ॥

भावः ॥ द्वितीयः कारणकारणविभागजन्य इत्यर्थः व्यधिकरणत्वादिति
समवायेन जायमानं विभागं प्रति समवायेन क्रियायाः कारणत्वादिति भावः
अत एव वक्ष्यमाणमुत्पैवेत्यर्थः ॥ ११६—११७—११८—११९—१२० ॥

दैशिकपरत्वस्य निमित्तकारणमाह—बहुतरेति । पंचम्यपेक्षेति क्षयनस्मादे-
रादपेक्षया बहुतरमूर्तसंयोगानुयोगीत्याकारिकपेक्षाबुद्धितः परत्वमेवमयमनोदत्त-
पेक्षयात्यन्तरमूर्तसंयोगानुयोगी यपेक्षाबुद्धितो दैशिकमपरत्वं चोत्पद्यत इति भावः
१२१ः १२२ ॥ .

तयोरसमवायी तु दिक्संयोगस्तदाश्रये ।

तयोर्दैशिकपरत्वापरत्वयोः । असमवायी असमवायि कारणम् ।
तदाश्रये दैशिकपरत्वापरत्वाश्रये ॥

दिवाकरपरिस्पन्दभूयस्त्वज्ञानतो भवेत् ॥ १२३ ॥

परत्वमपरत्वं तु तदीयाल्पत्वबुद्धितः ।

अत्र त्वसमवायी स्यात्संयोगः कालपिण्डयोः ॥ १२४ ॥

दिवाकरेति । अत्र परत्वापरत्वं कालिकं ब्राह्मम् । यस्य सूर्य-
परिस्पन्दापेक्षया यस्य सूर्यपरिस्पन्दोऽधिकः स ज्येष्ठः । यस्य न्यूनः
स कनिष्ठः । कालिकपरत्वापरत्वे जन्यद्रव्य एव । अत्र कालिकपर-
त्वापरत्वयोः ॥ १२३ ॥ १२४ ॥

अपेक्षाबुद्धिनाशेन नाशस्तेषां निरूपितः ।

तेषां कालिकदैशिकपरत्वापरत्वानाम् ॥

क्रममाप्तां बुद्धिं निरूपयितुमाह-

बुद्धेः प्रपञ्चः प्रागेव प्राशयो त्रिनिरूपितः ॥ १२५ ॥

अथावशिष्टोऽप्यपरः प्रकारः परिदर्श्यते ।

अप्रमा च प्रमा चेति ज्ञानं द्विविधमिष्यते ॥ १२६ ॥

तच्छून्ये तन्मतिर्या स्यादप्रमा सा निरूपिता ।

तत्प्रपञ्चो विपर्यासः संशयोऽपि प्रकीर्तितः ॥ १२७ ॥

जन्यद्रव्ये एवेति नित्ये परत्वापरत्वयोर्पदाक्रमं निमित्तकारणस्य दि-
वाकरपरिस्पन्दभूमस्त्वान्तरितज्ञानस्य तद्विधीयस्त्वन्तरितस्त्वज्ञानस्य चाभावा-

सुद्धेरिति । तत्रापमां निरूपयति । तच्छून्य इति । तदभाववति
तत्प्रकारकं ज्ञानं भ्रम इत्यर्थः । तत्प्रपञ्चोऽप्रमामपञ्चः ॥ १२५-१२६-१२७ ॥

आद्यो देहेष्वात्मबुद्धिः शङ्खादौ पीततामतिः ।

भवेन्निश्वयरूपा या संशयोऽथ प्रदर्श्यते ॥ १२८ ॥

आद्य इति । विपर्यय इत्यर्थः । शरीरादौ निश्चयरूपं यदा-
त्मत्वप्रकारकं ज्ञानं गौरोऽहमित्याकारकम् । एवं शङ्खादौ पीतः
शङ्ख इत्याकारकं यज्ज्ञानं निश्चयरूपं तद् भ्रम इति ॥ १२८ ॥

किंस्विन्नरो वा स्थाणुर्वेत्यादिबुद्धिस्तु संशयः ।

तदभावाप्रकारा धीस्तत्प्रकारा तु निश्चयः ॥ १२९ ॥

किंस्विदिति । किंस्विदिति वितर्के । निश्चयस्य लक्षणमाह ।
तदभावेति । तदभावाप्रकारकं तत्प्रकारकं ज्ञानं निश्चयः ॥ १२९ ॥

संशयं लक्षयति—

स संशयो मतिर्या स्यादेकत्राभावभावयोः ।

साधारणादिधर्मस्य ज्ञानं संशयकारणम् ॥ १३० ॥

स संशय इति । एकधर्मिकविरुद्धभावाभावप्रकारं ज्ञानं संशय
इत्यर्थः । साधारणेति । उभयसाधारणो यो धर्मस्तज्ज्ञानं संशयका-

दिति भावः । तदभाववतीति तदभाववति घटत्वाद्यभाववति तत्प्रकारकं
घटत्वादिप्रकारकं ज्ञानं पाकणादौ घट इत्याद्याकारकं ज्ञानं भ्रम इत्यर्थः ॥ १२३-
१२४-१२५-१२६-१२७-१२८

तदभावाप्रकारकमिति घटत्वाभावाद्यप्रकारकान्ये सन्नि घटत्वादिप्रका-
रकं ज्ञानं घटादौ घट इत्याद्याकारकं ज्ञानं तदेव प्रमेत्यर्थः ॥ १२९

एकधर्मिकेति हृदयवतीति यद्विस्तदभाववन्ताभितिज्ञानेऽतिग्याप्तिशरणाय ए-
कधर्मिकेति, वृधः कृपिसंयोगवान् तदभावाद्येत्स्यादावातिग्याप्तिशरणाय विद-

रणम् । ययोच्चैस्तरत्वं स्थाणुपुरुषसाधारणं ज्ञात्वाऽयं स्थोर्णुर्न वेति
संदिग्धे । एवमसाधारणधर्मज्ञानमपि कारणम् । यथा शब्दत्वस्य
नित्यानित्यव्यावृत्तत्वेन शब्दे ऽदृष्टीतत्वाच्छब्दो नित्यो न वेति संदि-
ग्धे । विप्रतिपत्तिस्तु शब्दो नित्यो न वेत्यादिशब्दात्मिका न सं-
शयकारणं, शब्दव्याप्तिज्ञानादीनां निश्चयमात्रजनकत्वस्वभावात् । किंतु
तत्र शब्देन कोटिद्वयज्ञानं जन्यते, संशयस्तु मानस एवेति । एवं
ज्ञाने प्रामाण्यसंशयाद्विषयसंशय इति । एवं व्याप्यसंशयादपि
व्यापकसंशय इत्यादिकं बोध्यम् । किंतु संशये धर्मिज्ञानं धर्मोन्द्रिय-
संनिकर्षो वा कारणमिति ॥ १३० ॥

दोषोऽप्रमाया जनकः प्रमायास्तु गुणो भवेत् ।

पित्तदूरस्त्रादिरूपो दोषो नानाविधः स्मृतः ॥१३१॥

दोष इति । अप्रमां प्रति दोषः कारणम् । प्रमां प्रति गुणः
कारणम् । तत्रापि पित्तादिरूपा दोषा अननुगताः । तेषां कारणव-

देति, घटो द्रव्य पृथ्वी च यादावतिव्याभिवारणाय भावाभावेति । सन्दि-
ग्ध इति नन्देहवान् भवतीत्यर्थः । साधारणसाधारणधर्मज्ञानजन्यसंशयव-
द्विप्रतिपत्तिवाक्यजन्योऽपि तृतीयसंशयो भवतीति कस्याचिन्मनिरासायाह—विद्व-
तिपत्तिस्त्विति नन्वेवं तर्हि “ समानानेकधर्मोपपत्तेर्द्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनु-
पलब्ध्यव्यवस्थातश्च विषयापेक्षो विमर्श ” इति सूत्रोक्तपंचम्या का गतिरित्यत
आह किन्त्विति सूत्रोक्तपंचम्याः प्रयोजकत्वमेवार्थः इतिभावः । प्रामा-
ण्यसंशयाद्विषयसंशयइति अत्र प्रामाण्यपक्षप्रामाण्यस्याप्युपलक्षकमिति, इत्या-
दिकामिति आदिना साधनाव्यापकव्याप्यादसंशयासाध्यव्याप्यवसंदेहादिर्बोध्यः
ननु धर्मिज्ञानस्यापि संशयहेतुत्वात्तद्वृत्तः संशयविभागः कथं न प्रदर्शित
इत्यत आह किन्त्वित्यादि ॥ १३० ॥

पित्तादीत्यादिना मण्डुकवसांजनादेः परिग्रहः । अनुमानसिद्धत्वमेवाह

बुद्धेरिति । तत्राममां निरूपयति । तच्छून्य इति । तदभाववति तत्प्रकारकं ज्ञानं भ्रम इत्यर्थः । तत्प्रकारकं ज्ञानं तत्प्रकारकं ॥ १२५-१२६-१२७ ॥

आद्यो देहेन्द्रात्मबुद्धिः शङ्खादौ पीततामतिः ।
भवेन्निश्चयरूपा या संशयोऽथ प्रदर्श्यते ॥ १२८ ॥

आद्य इति । विपर्यास इत्यर्थः । शरीरादौ निश्चयरूपं यदात्मत्वप्रकारकं ज्ञानं गौरोऽहमित्याकारकम् । एवं शङ्खादौ पीतः शङ्ख इत्याकारकं यज्ज्ञानं निश्चयरूपं तद् भ्रम इति ॥ १२८ ॥

किंस्त्रिन्नरो वा स्याणुर्वेत्यादिबुद्धिस्तु संशयः ।

तदभावाप्रकारा धीस्तत्प्रकारा तु निश्चयः ॥ १२९ ॥

किंस्त्रिदिति । किंस्त्रिदिति वितर्के । निश्चयस्य लक्षणमाह । तदभावेति । तदभावाप्रकारकं तत्प्रकारकं ज्ञानं निश्चयः ॥ १२९ ॥

संशयं लक्षयति—

स संशयो मतिर्या स्यादेकत्राभावभावयोः ।

साधारणादिधर्मस्य ज्ञानं संशयकारणम् ॥ १३० ॥

स संशय इति । एकधर्मिकविरुद्धभावाभावप्रकारं ज्ञानं संशय इत्यर्थः । साधारणेति । उभयसाधारणो यो धर्मस्तज्ज्ञानं संशयका-

दिति भावः । तदभाववतीति तदभाववति घटत्वाद्यभाववति तत्प्रकारकं घटत्वादिप्रकारकं ज्ञानं प्रायणादौ घट इत्याद्याकारकं ज्ञानं भ्रम इत्यर्थः ॥ १२५-१२४-१२५-१२६-१२७-१२८

तदभावाप्रकारकमिति घटत्वाभावाद्यप्रकारकत्वे सति घटत्वादिप्रकारकं ज्ञानं घटादौ घट इत्याद्याकारकं ज्ञानं तदेव प्रमेत्यर्थः ॥ १२९

एकधर्मिकेति हृदपर्वती यद्वितदभाववन्तावितिज्ञानेऽतिव्याप्तिवारणाय एकधर्मिकेति, इक्षः कृपिसंयोगवान् तदभाववन्तेश्चेत्यादावतिव्याप्तिवारणाय विद-

संनिकर्षो गुणस्तु स्यादथ त्वनुमितौ पुनः ॥१३२॥

पक्षे साध्यविशिष्टे तु परामर्शो गुणो भवेत् ।

शक्ये सादृश्यवृद्धिस्तु भवेदुपमितौ गुणः ॥१३३॥

शाब्दबोधे योग्यतायास्तात्पर्यस्याथ वा प्रमा

गुणः स्याद्भ्रमभिन्नं तु ज्ञानमत्रोच्यते प्रमा ॥१३४॥

प्रत्यक्षे त्विति । प्रत्यक्षे विशेषणवद्विशेष्यसंनिकर्षो गुणः । अनु-
मितौ साध्यवति साध्यव्याप्यवैशिष्ट्यज्ञानं गुणः । एवमग्रेऽप्युक्तम् ।
प्रमां निरूपयति—भ्रमभिन्नमिति ॥ १३२ ॥ १३३ ॥ १३४ ॥

ननु यत्र शुक्तिरजतयोस्मिन् रजते इति ज्ञानं जातं तत्र रजतां-
शेऽपि प्रमा न स्यात्, तज्ज्ञानस्य भ्रमभिन्नत्वाभावादत आह—

अथ वा तत्प्रकारं यज्ज्ञानं तद्वद्विशेष्यकम् ।

तत्प्रमा न प्रमा नापि भ्रमः स्यान्निर्विकल्पकम् ॥१३५॥

प्रकारतादिशून्यं हि संबन्धानवगाहि तत् ।

तद्वद्विशेष्यकत्वे सति तत्प्रकारकं ज्ञानं प्रमेत्यर्थः । अथैवं स्मृते-
रपि प्रमात्वं स्यात् । ततः किमिति चेत्तथा सति तत्करणस्यापि
प्रमाणान्तरत्वं स्यादिति चेन्न, यथार्थानुभवकरणस्यैव प्रमाणत्वेन विव-
क्षितत्वात् । इदं तु बोध्यम् । येन सम्बन्धेन यद्वृत्ता तेन संबन्धेन
तद्वद्विशेष्यकत्वं तेन संबन्धेन तत्प्रकारकत्वं वाच्यम् । तेन कपा-
लादौ संयोगादिना घटादिज्ञाने नातिव्याप्तिः । एवं सति निर्विकल्पकं
प्रमा न स्यात्तस्य सप्रकारकत्वाभावादत आह । न प्रमेति । ननु

एवमग्रेऽपीति उपमित्यादौ शक्ये सादृश्यज्ञानमित्यादिस्वरूपः मूढोक्तो
गुणो बोध्य इत्यर्थः ॥ १३२-१३३-१३४

दृक्षे कपिसंयोगज्ञानं भ्रमः प्रमा च स्यादिति चेन्न, प्रतियोगिव्याधि-
करणकपिसंयोगाभाववति संयोगज्ञानस्य भ्रमत्वात् । न च दृक्षे संयो-
गाभावावच्छेदेन संयोगज्ञानं भ्रमो न स्यात्तत्र संयोगाभावस्य प्रति-
योगिसमानाधिकरणत्वादिति वाच्यं, तत्र संयोगाभावावच्छेदेन संयोग-
ज्ञानस्य भ्रमत्वाल्लक्ष्यस्याननुगमाल्लक्षणाननुगमेऽपि न क्षतिः ॥

प्रमात्वं न स्वतो ग्राह्यं संशयानुपपत्तितः ॥ १३६ ॥

प्रमात्वमिति । भीमांसका हि प्रमात्वं स्वतो ग्राह्यमिति वदन्ति ।
तत्र गुरुणां मते ज्ञानस्य स्वप्रकाशत्वात्तज्ज्ञानप्रामाण्यं तेनैव दृश्यत
इति । भट्टानां मते ज्ञानमतीन्द्रियम् । ज्ञानजन्या ज्ञातता प्रत्यक्षा तथा
च ज्ञानमनुमीयते । सुरारिमिश्राणां मतेऽनुव्यवसायेन ज्ञानं गृह्यते । सर्वे-
पामपि मते तज्ज्ञानविषयकज्ञानेन तज्ज्ञानप्रामाण्यं गृह्यते । विषयनिरूप्यं

भ्रमः प्रमा च स्यादिति लक्षणद्वयस्य तत्र सत्त्वादितिभावः, नन्वेव
लक्षणाननुगमः इत्यत आह लक्ष्यस्येति । प्रामाण्यं न स्वतो ग्राह्यमिति मूलेन
प्रामाण्यस्य स्वतो ग्राह्यत्वं नियम्यते तत्र स्वतो ग्राह्यत्ववादिनः के इत्याकांशा-
यामाह—भीमांसका हीति । स्वप्रकाशत्वादिति स्वविषयकत्वादित्यर्थः ।
तेनैव दृश्यत इति ज्ञाने गृह्यमाणे तन्निष्ठज्ञानत्वादिवत्तन्निष्ठप्रामाण्यमपि
तेनैव गृह्यत इत्यर्थः, तन्मते ज्ञानमात्रमयं घटो घटमहं जानामदियाकारक-
मितिभावः, तथा ज्ञाततया । अनुमीयत इति इयं ज्ञातता, घटविशेषक-
घटत्वप्रकारकज्ञानजन्या, घटवृत्तिघटत्वप्रकारकज्ञाततात्वात् या एवं तैवं,
यथा पटे पटवप्रकारिकाज्ञाततेत्याकारकानुमानविषयवैयर्थ्य इत्यर्थः ।
अनुव्यवसायेनेति घटमहं जानामदियादिस्वरूपेण ज्ञानेनैत्यर्थः । एवं भीमां-
सकस्यावन्तरे नतत्रयं प्रदर्श्य सर्वेषामपि मते ज्ञाननिष्ठं प्रामाण्यं स्वतो-
ग्राह्यमेवेत्याह—सर्वेषामपीति । ननु ज्ञानज्ञानस्य विषयाविषयकत्वात् विषय-
व्यतिरेकं प्रामाण्यं न ज्ञानविषयकज्ञानविषयं भवितुमर्हतीत्येतो ज्ञानज्ञानस्य विषय
विषयकत्वे प्रमाणं दर्शयति विषयनिरूप्यमिति विषयाविषयकप्रत्यक्षाविषयमे

हि ज्ञानम् । अतो ज्ञानवित्तिवेशो विषयः । तन्मतं दूषयति । न स्वतो ग्राह्यमिति । संशयेति । यदि ज्ञानस्य प्रामाण्यं स्वतो ग्राह्यं स्यात्तदाऽनन्यासदृशोत्पन्नज्ञाने प्रामाण्यसंशयो न स्यात् । तत्र हि यदि ज्ञानं ज्ञातं तदा त्वन्मते प्रामाण्यं ज्ञानमेवेति कथं संशयः । यदि तु ज्ञानं न ज्ञातं तदा धर्मिज्ञानभावात्कथं संशयः । तस्माज्ज्ञाने प्रामाण्यमनुमेयम् । तथा हि । इदं ज्ञानं प्रमा संवादिप्रवृत्तिजनकत्वात् यन्नैवं तन्नैवं यथाऽप्रमा । इदं पृथिवीत्वप्रकारकं ज्ञानं प्रमा गन्धवति पृथिवीत्वप्रकारकज्ञानत्वात् । एवमिदं जलत्वप्रकारकं ज्ञानं प्रमा स्नेहवति जलत्वप्रकारकज्ञानत्वात् । न च हेतुज्ञानं कथं जातमिति वाच्यं, पृथिवीत्वप्रकारकत्वस्य स्वतो ग्राह्यत्वात् । तत्र गन्धग्रहेण गन्धवद्विशेष्यकत्वस्यापि सुग्रहत्वात् । तत्रकारकत्वावच्छिन्नतद्द्विशेष्यकत्वं परं न गृह्यते संशयानुरोधान् । ननु सर्वेषां ज्ञानानां यथार्थत्वात्प्रमालक्षणे तद्विशेष्यकत्वं विशेषणं व्यर्थम्, न च रज्जौ रजतार्थिनः प्रवृत्तिभ्रमजन्या न स्यात् तत्र मते भ्रमस्याभावादिति वाच्यं, तत्र हि दोषार्थिनस्य पुरोवर्तिनि स्वतन्त्रोपस्थितरजतभेदाग्रहस्य हेतुत्वात्,

त्यर्थः । ज्ञानवित्तिवेश इति ज्ञानविषयकज्ञानवेश इत्यर्थः । ज्ञातमेव निश्चितमेव पृथिवीत्वादिवत् पृथिवीत्वादिप्रकारकत्वस्यापि ज्ञानेनैव ग्रहादित्यर्थः । नन्वेवं तर्हि पृथिवीत्वप्रकारकत्वस्यैव पृथिवीत्ववति पृथिवीत्वप्रकारकत्वरूपं प्रामाण्यमपि स्वतो ग्राह्यमेव स्यादिति कथं प्रामाण्यस्यानुमेयतेत्यत आह—तत्रकारकत्वावच्छिन्नत्वात्त्यादि । संशयानुरोधादिति प्रवृत्त्युपपत्तस्य धर्मितावच्छेदेकावच्छेदेन प्रामाण्यग्रहस्य स्वतो ग्राह्यत्वे संशयो न स्याद्भवति चानन्यासददाया संशयोऽतः प्रामाण्यं न स्वतो ग्राह्यमिति भावः । व्यर्थमिति तद्व्यावर्त्याया अन्यथाहृषातेरभावादिति भावः । भ्रमजन्या न स्यादिति न्यायमते तु भ्रमजन्या सा न स्यादित्यर्थः । दोषार्थिनत्वादिति । भेदाग्रहस्य हेतुत्वादिति यथा न्यायमते दोषार्थिनः रजतभ्रमस्तथा तन्मते दोषार्थिनः पुरोवर्तिनि रजतभेदाग्रहस्वस्यैव प्रवृत्तिं प्रति

सत्यरजतस्थले तु विशिष्टज्ञानस्य सत्त्वात्तदेव कारणम्, अस्तु वा तत्रापि भेदाग्रहः स एव कारणमिति, न चाऽन्यथाख्यातिः संभवति रजतमत्यक्षकारणस्य रजतसंनिकर्षस्याभावात् रङ्गे रजतबुद्धेरनुपपत्तेरिति चेन्न, सत्यरजतस्थले प्रवृत्तिं प्रति विशिष्टज्ञानस्य हेतुतायाः क्लृप्तत्वाद्यन्यत्रापि तत्कल्पनात् । न च संवादिप्रवृत्तौ तत्कारणं विसंवादिप्रवृत्तौ च भेदाग्रहः कारणमिति वाच्यं, लाघवेन प्रवृत्तिमात्रे तस्य हेतुत्वकल्पनात् । इत्थं च रङ्गे रजतत्वविशिष्टबुद्धयनुरोधेन ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्तिकल्पनेऽपि न क्षतिः फलमुखगौरवस्यादोषत्वात् किंच यत्र रङ्गरजतयोरिमे रजते रङ्गे वेति ज्ञानं जातं तत्र न कारणबाधोऽपि ।

हेतुत्वादिति भावः । कार्यकारणभावद्वयकल्पने गोस्वादाह-अस्तु वेति । तत्रापि सत्यरजतस्थलेऽपीत्यर्थः । रजतेन्द्रियसन्निकर्षस्याभावादिति लौकिकमिन्निकर्षस्य तत्र रजताभावेनासत्त्वात् ज्ञानलक्षणायाश्च गौरवदोषबुद्धेरेवकल्पनादिति भावः । हेतुतायाः क्लृप्तत्वादिति अन्यत्रापि रिकान्यामतिशेषः अन्यत्रापि रंगे रजतार्थिनः प्रवृत्तावपि । तत्कल्पनाद्विशिष्टज्ञानहेतुत्वकल्पनादित्यर्थः तथाच रंगे रजतार्थिनः प्रवृत्तिः, विशिष्टज्ञानमात्म्यं, प्रवृत्तिश्चाद्रजते रजतार्थिनः प्रवृत्तिवदित्यनुमानेनेव क्षमकल्पनादिनि भावः । अत्रप्रयोजकत्वमेशसङ्कते न चेति । तत् विशिष्टज्ञान, लाघवेनेति कार्यकारणभावद्वयकल्पनापेक्षया प्रवृत्तिमात्रे विशिष्टज्ञानस्य हेतुत्वकल्पनात्लाघवेनेत्यर्थः । पूर्वोक्तं प्रभाकरदूषणमुद्धरति इत्यञ्चेति प्रवृत्तिमात्रे विशिष्टबुद्धेहेतुत्वसिद्धौ चेत्यर्थः । फलमुखगौरवस्येति फलं कार्यकारणभावद्वयसंयुतं तदर्थानि यद्गौरवं तस्यादोषव्यादित्यर्थः । स्थलविशेषे कारणकारणमन्वयनिवृत्त्यर्थमेव विध्याज्ञानमित्याह-किञ्चेति । न कारणबाधोऽपीति रजतत्वेन सह संयुक्तसन्वायस्य सत्त्वात् नहि च तादृशं ज्ञानं रंगादोऽपि प्रमा किञ्चन्यथात्वंदित्येति भावः । नन्वपीप्रमद्वयमेव नत्तद्विशेषे तत्तद्विशिष्टबुद्धेः प्रति तत्तद्विशेषणे तत्तद्विशेषव्यतिरेकनिवृत्ते हेतुरेने हि सिद्धत्वात्प्रमाच कथं रजत-

अपि च यत्र रङ्गरजतयोरिमे रजतरङ्गे इति ज्ञानं तत्रोभयत्र युगपरम-
 द्वात्तनिवृत्ती स्यातां, रङ्गे रङ्गभेदग्रहे रजते रजतभेदग्रहे चान्यथाख्याति-
 भयात् त्वन्मते दोषादेव रङ्गे रजतभेदाग्रहस्य रजते रङ्गभेदाग्रहस्य
 च सत्त्वात् । किञ्चानुमितिं प्रति भेदाग्रहस्य हेतुत्वे जलहृदे वह्निव्याप्य-
 धूमवद्भेदाग्रहादनुमितिर्निरावाधा । यदि च विशिष्टज्ञानं कारणं
 तदाऽयोगोलके वह्निव्याप्यधूमज्ञानमनुमित्यनुरोधादापातितम् । सेयमु-
 भयतः पाशारज्जुः । इत्थं चान्यथाख्यातौ प्रत्यक्षमेव प्रमाणं रङ्गं
 रजततयात्रेदिपमित्यनुभवादिति संक्षेपः ॥ १३५ ॥ १३६ ॥

पूर्वं व्याप्तिरुक्ता तद्ग्रहोपायस्तु न दर्शित इत्यतस्तं दर्शयति—
 व्यभिचारस्याग्रहोऽपि सहचारग्रहस्तथा ।

हेतुर्व्याप्तिग्रहे तर्कः क्वचिच्छङ्कानिवर्तकः ॥ १३७ ॥

व्यभिचारस्येति । व्यभिचाराग्रहः सहचारग्रहश्च व्याप्तिग्रहे
 कारणम् । व्यभिचारग्रहस्य व्याप्तिग्रहे प्रतिबन्धकत्वान्तद्भावः का-
 रणमित्यर्थः । एवमन्वयव्यतिरेकाभ्यां सहचारग्रहस्यापि हेतुता ।
 भूयोदर्शनं तु न कारणं व्यभिचारास्फूर्तौ सकृदर्शनेऽपि क्वचिद्व्या-
 प्तिग्राहत् क्वचिद्व्यभिचारशङ्काविधूननद्वारा भूयोदर्शनमप्युच्यते ।

चदितसन्निकर्षेण रङ्गे रजतत्वग्रह इत्यत आह—अपि चेति प्रवृत्तिनिवृत्त्योः
 सामग्रीं दर्शयितुमाह—रङ्ग इति । ननु तत्तदोपाणां प्रवृत्त्यादिकं प्रति प्रति-
 बन्धकत्वसंशकारे नैष दोष इत्यत आह—किञ्चानुमानमिति । अनुमितिर्निरा-
 वाधा बाधकाभावादन्वथाख्यातिरूपानुमितिः सिद्धयतीत्यर्थः अनुमित्यनुरो-
 धादिति अयोगोलके वह्निमित्यनुरोधादित्यर्थः ॥ १३५ ॥ १३६ ॥

व्यभिचाराग्रहस्य व्याप्तिग्राहकतामुपपादयति व्यभिचारग्रहस्येति ।
 सहचारग्रहस्यापि तानुपपादयति—एवमिति । केषांचिन्मते भूयोदर्शनस्य
 व्याप्तिग्रहे कारणत्वं तत्त्वण्डयति भूयोदर्शनं चित्वादिना भूयोदर्शनस्या-
 हेतुत्वेऽपि क्वचिदुपयोगितामाह—क्वचिदिति ! तर्कोऽपेक्षित इति शङ्कान-

यत्र तु भूयोदर्शनादपि शङ्का नक्षैति तत्र विपक्षशक्यतर्कोऽपे-
क्षितः । तथाहि । वह्निविराट्पिपापि धूमः स्यादिति यथाशङ्का
भवति तदा सा वह्निधूमयोः कार्यकारणभावस्य भतिसंधानान्निव-
र्ततो यद्यप्यं वह्निमात्रं स्यात्तदा धूमवान्न स्यात्कारणं विना का-
र्यानुत्पत्तेः । यदि च क्वचित्कारणं विना कार्यं भविष्यति तदा-
ऽहेतुक एव भविष्यतीति तत्राप्याशङ्का भवेत्तदा सा व्याघातादप-
सारणीया । यदि कारणं विना कार्यं स्यात्तदा धूमार्थं बहेस्तुत्यर्थं
भोजनस्य वा नियमत उपादानं तत्रैव न स्यादिति । यत्र स्वत
एव शङ्का नावतरति तत्र न तर्कोपेक्षापीति नदिदमुक्तं तर्कः
क्वचिच्छङ्कानिवर्तक इति ॥ १३७ ॥

इदानीं परकीयव्याप्तिग्रहप्रतिबन्धार्थमुपाधिं निरूपयति—

साध्यस्य व्यापको यस्तु हेतोरव्यापकस्तथा ।

स उपाधिर्भवेत्तस्य निष्कर्षोऽयं प्रदर्श्यते ॥१३८॥

साध्यस्येति । साध्यत्वाभिमतव्यापकत्वे सति साधनत्वाभिमता-
व्यापकत्वमुपाधिरित्यर्थः । ननु स श्यामो मित्रातनयत्वादित्यत्र
शाकपाकजन्यत्वं नोपाधिः स्यात्तस्य साध्यव्यापकत्वाभावात् उच्यते तस्य
घटादावपि सत्त्वात्, एवं वायुः प्रत्यक्षः प्रत्यक्षस्पर्शाश्रयत्वादित्य-

यनार्थं तर्कोऽपेक्षितः इत्यर्थः । तदेव दर्शयति—तथाहीत्यादिना । सा शङ्का ।

कारणं विनेति तथाच यदि धूमो वह्निज्यभिचारी स्यात्तदा वह्निजन्यो न स्या-
दिति तर्कोपेक्षायै बोध्यः । तत्रापि तादृशतर्कप्रयोजकीभूतकार्यकारणभावग्रहेऽ-
पीत्यर्थः अशङ्का भवेदिति प्रतिबन्धकीभूताशङ्का भवेदित्यर्थः व्याघातं
दर्शयति यदि हीत्यादिना नन्वेवमनवस्थापत्तिलियत आह—यत्रेति ॥१३७॥

व्याप्तिग्रहोपाधिनिरूपणानन्तरमुपाधिनिरूपणे प्रसङ्गतज्ञातिं दर्शयितुमाह—
इदानीमिति । साध्यत्वाभिमतेति यो यदवच्छिन्नव्यापकत्वे सति यदवच्छि-

त्रोद्भूतरूपवत्त्वं नोपाधिः स्यात्प्रत्यक्षत्वस्यात्मादिषु सत्त्वात्तत्र च
 रूपाभावात्, एवं ध्वंसो विनाशी जन्यत्वादित्यत्र भावत्वं नोपाधिः
 स्याद्विनाशित्वस्य प्रागभावेऽपि सत्त्वात्तत्र च भावत्वाभावादिति चेन्न
 यद्गर्भावच्छिन्नसाध्यव्यापकत्वं तद्गर्भावच्छिन्नसाधनाव्यापकत्वमित्यर्थे
 तात्पर्यात् । मित्रातनयत्वावच्छिन्नश्यामत्वस्य व्यापकं शाकपाकजत्वं
 तदवच्छिन्नसाधनाव्यापकं च । एवं पक्षधर्मवह्निर्द्रव्यत्वावच्छिन्नप्रत्यक्षत्व-
 स्य व्यापकमुद्भूतरूपवत्त्वम् । वह्निर्द्रव्यत्वावच्छिन्नसाधनस्याव्यापकं च ।
 एवं ध्वंसो विनाशी जन्यत्वादित्यत्र जन्यत्वावच्छिन्नसाध्यव्यापकं
 भावत्वम् । सद्भेतौ तु एतादृशो धर्मो नास्ति यदवच्छिन्नस्य सा-
 ध्यस्य व्यापकं तदवच्छिन्नस्य साधनस्य चाव्यापकं किञ्चिन्स्यात् ।
 व्यभिचारिणि तूपाध्यधिकरणं यत्साध्याधिकरणं यद्योपाधिशून्यं
 साध्यव्यभिचाराधिकरणं तदन्यतरत्वावच्छिन्नस्य साध्यस्य व्याप-
 कत्वं साधनस्य चाव्यापकत्वमुपाधेरन्ततः संभवतीति ॥१३८॥

अत एव लक्ष्यमप्युपाधिस्वरूपमेतदनुसारेण दर्शयति—

सर्वे साध्यसमानाधिकरणाः स्युरुपाधयः ।

हेतोरेकाश्रये येषां स्वसाध्यव्यभिचारिता ॥ १३९ ॥

सर्वेति । स्वमुपाधिः स्वं च साध्यं च स्वसाध्ये तयोर्व्यभिचारि-
 तेत्यर्थः ॥ १३९ ॥

उपाधिर्दूषकतावीजमाह—

त्राव्यापकः न तदवच्छिन्नसाध्यकतदवच्छिन्नहेतानुपाधिरित्यर्थः । अन्तत इति
 तादृशधर्मान्तरस्य स्फूर्तावित्यर्थः ॥ १३८ ॥

अत एवेति यद्गर्मावच्छिन्नत्वघटितलक्षणस्य तात्पर्यविषयत्वादेव ।
 तदनुसारेण पूर्वोक्तलक्षणानुसारेण ॥ १३९ ॥

व्यभिचारस्यानुमानमुपाधेस्तु प्रयोजनम् ।

व्यभिचारस्येति । उपाधिव्यभिचारेण हेतौ साध्यव्यभिचारानुमानमुपाधेः प्रयोजनमित्यर्थः । तथाहि । यत्र शुद्धसाध्यव्यपक उपाधिस्तत्र शुद्धेनैव उपाधिव्यभिचारेण साध्यव्यभिचारानुमानम् । यथा धूमवान् बहोरित्यादौ बहिर्धूमव्यभिचारी, तद्रथापकर्तृन्धनसंयोगव्यभिचारित्वादिति । व्यापकव्यभिचारिणो व्याप्यव्यभिचारावपकत्वात् । यत्र तु किञ्चिद्गुणवच्छिन्नसाध्यव्यपक उपाधिस्तत्र तद्गुणमति उपाधिव्यभिचारेण साध्यव्यभिचारानुमानम् । यथा स श्यामो भिन्नतनयत्वत्वादेत्यादौ भिन्नतनयत्वं श्यामत्वव्यभिचारी भिन्नतनये शक्यप्राप्तत्वव्यभिचारित्वादिति । यथातु नृत्नीतपक्षेतरस्तु साध्यव्यपकतामाहकप्रमाणभावात्स्वव्याधातकत्वञ्च नेपाधिः बाधोन्नीतस्तूपाधिर्भवत्येव । यथावाहिरनुष्णः कृतकत्वादित्यादौ प्रत्यक्षेण बह्व्युष्णत्वग्रहे षड्हीतरत्नमुपाधेः । यत्र तूपाधेः साध्यव्यपकता संदिश्यते स संदिश्योपाधिः पक्षेतरस्तु संदिश्योपाधिरपि नोद्भावनीयः कथं कृतं तद्रापात्तुरोधात् । केचित्तु सत्प्रतिपक्षेत्थपनमुपाधिफलम् । तथाहि । अयो-

नृ पक्षेतरत्वे एकाग्रये येषां स्वसाध्यव्यभिचारित्वात् मूढेन प्रदर्शितस्योपाधिलक्षणात्प्रमाणानुपाधिलक्षणव्याप्तिरित्यत आह— बाधोन्नीतस्त्विति बाधेन पक्षे साध्यवत्त्वेन नोद्भावनीय साध्यव्यपकत्वेनापि इत्यर्थः, स्वव्याधातकत्वाद्बाधेनाप्रस्य दूषकताव्याधातकत्वात् उपाधिव्यभिचारेण साध्यव्यभिचारानुमानेऽपि पक्षेतरत्वस्योपाधित्वसम्भवाद् व्यभिचारानुमानान्नस्योपाधेर्दूषकत्वस्यासम्भवादिति भावः । नन्वेवमपि यत्र साध्यव्यपकतामाहकप्रमाणमस्ति तत्र पक्षेतरत्वे लक्षणातिव्याप्यपत्तिर्दुर्विरेष्येततः आह— बाधोन्नीतस्त्विति तथा च बाधोन्नीतपक्षेतरत्वस्य लक्षणेन तत्र लक्षणसाध्यत्वेऽप्यतिरेकेति भावः । सन्दिश्योपाधिरपीति पक्षे साध्यव्यपकतामाहकप्रमाणस्य पक्षेतरत्वे सम्भवादिति भावः । केयाश्चिन्मतमाह— केचित्चिन्नि ।

गोलकं धूमवद्गोरित्यादावयोगोलकं धूमाभाववदाद्रेन्धनाभावादिनि स-
त्प्रतिपक्षसंभवात् । इत्थं च साधनव्यापकोऽपि क्वचिदुपाधिः । यथा
करका पृथिवी कठिनसंयोगवच्चादित्यादावनुष्णाशीतस्पर्शवच्चम् । न
चात्र स्वरूपासिद्धिरेव दूषणमिति वाच्यं, सर्वत्रोपाधेर्दूषणान्तरसां-
क्यात् । अत्र च साध्यव्यापकः पक्षाद्व्यतिरुपाधिरित्याहुः ॥

शब्दोपमानयोर्नैव पृथक्प्रामाण्यमिष्यते ॥ १४० ॥

अनुमानगतार्थत्वादिति वैशेषिकं मतम् ।

तन्न सम्यग्भिना व्याप्तिबोधं शब्दादिवोधतः ॥ १४१ ॥

शब्दोपमानयोरिति । वैशेषिकाणां मते प्रत्यक्षमनुमानं च प्रमा-
णम् । शब्दोपमानयोस्त्वनुमानविधयेव प्रामाण्यम् । तथा हि । दण्डेन
गामानयेत्यादिलौकिकपदानि यजेतेत्यादिवैदिकपदानि वा तात्पर्याविषय-
स्मारितपदार्थसंसर्गप्रमापूर्वकाणि आकाङ्क्षादिमत्पदकदम्बत्वद् घटमा-
नयेति पदकदम्बवत् । यद्वा । एते पदार्था मियःसंसर्गवन्तो योग्यता-
दिमत्पदोपस्थापितत्वात् तादृशपदार्थवत् । दृष्टान्तेऽपि दृष्टान्तान्तरेण
साध्यसिद्धिरिति । एवं गवयव्यक्तिप्रत्यक्षानन्तरं गवयपदं गवयत्व-
प्रवृत्तिनिमित्तकम्, असति वृच्यन्तरे वृद्धैस्तत्र प्रयुज्यमानत्वात् ।
असति च वृच्यन्तरे वृद्धैर्यत्र यन्प्रयुज्यते तत्र तत्प्रवृत्तिनिमित्तकम् ।
यथा गोपदं गोलप्रवृत्तिनिमित्तकम् । यद्वा गवयपदं सप्रवृत्तिनिमित्तकं
साधुपदत्वादित्यनुमानेन पक्षधर्मतायल द्रवयत्वप्रवृत्तिनिमित्तकत्वं सिद्धय-
ति । तन्मतं दूषयति । तन्न सम्यगिति व्याप्तिज्ञानं विनापि शब्द-
बोधस्यानुभवासिद्धत्वात् । नहि सर्वत्र शब्दध्रवणानन्तरं व्याप्तिज्ञाने

इत्यञ्चेति सत्प्रतिपक्षोपापकतया दूषकत्वे चेत्यर्थः । अत्र च सत्प्रतिपक्षो-
पापकत्वे च

ननु सर्वत्र शब्दध्रवणानन्तरमनुमितिरूपकार्यान्वयानुपपत्त्या व्याप्ति-

प्रमाणमस्तीति । किंच सर्वत्र शब्दस्थले यदि व्याप्तिज्ञानं कल्प्यते तदा सर्वत्रानुमितिस्थले पदज्ञानं कल्पयित्वा शब्दबोध एव किं न स्वीक्रियतामिति ध्येयम् ॥ १४० ॥ १४१ ॥

त्रैविध्यमनुमानस्य केवलान्वयिभेदतः ।

द्वैविध्यं तु भवेद्दशासरेन्वयव्यतिरेकतः ॥१४२॥

अन्वयव्याप्तिरुक्तैव व्यतिरेकादथोच्यते ।

त्रैविध्यमिति । अनुमानं हि त्रिविधं केवलान्वयिकेवलव्यतिरेक्यन्वयव्यतिरेकिभेदात् । तत्र असद्विपक्षः केवलान्वयी । यथा घटोऽभिधेयः प्रमेयत्वादित्यादौ । तत्र हि सर्वस्यैवाभिधेयत्वाद्विपक्षासत्त्वम् ॥ असत्सपक्षः केवलव्यतिरेकी । यथा पृथ्वी इतरेभ्यो भिद्यते गन्धवत्यादित्यादौ । तत्र हि जलादिवयेदशभेदस्य पूर्वमनिश्चिततया निश्चितसाध्यवतः सपक्षस्याभावात् । सत्सपक्षविपक्षोऽन्वयव्यतिरेकी । यथा बद्धिमान्धूमादित्यादौ । तत्र सपक्षस्य महानसादेर्विपक्षस्य जलहृददेश्च सत्त्वादिति ॥

तत्र हि व्यतिरेकिणि व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानं कारणं तदर्थं व्यतिरेकव्याप्तिं निर्वाक्ति—

साध्याभावव्यापकत्वं हेरवभावस्य यद्भवेत् ॥१४३॥

साध्याभावनि । साध्याभावव्यापकीभूतभावमतिपयोगित्वमित्ययः । अत्रेदं बोध्यम् । यत्संबन्धेन यदवच्छिन्नं मति येन संबन्धेन येन रूपेण व्यापकता दृश्यते तत्संबन्धवच्छिन्नमतिपयोगिताकतद्धर्माव-

ज्ञानङ्कल्यनीयमत आह—किञ्चेति ॥ १४० ॥ १४१ ॥

तत्र तेषु मध्ये । असद्विपक्ष इति असन्ताभाप्रतियोगिसाध्यक इत्यर्थः । केवलव्यतिरेकिणं दर्शयति—असद्विपक्षक इति । अन्वयव्यतिरेकिणमाह—सत्सपक्षविपक्ष इति ।

निर्दुःखत्वे सुखे चेच्छा तज्ज्ञानादेव जायते ।

इच्छा तु तदुपाये स्यादिष्टोपायत्वधीर्यदि ॥ १४६ ॥

निर्दुःखत्वे इति । इच्छा द्विविधा फलविषयिणी उपायविषयिणी च । फलं तु सुखं दुःखाभावश्च । तत्र फलेच्छां प्रति फलज्ञानं कारणम् । अत एव पुरुषार्थः संभवति । यज्जातं सत्स्ववृत्तितयेष्यते स पुरुषार्थ इति तद्वृक्षणात् । इतरेच्छानधीनेच्छाविषयत्वं फलितोऽर्थः । उपायेच्छां प्रतीष्टसाधनताज्ञानं कारणम् ॥ १४६ ॥

चिकीर्षा कृतिसाध्यत्वप्रकारेच्छा च या भवेत् ।

तद्धेतुः कृतिसाध्येष्टसाधनत्वमतिर्भवेत् ॥ १४७ ॥

चिकीर्षेति । कृतिसाध्यत्वप्रकारिका कृतिसाध्यक्रियाविषयिणी-
च्छा चिकीर्षा पाकं कृत्या साधयामीति तदनुभवत् । चिकीर्षा प्रति
कृतिसाध्यताज्ञानभीष्टसाधनताज्ञानं च कारणम् । तद्धेतुरिति । अत
एव वृष्ट्यादौ कृतिसाध्यताज्ञानाभावात्त चिकीर्षा ॥ १४७ ॥

बलवद्द्विष्टहेतुत्वमतिः स्यात्प्रतिबन्धिका ।

बलवदिति । बलवद्द्विष्टसाधनताज्ञानं प्रतिबन्धकम् । अतो मधु-
विपसंपृक्तान्नभोजने न चिकीर्षा । बलवद्द्वेषः प्रतिबन्धक इत्यन्ये ।
तदहेतुत्वबुद्धेस्तु हेतुत्वं कस्यचिन्मते ॥ १४८ ॥

तदहेतुत्वेति । बलवदानिष्टजनकत्वज्ञानं कारणमित्यर्थः ॥ १४८ ॥

तत्र तयोर्मध्ये । अत एव फलेच्छा प्रति फलज्ञानस्य हेतुत्वादेव ।
तद्वृक्षणात्पुरुषार्थलक्षणान् । उपायेऽविद्यामिवावर्णः याह—इतरेच्छेति ॥ १४६ ॥

अत एव कृतिसाध्यताज्ञानस्य चिकीर्षा प्रति हेतुत्वादेव ॥ १४७ ॥

बलवद्द्विष्टसाधनताज्ञानमिति द्वेषे बलवत्त्वं जातिविशेषः । लाघवमभि-
प्रेय कन्वद्वेषस्य प्रतिबन्धकत्ववादिमतमाह—बलवद्द्वेष इति ॥ १४८ ॥

द्वेषं निरूपयति—

द्विष्टसाधनताबुद्धिर्भवेद्द्वेषस्य कारणम् ।

द्विष्टसाधनमेति । दुःखोपायविषयकं द्वेषं प्रति बलवद्द्विष्टसाधन-
ताज्ञानं कारणमित्यर्थः । बलवद्द्विष्टसाधनताज्ञानं प्रतिबन्धकम् । तेन
मान्तरीयकदुःखजनके पाकादौ न द्वेषः ॥

प्रयत्नं निरूपयति—

प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च तथा जीवनकारणम् ॥ १४९ ॥

एवं प्रयत्नत्रैविध्यं तान्त्रिकैः परिकीर्तितम् ।

प्रवृत्तिश्चेति । प्रवृत्तिः, निवृत्तिर्जीवनयोनियन्त्रभेदात्प्रयत्नस्त्रिविध इत्यर्थः ।
चिकीर्षा कृतिसाध्येष्टसाधनत्वमतिस्तथा ॥ १५० ॥

उपादानस्य चाध्यक्षं प्रवृत्तौ जनकं भवेत् ।

चिकीर्षेत्यादि । मधुविषसंपृक्तान्नभोजनादौ बलवदनिष्टानुव-
न्धित्वेन चिकीर्षाभावान्न प्रवृत्तिरिति भावः । कृतिसाध्यताज्ञानादिव-
द्वलवदनिष्टाननुवन्धित्वज्ञानमपि स्वतन्त्रान्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रवृत्तौ
कारणमित्यपि वदन्ति । कार्यताज्ञानं प्रवर्तकमिति गुरुवः । तथाहि ।
ज्ञानस्य प्रवृत्तौ जननीयायां चिकीर्षातिरिक्तं नापेक्षितमस्ति । सा च
कृतिसाध्यताज्ञानसाध्या, इच्छायाः स्वभकारप्रकारकधीसाध्यत्वनिषमात्

तेन द्वेषे बलवत्त्वविशेषणेन प्रवृत्तिरिति प्रवृत्तिवच्च रागजन्यतावच्छेदक-
तया सिद्धो जातिविशेष, निवृत्तिस्त्वमपि द्वेषजन्यतावच्छेदकतया सिद्धो जातिविशेष
एव, जीवनयोनियत्नस्त्वच्च प्राणसंचारविषयकयत्नत्वं ।

नन्वेवं मधुविषसंपृक्तान्नभोजने प्रवृत्त्यापत्तिरित्यत आह—मधुविषसम्पृक्ता-
न्नभोजनादाविति । चिकीर्षाभ.वादिति चिकीर्षा प्रति बलवदनिष्टानुव-
न्धित्वज्ञानाभावस्य हेतुत्वादिति भावः । प्रभाकामतमाह—कार्यताज्ञानमिति ।

। चिकीर्षा हि कृतिसाध्यत्वनकारिकेच्छा । तत्र कृतिसाध्यत्व प्रका-
 रस्तत्नकारकज्ञानं चिकीर्षायां तद्वारा च प्रवृत्तौ हेतुर्न । त्विष्टसाधन-
 ताज्ञानं तत्र हेतुः । कृत्यसाध्येऽपि चन्द्राण्डलानयनादौ प्रवृत्त्यापत्तेः
 ननु कृत्यसाध्यताज्ञानं प्रतिबन्धकमिति चेन्न, तदभ.व.पेक्षया कृति-
 साध्यताज्ञानस्य लघुत्वात् । न च द्वयोरपि हेतुत्वं, गौरवात् ।
 ननु त्वन्मतेऽपि मधुविषसंपृक्तान्नभोजने चैत्यवन्दने च प्रवृत्त्यापत्तिः
 कार्यताज्ञानस्य सत्त्वादिति चेन्न, स्वविशेषणवत्ताप्रतिसंधानजन्यकार्य-
 ताज्ञानस्य प्रवर्तकत्वात् । काम्ये हि यागपाकादौ कामना स्वविशे-
 षणम् । ततश्च बलवदनिष्ठाननुबन्धिकाभ्यसाधनताज्ञानेन कार्यताज्ञा-
 नम् । ततश्च प्रवृत्तिः । तत्र भोजने न प्रवर्तते, तदानीं कामनायाः
 पुरुषविशेषत्वभावात् । नित्ये च शौचादिकं पुरुषविशेषणम् । तेन
 शौचादिज्ञानार्थानकृतिसाध्यताज्ञानात्तत्र प्रवृत्तिः । ननु तदपेक्षया
 लाघवेन बलवदनिष्ठाननुबन्धीष्टसाधनताविषयककार्यताज्ञानत्वेनैव हेतु-
 त्वमस्तु बलवदनिष्ठाननुबन्धित्वं चैत्रोत्पादिनान्तरीयकदुःखाधिरु-
 दुःखाजनकत्वं बलवद्वैप.विषयदुःखाजनकत्वं वेति चेन्न, इष्टसाधनत्व
 सा च चिकीर्षा च । तत्र चिकीर्षाया । तद्द्वारा चिकीर्षाद्वारित्यर्थः । द्वयोरिव
 द्वयोरपीत्यर्थः । स्वविशेषणेति स्वं प्रवर्तमानः पुरुषस्तद्विशेषणं काम्ये कामना
 नित्ये काष्ठेशौचादि तद्वत्ता, पक्षे तासम्बन्धस्तस्य प्रतिसन्धानं ज्ञानमित्यर्थः ।
 कामना यागपाकादिगोचरकामनेत्यर्थः । नन्वेवं मधुविषसंपृक्तान्नभोजने प्रवृत्त्या-
 पत्तिः प्रवर्तकस्य काम्यसाधनताज्ञानजन्यकार्यताज्ञानस्य तत्रापि सत्त्वादित्यत
 आह—ततश्चेति, बलवदनिष्टेति तथाच स्वविशेषणात्ताप्रतिसन्धाने बलवद-
 निष्ठाननुबन्धित्वविषयकत्वं विशेषणं देयमितिभावः । अतीतभोजनकामना-
 घटितलिंगजन्यकार्यताज्ञानस्य सत्त्वात्ततोऽपि भोजने प्रवर्तते इत्यत आह—
 ततश्चेति । तदानीमिति तथाच स्वविशेषणेत्यत्र तदानीतजसं विशेषणं
 देयमिति भावः । नैयायिकः शब्दवत्ते नन्विति । भीमासक उत्तरपति—

कृतिसाध्यत्वयोर्युगपज्ज. तुमश्च न्यत्व. त्साध्यवसाधनत्वयोर्विरोधत् ।
 असिद्धस्य हि साध्यत्वं सिद्धस्य च साधनत्वम् । न चैकमेकैकदा
 सिद्धमसिद्धं चेति ज्ञायते, तस्मात्कालभेदादुभयं ज्ञायत इति मैवं,
 लाघवेन बलवदनिष्टाननुबन्धीष्टसाधनत्वे सति कृतिसाध्यताज्ञानस्य
 हेतुत्वात् । न च साध्यवसाधनत्वयोर्विरोधो यदा कदाचित्साध्यत्व-
 साधनत्वयोरविरोधादेकदा साध्यत्वसाधनत्वयोश्च ज्ञानात् ॥ नव्यास्तु
 यमेदं कृतिसाध्यमिति ज्ञानं न प्रवर्तकमनागते तस्य ज्ञातुमशक्य-
 त्वात् । किंतु यादृशस्य पुंसः कृतिसाध्यं यदृष्टं तादृशव स्व-न्य
 प्रतिसंधाय तत्र प्रवर्तते । तेनैतदनकामस्य तत्साधनताज्ञानवतस्तदुप-
 करणवतः पाकः कृतिसाध्यस्तादृशथाहभिति प्रतिसंधाय पाके प्रव-
 र्तते इत्याहुस्तन्न, स्वकल्पितः लिप्यादिप्रवृत्तौ यौवने कामोद्भेदादि-
 ना संभोगादौ च तदभावत् । इदं तु बोध्यम् । इदानींतनेष्टसाधन-
 त्वादिज्ञानं प्रवर्तकं तेन भाविष्यौवराज्ये बालस्य न प्रवृत्तिस्तदानीं कृति-
 साध्यताज्ञानात् । एवं तृप्तश्च भोजने न प्रवर्तते तदानीमि-
 ष्टसाधनत्वाज्ञानात् । प्रवर्तते च रोगदूषितचित्तो विपादिभक्षणे तदानीं
 बलवदनिष्टानुबन्धिन्वाज्ञानात् । न चास्विकस्यागम्भागमनशत्रुवध्यादिम-
 वृत्तौ कथं बलवदनिष्टाननुबन्धित्वबुद्धिर्नरकसाधनत्वज्ञानादिति वाच्यम्,
 उत्कटरागादिना नरकसाधनताधीतिरोधानात् वृत्त्यादौ तु कृतिमाध्य-
 ताज्ञानाभावान्न चिहीर्षाप्रवृत्तौ, किंत्विष्टसाधनताज्ञानादिज्ञानमात्रम् ।

नेत्यादिना । तदेतस्य न युक्ति-युक्तमित्याह नैयायिक मैवंमित्यादिना ।
 यदाकदाचिदिति यकिञ्च कालीनस्य साध्यवस्य यकिञ्च कालीनेन साध-
 नत्वेन विरोधाभावादित्यर्थः । प्रभाकरानुपायिनशीनमतमाह—नव्यास्त्विति ।
 नन्विष्टसाधनताज्ञानस्य प्रवृत्तिजनरूढे भाविष्यौवराज्ये प्रवृत्त्यापत्तिरित्यत आह—
 इदं तु बोध्यमिति । उत्कटरागादिभेति अगम्यतागमनजन्यसुखे उत्कट-
 रगादिनेत्यर्थः । तिरोधानादनुपादनात् । प्रवृत्तिरूपेति कृतिसाध्यताज्ञानं-

कृतिश्च प्रवृत्तिरूपा बोध्या । तेन जीवन्योनियत्नसाध्ये प्राणपञ्चकस-
 श्वारे न प्रवृत्तिः । इत्थं च प्रवर्तकत्वानुरोधाद्विधेरर्पाद्यसंघनवादि-
 कमेवार्थः । इत्थं च विश्वजिता यजेतेत्यादौ यत्र फलं न श्रूयते तत्रापि
 स्वर्गः फलं कल्प्यते । नन्वहरहः सन्ध्यामुपासीतेत्यादाविष्टानुपत्तेः प्रवृत्तिः
 कथम्, न चार्थवादिकं ब्रह्मश्लोकादि प्रत्यवायाभावो वा फलमिति
 वाच्यं तथा सति काम्यत्वे नित्यत्वहान्यपत्तेः । कामनाभावे चाकरणा-
 पत्तेः इत्थं च यत्र फलश्रुतिस्तत्रार्थवादमात्रमिति चेन्न, ग्रहणश्राद्धादौ
 नित्यत्वनैमित्तिकत्वयोरिव नित्यवक्राम्यवयोरप्याविरोधत् । नच का-
 मनाभावेऽकरणतापत्तिः, त्रिकालस्तत्रपठदाविव कामनासद्भावस्यैव
 कल्पनात्, न तु वेदबोधितकार्यताज्ञानात्प्रवृत्तिरिति संभवति स्वेटसा-

मिन्यत्र प्रवृत्तित्वेन कृते प्रवेश इत्यर्थः । इत्थञ्चेति प्रवृत्तिं प्रति बलवद-
 निष्ठाननुबन्धाद्यसाधनत्वे सति कृतिसाप्यवबुद्धेर्हेतुत्वे चेत्यर्थः । ननु विश्व-
 जिता यजेतेत्यादौ फलाश्रयणेनेष्टसाधनताज्ञानाभावात्प्रवृत्तिर्न स्यादित्यत आह—
 इत्थञ्चेति विधेरपीष्टसाधनवाद्यर्थकत्वे चेत्यर्थः । नन्वेवं सन्ध्यावन्दनादि-
 रूपे कर्मणि फलाभावान्नेष्टसाधनत्वज्ञानं प्रवर्तकं न वा विधेरपीष्टसाधनतादि-
 कर्मर्थः कल्पयितुं शक्य इत्यभिप्रायान् शङ्केन न्यति, न चार्थवादिकमिति
 “सन्ध्यामुपासते ये तु, सततं संसितव्रताः । विभूतपापास्ते यान्ति, ब्रह्मलोकं सना-
 तनम् ॥ १ ॥ इत्यर्थवादबोधितमित्यर्थः । तथा सति सन्ध्यावन्दनादीनामर्थवादबोधितफ-
 लकल्पने सति । नित्यवक्राम्यवयोरिव नित्यवक्राम्यवयोरप्याविरोधाद्विश्वमिमाना-
 दितिभावः । ननु तद्विरोधित्वे मानाभव इत्यत आह—कामनाभाव इति अक-
 रणापत्तेरिति अकरणे प्रत्यवायानुपत्तेरित्यर्थः, कामनारहितस्य सन्ध्यावन्दना-
 दावधिकाराभावादनधिकारिणाऽवृत्तस्य प्रत्यवायाजनकत्वादितिभावः । नन्वेवं
 सन्ध्यावन्दनादिफलश्रुतेर्वैयर्थ्यमित्यत आह—इत्थञ्चेति निष्कामानामपि सन्ध्याव-
 करणे प्रत्यवायजनकत्वे चेत्यर्थः अर्थवादमात्रमिति अर्थवादस्या तस्य
 स्तुतिमात्रे तार्थ्यमितिभावः । ननु नित्यविषयकप्रवृत्तिं प्रतीष्टसाधनताज्ञानं

धनत्वमविज्ञाय तद्दृशकार्यताज्ञानसहस्रेणापि प्रवृत्तेरसंभवात् । यदपि
पण्डापूर्वं फलमिति तदपि न कामनाभवेऽकरणपक्षेस्तौल्यात् । काम-
नाकल्पने स्वार्थवादिकफलमेव रात्रिसन्न्यायात्कल्पयताम्, अन्यथा
प्रवृत्त्यनुपपत्तेः । तेनानुत्पत्तिं प्रत्यवायस्यान्ये मन्यन्ते । एवम् ।

सन्ध्यामुपासते ये तु सततं शंसितव्रताः ।

विधूतपापास्ते यानि ब्रह्मलोकनामयम् ॥

एवम् । दयादहरहः श्रद्धं पितृभ्यः प्रीतिमावहन् ।

इति प्रीत्यात्मकमेव फलमस्तु । न च पितृप्रीतिः कथं फलं
व्याधिकरण-वादि-ति वाच्यं, गथाश्राद्धदादिवेदेऽयत्नसंबन्धेनैव फल-
जनकत्वस्य कश्चित्कल्पनात् । अत एवेकं शस्त्रदर्शितफलमनुष्ठानक-
र्तृगीत्युत्सर्ग इति । पितृगां मुक्तत्वे तु स्वस्य स्वर्गादिफलं यावन्नि-
त्यनैभिचिकानुष्ठानस्य सामान्यतः स्वर्गजनकत्वात् । पण्डापूर्वार्थं
प्रवृत्तिश्च न संभवति नहि तत्सुखदुःखभाववत्स्वतः पुरुषार्थो न वा
तत्साधनम्, प्रत्यवायानुत्पत्तौ कथं प्रवृत्तिरिति चेदित्यम्, यथा

न कारणं किन्तु वेदबोधितकार्यताज्ञानमेवेत्यत आह—न न्विति । स्वैष्टसधन-
त्वाभिति अन्यय-यतिरेकान्यामिष्टसाधनताज्ञानस्य प्रवृत्तिं प्रति हेतु-
भावः । प्रभाकरमनं दूषयति—यदपीत्यादिना । कामनाभवे पण्डात्मक-
फलकामनाभावे । रात्रिसन्न्यायादिति तथाच ज्योतिर्गौरि-यादिनाःकरोपन-
कर्मणां यथा लघवेनार्थवादिकमेव प्रतिशुःरूपं फलं मिहान्वितं तथेहापि
सन्ध्यावन्दनादिनित्यकर्मणामप्यार्थवादिकमेव फलकूल्यत इतिभावः । अन्यथा
फलाभावे, तेन आर्थवादिकफलकल्पने लघवेन । उत्सर्ग इति कर्तृमात्र-
गतत्वे तु व्यभिचाराभावाविषम एव स्यादिति भावः । पण्डापूर्वार्थमिति,
न वा-सन्साधनमिति, तथा चेन्न्यत्रियय वाभावेन फलत्वाभावान्न तत्साधनता-
ज्ञानं प्रवर्तकमितिभावः । ननु त्वन्मतेऽपि प्रत्यवायानुत्पत्तेः कथं फलत्वं
स्वतः पुरुषार्थत्वाभावात् दुःस्थानुत्पत्तिरूपपुरुषार्थसधनत्वेनपि न तत्रेच्छादिय-

हि निन्ये कृते प्रत्यवायाभावस्तिष्ठति तदभावे तदभावः । एवं प्रत्य-
वायाभावसत्त्वे दुःखप्रागभावसत्त्वं तदभावे तदभाव इति योगक्षेमसा-
धारणकारणताया दुःखप्रागभाव प्रत्यपि सुवचत्वात् । एवमेव प्राय-
श्चित्तस्यापि दुःखप्रागभावेहेतुत्वमिति । ननु न कलञ्जं भक्षयोदित्यत्र
विव्यर्थे कथं नञर्थान्वयः, इष्टसाधनत्वाभावस्य कृतिसाधनत्वाभावस्य
च बोधयितुमशक्यत्वादिति चेन्न, तत्र बोधादिष्टसाधनत्वं
कृतिसाधनत्वं च न विव्यर्थः, किंतु बलवदनिष्टाननुबन्धित्वमात्रं
तदभावश्च नवा बोध्यते । अथवा बलवदनिष्टाननुबन्धित्वविशिष्टे-
साधनत्वे सति कृतिसाध्यत्वं विव्यर्थः । तदभावश्च नवा बोधमानो
विशिष्टाभावो विशेष्यवति विशेषणाभावे विश्राम्यति । ननु श्येनेनाभि-

पत्वं सम्भवति दुःखानुत्पत्तेः प्रागभावस्वरूपत्वेन प्रत्यवायानुत्पत्तिजन्यत्वाभावादि-
त्याशङ्कते-प्रत्यवायानुत्पत्ताविति । परिहरति इत्यमित्यदिना प्रत्यवायाभावः
प्रत्यवायप्रागभावः तदभावे सन्व्यायन्दनादित्यकर्माभावे, तदभावः प्रत्य-
वायाभावस्याभावः । एवमिति, तदभावे प्रत्यवायाभावस्याभावे, तदभावः
दुःखप्रागभावस्याभावः दुःखस्वरूप इत्यर्थः । योगक्षेमसाधारणेति योगो
अप्राप्तस्य प्राप्तिः क्षेमः (प्राप्तस्थ) मिद्वस्य संरक्षण तथाच योगक्षेमसाधारणाया
एव कारणतायास्तत्र प्रविष्टत्वात् प्रवृत्तिविरोध इति भावः । एवमेवेति
योगक्षेमसाधारणमेव न कलञ्जमित्यत्र कलञ्जभक्षणभावः इष्टसाधनमिति-
त्यादौ बोधो भवति बाधकाभावात्तत्राशङ्कते-नन्विति, कथं नञर्थान्वय इति
विव्यर्थान्वितस्य नञर्थभावस्य कलञ्जभक्षणेऽन्वयो न सम्भवति इष्टसाधन-
त्वाभावस्य कलञ्जभक्षणे बाधित्वादित्यर्थः । बलवदनिष्टाननुबन्धित्वमात्र-
मिति विवेः कृतिमाध्यत्रिषु त्रिषु शक्तिस्वीकारेण क्वचिदस्यचिद्विषय-
कस्यचिद्विव्यर्थसा बोधादिनिमित्तः । प्रवृत्तिं प्रति कृतिमाध्यत्रयिष्टबलवद-
निष्टाननुबन्धित्वविशिष्टेष्टसाधनत्वज्ञानमेकमेव कारणं लघुत्वात् नो विधेरपि
विशिष्टमेव कारणमित्यभिप्रायवानाह-अथवेति, विश्राम्यतीति बलवदनिष्टा-

चान् यजेतेत्यादौ कथं बलवदनिष्टाननुबन्धित्वमर्थः इयेनस्य मरणा-
नुकूलव्यापारस्य हिंसात्वेन नरकसाधनत्वात्, न च वैवञ्चात्र नि-
पेध इति वाच्यम्, अन्वयकारे प्रायश्चित्तोपदेशात्, न च मरणानुकू-
लव्यापारमात्रं यदि हिंसा तदा खड्गकारस्य कूपकर्तुश्च हिंसकत्वाप-
त्तिर्गलत्रान्नभक्षणजन्यमरगे स्वान्भवव वापाचित्शेति वाच्यं; मरणोद्देश-
कत्वस्यापि विशेषणत्वात्, अन्योद्देश्यकसिद्धात्ताराचहतब्रह्मण्यस्य तु
वाचनिकं प्रायश्चित्तामति चेन्न, इयेनकारणात्तद्व्यापारकत्वेन विशेष-
णात् । अत एव काशीमरणार्थं कृतशिवपूजादेरपि न हिंसात्व । न
च साक्षान्मरणजनकस्यैव हिंसात्वं इयेनस्तु न तथा किंतु तज्ज-
न्यापूर्वमिति वाच्यं, खड्गाघातेन ब्राह्मणे व्रणपाकपरंपरया मृते हिंसा-

ननुबन्धित्वाभावे पर्यवस्यतीतिभावः । विशिष्टस्य न विध्यर्थत्वं 'सम्भवतीत्या-
शङ्कते-नन्विति । कथमिति इयेने बलवदनिष्टाननुबन्धित्वस्य 'बाधितंत्वा-
दिनिभावः । न निपेध इति मा हिंसान् सर्वाभूतानीति निपेधस्य वैधर्हिने-
तरहिंसापरत्वादितिभावः । प्रायश्चित्तोपदेशादिति अभिचारमहीनश्च त्रिभिः
कृद्ध्यैर्गोहृतीति प्रायश्चित्तोपदेशादित्पर्यस्ताथाच प्रायश्चित्तोपदेशवैधर्थापत्त्या
मा हिंस्यादिति निपेधस्य न वैवद्विसेतरहिंसापरत्त्रमिति भावः । ननु यदि
साक्षान्मरणानुकूलव्यापारो हिंसा तदा इयेने साक्षान्मरणानुकूलव्यापारवस्यास-
त्वान्न बलवदनिष्टाननुबन्धित्वाविरोधो यदि च साक्षात्परम्परासाधारणं मरणानु-
कूलव्यापारमात्रं हिंसा, तदा तु खड्गकारेणैरपि हिंसकत्वापत्तिरित्याशङ्कते-
न चेत्यादिना । विशेषणत्वादिति तथाच साक्षात्परम्परासाधारण एव
मरणानुकूलव्यापारो हिंसा । ननु मरणोद्देश्यकत्वनिवेशे अन्योद्देशेन प्रसिद्ध-
बाणेन यत्र ब्राह्मणमृष्टिस्तत्र बाणप्रक्षेप्तुर्हिंसा न स्यादित्यत्र आह-अन्योद्देश्य-
केति, वाचनिकमिति न तु मा हिंस्यादिति निपेधविषयतयेतिभावः । अदृष्टा-
द्वारकेति तथाच इयेनस्वादृष्टद्वारेण वैरिमरणसाधनत्वात् पूर्वोक्तो दोष इति-
भावः । अत एवेति अदृष्टाद्वारकदमविशेषणाद्देश्यर्थः । 'केवाङ्मिन्मतमाह-

त्वानापत्तेः । केचित्तु श्येनस्य हिंसा फलं न तु मरणम् । तेन श्येनजन्यखड्गघातादरूपा हिंसाऽभिचारपदार्थः । तस्य च प.पजनकत्वम् । अतः श्येनस्य वैधत्वात्पापजनकत्वेऽपि आग्रयणपापं प्रातर्मध्यापं सन्तो न प्रवर्तन्त इत्याहुः । आचार्यास्तु आत्माभिमार्गो विध्यर्थः । पाकं कुर्या इत्यादावाज्ञादिरूपेच्छावाचिन्वत्त्वत्तदङ्गात्रस्येच्छावाचिन्वत् लाघवात् । एवं च स्वर्गकामो यजेतेत्यादौ यागः स्वर्गकामकृतेसाध्यतया आग्नेष्ट इत्यर्थः । ततश्चाग्नेष्टत्वेनेष्टसाधनत्वादेकननुमाय प्रवर्तते । कलङ्गभक्षणे तदभावाच्च प्रवर्तते । यस्तु वेदे पौरुषयत्वं नाभ्युपैति तं प्रति विंधेस्व तावद्गर्भ इव शु.तकुमार्याः पुंयोगे मानम् । न च कर्त्तृस्मरणं वाधकं, कापलरूपादादिभिरयपर्यन्तं कर्त्तृस्मरणस्यैव प्रतीयमानत्वात् । अन्यथा स्मृतीनामप्यकर्त्तृत्वोपत्तेः ।

केचिन्विति हिंसाफलं साक्षात्मरणकृत्को व्यापारः फलमित्यर्थः । तस्य खड्गघातादेरित्यर्थः । आस्तिकानां श्येने कथं न प्रवृत्तिरित्यत आह—अग्निमेति तथा च साक्षात्पापजनकत्वाभावेऽपि श्येनस्य परम्परया पापप्रयोजकत्वान्न तत्र शिष्टाः प्रवर्तन्त इति भावः । उदयनाचार्यमतमाह—आचार्यास्त्विति । लिङ्मात्रस्येच्छावाचित्वमिति .पाकं कुर्याः पाकं कुर्यामिति मध्यमोत्तमपुरुषयोराज्ञात्वेणारूपेच्छावाचिन्वं कलङ्गं तददृष्टान्तद्वारा प्रथमपुरुषेऽपीच्छावाचित्वमनुमेयमितिभावः । लाघवादिति इच्छात्वेन त्रिचिह्नो लाघवादित्यर्थः । अनुमाय प्रवर्तते इति तथाच विध्यर्थ आनाभिप्रायः स चेष्टसाधनतानुमायक इष्टसाधनताज्ञानं च प्रवर्तकमित्युदयनाचार्यमतं तथाचेत्—“ विधिर्वक्तुरभिप्रायः, प्रवृत्त्यार्द्रा लिङादिभिः । अभिधेयोऽनुमया तु, कर्त्तृशिष्टाभुपायता ॥ १ ॥ ” इति अनुमानप्रकारश्चेत्थं यागो मम बलवदनिष्टमनुबन्धीष्टसाधनं मत्कृतिसाध्यतयात्तेष्वमाणत्वात् मद्भाजनवदिति । तदभावादात्तेष्वमाणत्वाभावादित्यर्थः । ननु वेदे वक्तुरभावात्कस्येच्छालिङा येधनीयेत्यत आह—यस्त्विति विधेः कर्त्तृभिन्नेच्छाशोक्ते सामर्थ्याभावात्त्रिचिह्नं वेदकर्त्तृभिर्

तत्रैव कर्तृस्मरणमस्तीति चेद्वेदेऽपि ' छन्दांसि जाज्ञिरे तस्मात् ' इत्यादिकर्तृस्मरणमस्त्येव । एवं " प्रतिमन्वन्तरं चैषा श्रुतिरन्या विधीयते " इत्यपि द्रष्टव्यम् ।

स्वयंभूरेप भगवान्भेदो गीतस्त्वया पुरा ।

शिवादिक्वपिपर्यन्ताः स्मर्तारोऽस्य न कारकाः ॥ .

इति तु वेदस्य स्तुतिमात्रम् । न च पौरुषेयत्वे भ्रमादिसंभवादप्रामाण्यं स्यादिति कच्यं, नित्यसर्वज्ञत्वेन निर्दोषत्वात् । अत एव पुरुषान्तरस्य भ्रनादिसंभवाच्च कपिलदेरपि कर्तृत्वं वेदस्य । किंच वर्णानामेवानित्यवस्य वक्ष्यमाणत्वात्सुतरां तत्संदर्भस्य वेदस्यानित्यत्वमिति संक्षेपः ॥ उपादानस्योति । उपादानस्य समवायिकारणस्याध्यक्षं प्रत्यक्षं प्रवृत्तां कारणमिति ॥

निवृत्तिस्तु भवेद्द्वेषाद्द्विष्टसाधनता धियः ॥ १५१ ॥

निवृत्तिरिति । द्विष्टसाधनतज्ञानस्य निवृत्तिं प्रति जनकत्वमन्वयव्यतिरेकाभ्यामवधारितमिति भावः ॥ १४९-१५१ ॥

यत्नो जीवनयोनिस्तु सर्वदातीन्द्रियो भवेत् ।

यत्न इति । जीवनयोनियत्नो यावज्जीवनमनुवर्तते । स चातीन्द्रियः ॥

तत्र प्रमाणमाह—

शरीरे प्राणसंचारे कारणं परिकीर्तितम् ॥ १५२ ॥

मत्नमितिभावः । अन्यथा वेदे सत्कर्तृकवनम्युत्पन्न इत्यर्थः तत्रैव स्मृत्येव । स्तुतिमात्रमिति तथाच पूर्वोक्तश्रुतिस्मृत्योर्विरोधात् स्वयंभूतित्यादिभारतस्य स्तुतिमात्रपरत्वेनेतिभावः । अत एव नित्यसर्वज्ञत्वामनादेवं । ननु नियसंज्ञपुरुषाणोक्त्यापेक्षया वेदस्यैव नियनिर्दोषत्वं स्वीकर्तव्यमिति सत्कर्तृकवानुमाने बाध इयत् बाध-किञ्चेति ॥ १४९ ॥ १५० ॥ १५१ ॥

तत्र जीवनयोनिप्रसङ्गे ॥ १५२ ॥

शरीर इति प्राणसेचरो हि अधःकम्ब.सादेः । इत्थं च प्राणसे-
चारस्य सर्वस्य यत्तत्साध्यत्वानुमानात्प्रत्यक्षयत्त्वध.चातीन्द्रिययत्त-
सिद्धिः । स एव जीवनयोनिर्धत्तः ॥१५२॥

गुरुत्वं निरूपयति—

अतीन्द्रियं गुरुत्वं स्यात्पृथिव्यादिद्वये तु तत् ।
अनित्ये तद्वनित्यं स्यान्नित्ये नित्यमुदाहृतम् ॥१५३॥
तदेवासमवायि स्यात्पतनाख्ये तु कर्मणि ।

अतीन्द्रियमिति । अनित्य इति । अनित्ये द्वयणुहादौ तद्गुरुत्व-
मसमवायि, असमवायिकारणम् । पतनाख्य इति । आयपतन
इत्यर्थः ॥

द्रवत्वं निरूपयति—

सांसिद्धिकं द्रवत्वं स्यान्नैमित्तिकमथापरम् ॥१५४॥

सांसिद्धिकं तु सलिले द्वितीयं क्षितितेजसोः ।

सांसिद्धिकमिति । द्रवत्वं द्वि.वध सांसाद्धिकं नैमित्तिकं चेति ।
द्वितीयं नैमित्तिकम् ॥

परमाणौ जले नित्यमन्यत्रानित्यमुच्यते ॥१५५॥

परमाणावति । जलपरमाणौ द्रवत्वं नित्यामत्यर्धः । अन्यत्र
पृथिवीपरमाण्वदौ जलद्रवणुहादौ च द्रवत्वमानित्यम् । कुत्रचित्तेजास
कुत्रचित्पृथिव्यां च नैमित्तिकं द्रवत्वम् ॥ १५३—१५५ ॥

नैमित्तिकं वह्नियोगात्तपनीयघृतादिषु ।

नैमित्तिकमिति । वह्नीति । अग्निसंयोगजन्यं नैमित्तिकं द्रवत्वम् ।

गुरुत्वं निरूपयतीति द्वि.यदिपतने वेगस्यासमवायिकारणवादाद्-
आयपतन इति ॥ १५३ ॥ १५४ ॥ १५५ ॥

तच्च सुवर्णादिरूपे तेजसि घृतजतुप्रभृतिपृथिव्यां च वर्तत इत्यर्थः ॥
 ब्रवत्वं स्यन्दने हेतुनिमित्तं संग्रहे तु तत् ॥ १५६ ॥

द्रवत्वमिति । हेतुरिति । असमवायिकारणमित्यर्थः । संग्रहे
 सक्तुकादिसंयोगविशेषे तद्ब्रवत्वं स्नेहसहितमिति बोद्धव्यम् । तेन
 द्रुतसुवर्णादीनां न संग्रहः ॥ १५६ ॥

स्नेहं निरूपयति—

स्नेहो जले स नित्योऽणावन्नित्योऽवयविन्यसौ ।
 तैलान्तरे तत्प्रकर्षाद्दहनस्यानुकूलता ॥ १५७ ॥

स्नेह इति । जले इति । जल एवेत्यर्थः । असौ स्नेहः ।
 ननु पृथिव्यामपि तैले स्नेह उपलभ्यते, न चासौ जलीयः, तथा
 ष्यति दहनप्रातिकूल्यं स्यादत आह । तैलान्तर इति । तत्प्रकर्षात्स्ने-
 हप्रकर्षात् । तैले उपलभ्यमानस्नेहोऽपि जलीय एव । तस्य प्रकृष्ट-
 त्वाद्ग्रेरानुकूल्यम् । अपकृष्टस्नेहं हि जलं वह्निं नाशयतीति भावः ॥ १५७ ॥

संस्कारं निरूपयति—

संस्कारभेदो वेगोऽथ स्थितिस्थापकभावनने ।

संस्कारेति । वेगस्थितिस्थापकभावननाभेदान्संस्कारस्त्रिविध इत्यर्थः ।
 मूर्तमात्रे तु वेगः स्यात्कर्मजो वेगजः क्वचित् ॥ १५८ ॥
 मूर्तमात्र इति । कर्मजवेगजभेदाद्देवो द्विविध इत्यर्थः । शरीरादौ
 हि नादनजनितेन कर्मणा वेगो जन्यते । तेन च पूर्वकर्मनाशस्तत

अग्निसंयोगजन्यमिति अग्निसंयोगासमवायिकारणमित्यर्थः । तच्च ने-
 मितिकं द्रवत्वमित्यर्थः ॥ १५६

असौ तैले प्रतीयमानः स्नेहः ॥ १५७ ॥

वेगो जन्यत इति वेगत्वं जातिविशेषः प्रायश्चक्षिदः ॥ १५८ ॥ १९० ॥

उत्तरं कर्म । एवमग्रेऽपि । विना च वेगं कर्मणः कर्ममतिबन्धकत्वा-
त्पूर्वकर्मनाश उत्तरकर्मात्पत्तिश्च न स्यात् । यत्र वेगवता कपालेन जनिते
घटे वेगो जन्यते स वेगजो वेगः ॥ १५८ ॥

स्थितिस्थापकसंस्कारः क्षितौ केचिच्चतुर्ष्वपि

अतीन्द्रियोऽसौ विज्ञेयः क्वचित्स्पन्देऽपि कारणम् १५९

स्थितिस्थापकोति । अतीन्द्रिय इति ॥ आकृष्टशाखादीनां परि-
त्यागे पुनर्गमनस्य स्थितिस्थापकसाध्यत्वात् । केचिदिति । चतुर्षु
क्षिन्यादिषु स्थितिस्थापकं केचिन्मन्यन्ते तदप्रमाणमिति भावः । असौ
स्थितिस्थापकः । क्वचिद्राकृष्टशाखादौ ॥ १५९ ॥

भावनाख्यस्तु संस्कारो जीववृत्तिरतीन्द्रियः ।

उपेक्षानात्मकस्तस्य निश्चयः कारणं भवेत् ॥१६०॥

भावनाख्य इति । तस्य संस्कारस्य । उपेक्षात्मकज्ञानात्संस्कारा-
नुत्पत्तेरुपेक्षानात्मक इत्युक्तम् । तन्संशयात्तस्यानुत्पत्तेर्निश्चय इत्युक्तम् ।
तेनोपेक्षान्यानिश्चयत्वेन संस्कारं प्रति हेतुतेति भावः । ननु स्मरणं प्रत्यु-
पेक्षान्यानिश्चयत्वेन हेतुत्वम्, तेनोपेक्षादिस्थले न स्मरणम्, इत्थं च
संस्कारं प्रति ज्ञानत्वेनैव हेतुतास्त्विति चेन्न, विनिगमनाविरहेणापि
संस्कार प्रति उपेक्षान्यानिश्चयत्वेन हेतुतायाः सिद्धत्वात् । किंचोपेक्षा-
स्थले संस्कारकल्पनायां गुरुत्वात्संस्कारं प्रति चोपेक्षान्यानिश्चयत्वेन
हेतुतायाः सिद्धत्वात् ॥ १६० ॥

स्मरणे प्रत्याभिज्ञायामप्यसौ हेतुरुच्यते ।

असौ संस्कारः । तत्र प्रमाणं दर्शयति-स्मरण इति । यतः
स्मरणं प्रत्याभिज्ञानं च जनयत्यतः संस्कारः कल्प्यते । विना व्यापारं

तत्र संस्कारे प्रमाणमनुमानं । मणिकुन्मताद्-परे त्विति । तत्र धर्मो ।

पूर्वाद्भवस्य स्मरणादिजननासाधर्मात्स्वव्यापारान्यतराभावे कारणत्वात्संभवत् । न च प्रत्यभिज्ञायाः संस्कारजन्यत्वेन स्मृति वापत्तिरिति वाच्यम्, अपयोजकत्वात् । परे त्वन्नुद्बुद्धसंस्कारात्प्रत्यभिज्ञानुदयाद्बुद्धसंस्कारस्य हेतुत्वापेक्षया तत्तत्स्मरणस्यैव प्रत्यभिज्ञानं प्रति हेतुत्वं कल्प्यत इत्याहुः ॥

अदृष्टं निरूपयति—

धर्माधर्मावदृष्टं स्याद्धर्मः स्वर्गादिन्माधनम् ॥१६१॥

गङ्गास्नानादियागादिव्यापारः स तु कीर्तितः ।

धर्माधर्माविति । स्वर्गादीति । स्वर्गादिसकलमुखानां स्वर्गसाधनीभूतशरीरादीनां च साधनं धर्म इत्यर्थः । तत्र प्रमाणं दर्शयितुमाह । यागादीति । यागादिव्यापारतया धर्मः कल्प्यते । अन्यथा यागादीनां चिरविनष्टतया निर्व्यापारतया च कालान्तरभाविस्वर्गजनकत्वं न स्यात् । तदुक्तमार्चार्यैः ।

चिरध्वस्तं फलायालं न कर्मातिशयं विना । इति ।

ननु यागध्वंस एव व्यापारः स्यात्, न च प्रतियोगितध्वंसयोरेकजाजनकत्व, सर्वत्र तथास्ते मानाभावत्, न च स्वन्मते फलानन्त्यं, मन्मते चरमफलम्यापूर्वनाश कृत्वात्र तथाचामेति वाच्यं, काळविशेषस्य सहकारिभ्यादित्यत आह—गङ्गास्नानेति । गङ्गास्नानस्य हि स्वर्गजनकरोऽनन्तानां जलसंयोगध्वंसानां व्यापारत्वमपेक्ष्यैकमपूर्वमेव कल्पने लाघवादिनि भावः ॥

ननु ध्वंसोऽपि न व्यापारोऽस्तु, न च निर्व्यापारस्य चिरध्वस्तस्य कथं कारणत्वमिति वाच्यम्, अनन्यथासिद्धनियतपूर्ववर्तित्वस्य तत्रापि सत्त्वात्, अव्यवहितपूर्ववर्तित्वं हि चतुःसरेण देः कारणवेद्यामादीति आदिना दानादिशक्तिः । अन्यथा, वन्नाभावे । आचार्यैस्त्वय-

न तु सर्वत्र कार्यकालवृत्तित्वमिव समवायिकारणस्य कारणत्वे
इत्यत आह—

कर्मनाशाजलस्पर्शादिना नाशयस्त्वसौ मतः ॥१६२॥

कर्मनाशेति । यदि ह्यपूर्वं न स्यात्तदा कर्मनाशाजलस्पर्शादिना
नाशयत्वं धर्मस्य न स्यात्, नहि तेन यागादेर्नाशः प्रतिबन्धो वा
कर्तुं शक्यते तस्य पूर्वमेव वृत्तत्वादिति । एतेन देवतापीतिरेव फल-
मित्यपास्तम् । गङ्गास्नानादौ सर्वत्र देवतापीतेरसंभवाच्च । देवताया-
श्चेतनत्वेऽपि तत्पीतेरनुद्देश्यत्वात् । पीतेः सुखस्वरूपत्वेन विष्णुपी-
त्यादौ तदसंभवात् । जन्यसुखादेस्तगाभावात् । तेन विष्णुपीतिजन्य-
त्वेन पराभिमतस्वर्गादिरेव विष्णुपीतिशब्देन लक्ष्यते ॥१६१॥१६२॥

अधर्मो नरकादीनां हेतुर्निन्दितकर्मजः ।

अधर्म इति । नरकादिसकलदुःखानां नारकीयशरीरादीनां च
साधनमधर्म इत्यर्थः

तत्र प्रमाणमाह—

प्रायश्चित्तादिनाशयोऽसौ जीववृत्ती त्विमौ गुणो ॥१६३॥

प्रायश्चित्तेति । यदि ह्यधर्मो न स्यात्तदा प्रायश्चित्तादिनाशयत्वं
न स्यात् । नहि तेन ब्रह्महत्यादीनां नाशः प्रतिबन्धो वा विघातुं
शक्यते तस्य पूर्वमेव विनष्टत्वादिति भावः ॥ जीवेति । ईश्वरस्य
धर्माधर्माभावादिति भावः ॥ १६३ ॥

नाचापरिचयार्थं । कार्यकालवृत्तित्वमिवेति यथा समवायिकारणस्य कार्य-
कालवृत्तित्वेन कारणत्वं न त्वसमवायिकारणं तथेत्यर्थः । तेन कर्मनाशाजल-
स्पर्शादिना, तस्य यागादेः, पूर्वमेव कर्मनाशाजलस्पर्शादितः पूर्वं, वृत्त-
त्वादिति उपपन्नत्वादिनष्टत्वाच्चेत्यर्थः १६१ ॥ १६२ ॥

तत्राधर्मो, तेन प्रायश्चित्तादिना ॥ १६३ ॥

इमौ तु वासनाजन्यौ ज्ञानादपि विनश्यतः ।

इमौ धर्माधर्मौ । वासनेति । अतो ज्ञानिना कृते अपि मुकृत-
दुष्कृतकर्मणां न फलायालमिति भावः । ज्ञानादपीति । अपिना भोग-
परिग्रहः । ननु तत्त्वज्ञानस्य कथं धर्माधर्मनाशकत्वं ' नाशुक्तं क्षीयते
कर्म कल्पक्रोशितैराप ' इति वचनविरोधात् । इत्थं तत्त्वज्ञानिनां
सृष्टिति कायबुद्धेन सकलकर्मणां भोगेन सय इति चेन्न, तत्र भोगस्य
वेदबोधिनाशकोपलक्षकत्वात्, कथमन्यथा प्रायश्चित्तादिनां कर्मणां
नाशः । तदुक्तम् ।

ज्ञानाग्निः सर्वकर्मणान्यादिना ।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे । इति ।

६६ ननु तत्त्वज्ञानिनस्तरि शरीरावस्थानं मुखदुःखादि च न स्याज्ज्ञा-
नेन च सर्वेषां कर्मणां नाशादिति चेन्न, प्रारब्धेतरकर्मणामेव नाशात् ।
तत्त्वउत्तरभोगजनकं हि यत्कर्म तत्प्रारब्धं तदभिप्रायमेव नाशुक्त-
मिति वचनमिति ॥

शब्दं निरूपयति—

शब्दो ध्वनिश्च वर्णश्च मृदङ्गादिभवो ध्वनिः ॥ १६४ ॥

कण्ठसंयोगादिजन्या वर्णास्ते कादयो मताः ।

सर्वः शब्दो नभोवृत्तिः श्रोत्रोत्पन्नस्तु, गृह्यते ॥ १६५ ॥

धीचीतरजन्यायेन तदुत्पत्तिस्तु कीर्तिता ।

शब्द इति । नभोवृत्तिराकाशसन्वितः । दुस्त्यस्यन्दस्याग्रणादारा
श्रोत्रेति । ननु मृदङ्गाद्यवच्छेदेनोत्पन्ने शब्दे श्रोत्रे कथमुत्पत्तिरत आह ।

इत्थं चेति कर्मणां भोगकर्मनश्यत्वे केवर्षः । अन्यथा तत्त्वज्ञ-
कथाभोगे । तदभिप्रायमेवेति प्रारब्धकर्मभिप्रायमेवेत्यर्थः । नौरादिहेति

भीचीति । आद्यशब्देन बाहिर्दशदिग्बन्धि उच्यतेऽन्यः— शब्दस्तेनैव शब्देन
जन्यते । तेन चापरस्तद्व्यापकः । एव क्रमेण श्रेणोत्पन्नो गृह्यत इति ।
कदम्बगोलकन्यायादुत्पत्तिः कस्यचिन्मते ॥ १६६ ॥

कदम्बेति । आद्यशब्द इति दश शब्दा उत्पद्यन्ते । तेषा-
न्ये दश शब्दा उत्पद्यन्त इति भावः । अस्मिन्मते गौरवाहुक्तं कस्य-
चिन्मत इति ॥ १६४ ॥ १६५ ॥ १६६ ॥

ननु शब्दस्य निम्नत्वादुत्पत्तिरुच्यते न संगतं नत आह—
उत्पन्नः को विनष्टः क इति बुद्धेरनित्यता ।

उत्पन्न इति । शब्दानामुत्पादविनाशप्रत्ययशालि चादनित्यत्व-
मित्यर्थः ॥

सोऽयं क इति बुद्धिस्तु साजात्यमवलम्ब्यते ॥ १६७ ॥

ननु स पदार्थं ककार इत्यादिप्रत्ययभिज्ञानाच्छब्दानां नित्यत्वम्,
इत्थं चोत्पादविनाशबुद्धिर्भ्रमरूपेवेत्यत आह । सोऽयं क इति ॥
साजात्यमिति । तत्र प्रत्ययभिज्ञानस्य तत्सजातीयत्वं विषयो न तु
तद्व्यवस्यभेदे विषयः उक्तप्रतीतिविरोधात् । इत्थं च द्वयोरपि प्रती-
त्यारभ्रमन्वामिति ॥ १६७ ॥

ननु सजातीये सोऽयमिति प्रत्ययभिज्ञानं कुत्र दृष्टव्यत आह—
तदेवौषधमित्यादौ सजातीयेऽपि दर्शनात् ।

तस्मादनित्या एवेति वर्णाः सर्वे मतं हि नः ॥ १६८ ॥

शब्दानां तत्प्रामभावादर्शनां च कल्पने गौरवादिमर्थः ॥ १६४ ॥ १६५ ॥ १६६ ॥

उक्तप्रतीतिविरोधादिति उन्मादविनाशप्रतीतिविरोधादित्यर्थः । इत्थ-
ञ्चेति प्रत्ययभिज्ञानस्य सजातीयविपर्यये चेत्यर्थः । द्वयोरपि उत्पादप्रतीति-
विनाशप्रतीत्योश्चेत्यर्थः ॥ १६७ ॥

तदेवेतीति । ननु तत्रापि व्यक्त्यभेद एव विषयोऽस्त्वतो भावार्थं प्रक-

इति श्रीविश्वनाथपञ्चाननकृतकारिकावली समाप्ता ॥

यदौषधं मया कृतं तदौषधमन्येनापि कृतमित्यादिदर्शनादिति
भावः ॥ १६८ ॥

इति श्रीमहाप्रहोषाध्यायवियानिवासभट्टाचार्यसुतश्रीविश्वनाथपञ्चाननभट्टाचार्याविरचितायां सिद्धान्तमुक्तावल्यां गुणनिरूपणम् ॥

॥ समाप्तश्चार्यं ग्रन्थः ॥



एषति यदौषधमित्यादिना तथाच विरुद्धधर्माहितभेदप्रत्ययस्य प्रतिबन्धः
कस्य सत्यान्न तत्र व्यक्त्यभेदो विषयः किन्तु सजातीयभेद एवेति भावः
॥ १६८ ॥

ॐ तत्सत् श्रीकृष्णाय परब्रह्मणे नमः.

श्रीरस्तु

शुभम्भवतु

॥ इति श्री पण्डितगोविन्दरामसूनुवंशीधरगर्भणा विरचितायां
मुक्तावल्यान्वयार्थदीपिकायां गुणनिरूपणम् ॥

॥ समाप्ता चैयमन्वयार्थदीपिका ॥

॥ श्रीरस्तु ॥

श्री कृष्णापिणमस्तु